श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचिता

सुबोधिनी

श्रीमदखण्डभूमण्डलाचार्यवर्यश्रीकृष्णवदनविरहवैश्वानरावतार-
श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितायां
श्रीमद्भागवतदशमस्कन्ध-

सुबोधिन्यां

तृतीयचतुर्थे प्रमेयसाधनप्रकरणे
श्रीटिप्पण्यादिसकलसामग्रीसमेते
स्वतन्त्रलेखयुते च

प्रकाशक :
श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविठ्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव को-ऑपरेटिव्ह सोसायटी
पुना बेंगलोर रोड, कोल्हापूर
महाराष्ट्र

प्रथम संस्करण : वि. सं. १९८३-८५
द्वितीय संस्करण : वि. सं. २०५०
श्रीवल्लभाब्द : ५१६

मुद्रक :
फाँटसी
३०५, महडकर चेंबर्स,
१२७/३ए, कर्वे रोड,
पुणे ४११ ०२९

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

भूमिका तथा सम्पादकीय

तामस प्रमेय प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

उसने चाहा : मैं एक अनेक बन जाऊं — अनेक रूप धारण करनेको पैदा हो जाऊं!...यह सब कुछ उसने बनाया. यह जो कुछ है उसे बना कर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया. सबमें प्रविष्ट होकर वह सत्=प्रत्यक्ष और त्यत्=परोक्ष बन गया, वह निरुक्त=निर्वचनीय और अनिरुक्त=अनिर्वचनीय बन गया, निलयन=आधार और अनिलयन=आधारनिरपेक्ष बन गया, विज्ञान और अविज्ञान बन गया, सत्य और अनृत भी सत्य बन गया. यह जो कुछ है उसे 'सत्य' कहा जाता है...उसने अपने आपको बनाया; इसलिये इसे 'सुकृत' कहा जाता है. जो कुछ है वह सुकृत ही है. रस ही वह है. इसी रसको पाकर यह आनन्दी बन पाता है. इस आकाशमें आनन्द भरा हुवा न होता तो कौन जीना या सांस भी लेना चाहता! यही तो सबको आनन्द्रित करता है. जब भी इस अदृश्य अनात्म्य अनिरुक्त अनिलयन में जो भयरहित प्रतिष्ठाको पा लेता है तो वह अभयपदको पा लेता है. जब भी इसमें कुछ तनिक भी अन्तर कोई करने लगता है तो उसे भय लगना शुरु हो जाता है. वही भय इसे न माननेवालेको भी सताता है... पवन इससे डरकर चलता है, सूरज इससे डरकर उगता है, अग्नि और इन्द्र भी इससे डरते हैं, मृत्यु तो इस(अमृत)को अपनी मृत्यु मान कर भग जाती है. ऐसे इस आनन्दकी यह मीमांसा हो रही है...इस आनन्दमय आत्माकी ओर जानेपर...जहांसे मनके साथ-साथ वाणी भी लोट आती है. ब्रह्मके आनन्दको

> जाननेके बाद किसीसे डरनेकी कोई बात रह नहीं जाती. उसे जाननेवालेको कभी चिन्ता नहीं होती—"मैं कौन सा भला काम कर नहीं पाया अथवा मैं कैसा पाप कर बैठा हूं!" जो इन्हें इस तरह जान लेता है, वह अपनी आत्माका सच्चा पालन-पोषण-प्रीणन करता है... यह ऐसी उपनिषद् है (तैत्तिरीयोपनिषत्).

केवलद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत ब्रह्मस्वरूप कि वह सकल नामोंका एकमात्र वाच्य या धारक सृष्टिकर्ता है, ऐसे रूपमें ही केवल ब्रह्मका स्वरूप उपनिषदोंमें वर्णित नहीं हुवा है; अपितु अन्तर्यामितया शरीर-शरीरिभावसे सकल रूपोंका भी एकमात्र धारक सृष्टिभर्ता भी वही है ऐसा भी वर्णित हुवा ही है. जगत्में जगदीश, विशिष्टाद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत, केवल अन्तर्यामितया ही व्याप्त नहीं है; अपितु अशेष नामरूपकर्मोंके उत्पत्ति-स्थिति-लयके एकमात्र उपादानके रूपमें भी उसे व्याप्त माना गया है. ब्रह्माण्डमें प्रकट अनेकानेक नामरूपकर्मोंकी विक्रियामें, विशेषाद्वैतवादकी धारणा जैसे विकृतिभावापन्न ब्रह्मको प्रस्तुत करती है, वैसा ही केवल वह हो नहीं जाता; अपितु स्वयं अविकृत रहते हुवे ही वह इन नामरूपकर्मोंको प्रकट करता है. अनेकानेक प्रापञ्चिक नामरूपकर्मोंका एकमात्र अविकृत आश्रय ब्रह्म, अविभागाद्वैतवादकी धारणाके द्वारा प्रस्तुत गगनोपम आधारकारणकी तरह, स्वयं नीरूप निराकार या निष्क्रिय ही रहता हो ऐसा भी कहा नहीं जा सकता; क्योंकि इस प्रपञ्चमें अपने पारमार्थिक दिव्य रूप आकार एवं कर्मों को भी आत्ममायया अथवा आत्मीयभक्तभावनया वह धारण तो करता ही है. स्वमायाके अनुरूप अथवा स्वकीय भक्तजनोंकी भक्तिमयी भावनाके अनुरूप धारण किये गये नामरूपकर्मोंके कारण, केवलाद्वैतवादकी धारणा—'ब्रह्म नामरूपकर्मोंके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित निर्विशेष ही होता है' स्वीकारी नहीं जा सकती है. इसी तरह इन नामरूपकर्मोंको भी 'स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक-निषेधके प्रतियोगी' मायिक भी नहीं माना जा सकता है; क्योंकि अक्षरब्रह्मतया जैसे वह निराकार व्यापक सच्चिदानन्द है, वैसे ही परब्रह्म पुरुषोत्तमतया दिव्य आकारवान् भी वह है ही.

उल्लिखित वेदान्तके अनेक संप्रदाय ब्रह्मका जैसा निरूपण करते हैं, उनमें कोई त्रुटि नहीं है, परन्तु उन-उन वर्णनोंकी परिधिमें ब्रह्मको परिच्छिन्न नहीं माना जा सकता है!

श्रुतिके—"त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि... सर्वाणि रूपाणि... सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयमात्मा; आत्मो एकः सन् एतत् त्रयम्. तदेतद् अमृतं सत्येन छन्नम्. प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः."(बृह. उप. १।६।१-३) इस वचनमें व्यष्टीभूत नामरूपकर्मोंकी वाक्प्राणकर्मरूप समष्टिको न केवल 'ब्रह्म' कहा गया है; अपितु नामादि त्रयीकी एकात्मता और एकात्माकी त्रिरूपताके निरूपणप्रसंगमें अमृतस्वरूप प्राणको (त्रैकालिक-निषेध-प्रतियोगी असत्य नामरूपोंसे नहीं प्रत्युत) सत्य नामरूपोंसे छन्न माना गया है. इसलिये ब्रह्मसूत्र—"अतएव प्राणः"(१।१।२२)की नीतिके अनुसार यहां भी ब्रह्मका या ब्रह्मके विभूतिरूप सामर्थ्यका निरूपण ही अभिप्रेत मानना उचित है. वैसे श्रीशंकराचार्य इस उपनिषद्वचनके भाष्यमें एक अतीव मननीय विधान करते हैं—"यस्यच यस्माद् आत्मलाभो भवति स तेन अप्रविभक्तो दृष्टो, यथा घटादीनां मृदा". ऐसी स्थितिमें जिज्ञास्य ब्रह्मसे आत्मलाभ पानेवाले नामरूपकर्मोंको भी जिज्ञास्य ब्रह्मसे अप्रविभक्त ही मानना चाहिये. फलतः मायी ब्रह्ममें मायिक नामरूपकर्मोंका अत्यन्ताभाव स्वीकारा नहीं जा सकता है. इस तरह ब्रह्मसे अप्रविभक्त=अनारोपित होनेसे इन नामरूपकर्मोंका ब्रह्ममें त्रैकालिक निषेध भी सम्भव नहीं.

वैसे तो जिस या जिन मायारूप शक्तिओंके कारण एकमेवाद्वितीय ब्रह्म अनेकविध नामरूपकर्मोंको धारण करता है वे स्वयं यदि ब्रह्मसे अप्रविभक्त हों तो नामरूपकर्मोंके मायिक होनेपर भी उनका ब्रह्ममें अत्यन्ताभाव स्वीकारना वदतोव्याघात ही होगा! "रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेति. अयं वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि बहूनि च अनन्तानि च. तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम्. अयम् आत्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इति अनुशासनम्"(बृह.उप. २।५।१९)के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य एक महत्त्वपूर्ण शंका-समाधान यों भी करते हैं: "एवं तर्हि अयम् अन्यः परमेश्वरो अन्ये हरयः इत्येवं प्राप्ते, उच्यते—अयं

वै हरयो अयं वै दश च सहस्राणि च बहूनि च अनन्तानि च''. इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मैक्यके अन्तर्भूत होनेसे मायाओंकी अनेकताकी तरह ब्रह्मैक्य भी मायाओंकी अनेकतामें तादात्म्येन व्याप्त है. अनेकता एकात्मिका है तथा एकता अनेकात्मिका! इसे द्वैताद्वैत नहीं किन्तु शुद्धाद्वैत समझना चाहिये, क्योंकि ये एकता और अनेकता पारस्परिक अत्यन्ताभावरूप नहीं हैं.

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य, अतएव, निबन्धके शास्त्रार्थ प्रकरणमें कहते हैं कि अखंडाद्वैतके भान होनेपर सब कुछ ब्रह्मतया ही प्रतीत होने लग जाता है. अतः ब्रह्मज्ञान होनेपर (नाम-रूप-कर्मोंकि द्वैतसे घटित)विकल्पमात्रावगाहिनी बुद्धि बाधित हो जाती है—स्वयं विकल्पोंका स्वरूपतः बाध हो नहीं सकता.

क्योंकि सर्वभवनसमर्थ सत्यसंकल्प सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मकी अभिन्ननिमित्तोपादानताके बिना नामरूपकर्मोंकि विकल्प आत्मलाभ पा नहीं सकते, अतः उन्हें ब्रह्मसे अप्रविभक्त ही स्वीकारना पड़ता है. अतएव ''अजोऽपि सन्नव्ययात्मा...सम्भवाम्यात्ममायया''(भ.गी. ४।६)के भाष्यमें श्रीशंकराचार्य—'' 'आत्ममायया'=आत्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत्'' जो कहते हैं उसे; और ''ऋते ज्ञानात् न मुक्तिः''की मूलधारणाको, लक्ष्यमें रखनेपर श्रीशंकराचार्यके—'' 'जन्म'=मायारूपं, 'कर्म च'=साधुपरित्राणादि, 'मे'=मम, 'दिव्यम्'=अप्राकृतमैश्वरम्, 'एवं'=यथोक्तं, 'यो वेत्ति, तत्त्वतः'=तत्त्वेन यथावत्, 'त्यक्त्वा देहम्'=इमं, 'पुनर्जन्म'=पुनरुत्पत्तिं, 'नैति'=न प्राप्नोति, 'मामेति'=आगच्छति, स मुच्यते''(गी.भा. ४।९)इस वचनको भी सावधानीसे विचारें तो बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि भूतलपर प्रकट भगवद्रूप या भगवत्कर्म ''स्वप्रतिपन्नोपाधिमें त्रैकालिक निषेधके प्रतियोगी'' हो नहीं सकते; अन्यथा हमारे जन्मकर्मोंकी तरह वे हों तो हमारे जन्मकर्मोंकि ज्ञानसे भी मुक्ति सुलभ माननी पड़ेगी!

यहां श्रीमधुसूदन सरस्वतीने भाष्यकार श्रीशंकराचार्यके मतका उपन्यास करनेके बाद ''अन्येतु...केचित्तु...ते 'निर्युक्तिकं ब्रुवाणस्तु नास्माभिः निवार्यते' इति न्यायेन नापवाद्याः. यदि सम्भवेत् तत् तथैव अस्तु...'' कहकर सम्भवतः वाल्लभ मतको ही जो 'निर्युक्तिक' कहा है, वह तो स्वयं उनकी व्याख्यानशैली तथा स्वभाष्यकाराभिमत व्याख्यानशैली के बीच रहे विरोधाभास, जिसे श्रीधनपतिने सुस्पष्टतया उजागर कर ही दिया है, के अवलोकन करनेपर निजनिरूपणकी निर्युक्तिकताका ही निदर्शन बन जाता है. रही बात वाल्लभ मतके निर्युक्तिक होनेकी तो ब्रह्म यदि यौक्तिक प्रमेय होता तो आरोप भी युक्तिसंगत माना जा सकता था. ब्रह्म तो, परन्तु, जैसा कि श्रीशंकराचार्य—''तस्मात् तार्किक-चाटभट-राजाप्रवेश्यम् अभयं दुर्गम् इदम्, अल्पबुद्ध्यगम्यं शास्त्रगुरुप्रसादरहितैः च, 'कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति'—'देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा'—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' वरप्रसादलभ्यत्व-श्रुतिस्मृतिवादेभ्यः च, 'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके'इत्यादि-विरुद्धधर्मसमवायित्व-प्रकाशकमन्त्रवर्णेभ्यः च.'' (बृह.भा. २।१।२०) वचनमें कहते हैं कि तर्कागोचर विरुद्धधर्माश्रय शास्त्रैकगम्य प्रमेय है, सो ब्रह्मनिरूपणमें निर्युक्तिकताका आरोप तो स्वयं ही निर्युक्तिक सिद्ध हो जाता है!

नामरूपकर्मोंकि ब्रह्मतादात्म्य तथा सर्वभवनसमर्थ-सत्यसंकल्प ब्रह्मकी पारमार्थिक नामरूपकर्मधारकताके विचारार्थ प्रवृत्त होनेकी दिशामें अग्रसर होनेपर यहां हम एक खास मोड़पर पहुंच जाते हैं. यह वह मोड़ है कि जहांसे 'निगमकल्पतरुफल'रूप भागवतमें वर्णित सर्गादि दशविध लीलाओंके अनन्य कर्ता श्रीकृष्णकी दशमस्कन्धके १२=१५से लेकर २५=२८ अध्यायोंमें वर्णित प्रमेयरूपताका तथा साधनरूपताका उपनिषद्वर्णित प्रमेय एवं साधन के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध है उसे दृष्टिगोचर बना पाना सुलभ हो जाता है.

लौकिक विषयोंकी अनुभूति सर्वदा सुख-दुःखके द्वन्द्वमें जकड़ी हुई रहती है. उन्हीं विषयोंकी या घटनाओंकी अनुभूति, परन्तु, साहित्य संगीत चित्रकला मूर्तिकला अथवा नाटक आदि कलात्मक माध्यमोंके द्वारा जब संपन्न होती है तो अनुभूयमान सुख-दुःख भी एक विलक्षण आनन्दको प्रकट करने लग जाते हैं. कोई व्यक्ति वस्तु या घटना वास्तविक हो या अवास्तविक, प्रकट वर्तमान कालकी हो अप्रकट भूत-भविष्यत्कालकी, जाति-गुण-धर्म-रूप-रंग-गंध इत्यादिके आधारपर हम लक्षण दे पाते हों या नहीं, मूर्त हो या अमूर्त, जीवन-मरण स्वप्न-जागरण ज्ञानाज्ञान जड़-चेतन शुभाशुभ सुन्दरासुन्दर के क्रिया-कलापोंको एक सक्षम अभिनेता अपने कुशल अभिनयद्वारा प्रकट करके रसिकजनोंके

हृदयको रसानुभूतिसे परिपूर्ण कर सकता है. इसी तरह ब्रह्म भी, यदि इस जगत्में प्रकट हुवे सारेके सारे सत्-त्यत् निरुक्त-अनिरुक्त निलयन-अनिलयन विज्ञान-अविज्ञान मूर्त-अमूर्त मर्त्य-अमृत नित्य-अनित्य चल-कूटस्थ आदि रूपोंको धारण करनेवाला एक अभिनेता जैसा ही हो तो, इस ब्रह्मकी लीलाके रूपमें जगत्को जाननेवाला जागतिक सुख-दुःख शोक-मोह ज्ञानाज्ञान के सकल द्वन्द्वोंमे भी एक निर्द्वन्द्व आनन्दकी रसानुभूति कर पानेको समर्थ बन सकता है. अतएव तामस प्रकरणकी विवेचनामें श्रीमहाप्रभु यह बात भारपूर्वक कह दी थी कि दिव्य चतुर्भुज आकारवाले श्रीकृष्णका द्विभुज प्राकृत शिशुरूप बन जाना एक दिव्य नाटन है. इस नाटनमें उनके तात्त्विक लीलास्वरूपको जान पानेके साधन/प्रमाण स्नेहभक्तिमूलक अज्ञान और अन्यथाज्ञान ही हो सकते हैं, वैराग्य सांख्य योग तप जप ध्यान व्रत होम यज्ञादि नहीं. यहां भागवतशास्त्रीय सावधानी एक यह अपेक्षित है: अवतारकालमें प्रकट प्रमेयबलके कारण तो अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक वैराग्यादि विहित साधनोंकी तरह ही अविहित स्नेह या भक्ति या ईर्ष्या-मात्सर्यादि भी कारगर हो सकते हैं. अनवतारकालमें, परन्तु, अज्ञानमूलक या अन्यथाज्ञानमूलक भक्तिभाव भी कारगर हो नहीं पाता. अर्थात् अज्ञानमूलक भक्तिभाव भी निर्बल होता है और भक्तिमूलक हों तो अज्ञान या अन्यथाज्ञान भी प्रबल भागवतोपायतया अभिनन्दनीय ही माने गये हैं— ''विज्ञानं च अविज्ञानं च सत्यं च अनृतं च सत्यम् अभवत्! यदिदं किञ्च तत् 'सत्यम्' इति आचक्षते!''

इस श्रुति-स्मृति-सूत्रसारभूत भागवत रहस्यको भलीभांति समझनेकेलिये इस एक सुबोधिनी(१०।१४।४३)वचनका अवगाहन अतीव उपकारी होगा :—

> भगवान् जैसे अर्थसृष्टिरूप हैं, वैसे ही शब्दसृष्टिरूप भी भगवान् ही हैं. रूपसृष्टिकी तुलनामें, परन्तु, नामसृष्टि विलक्षण है: देशतः कालतः और स्वरूपतः रूपसृष्टिमें परिच्छेद प्रकट हुवा है; जबकि नामसृष्टिमें ऐसा परिच्छेद नहीं होता. रूपसृष्टि स्थूल होती है; जबकि नामसृष्टि सूक्ष्म होती है. रूपसृष्टि परिवर्तनशील प्रतीत होती है; जबकि नामसृष्टि कूटस्थ होती है. रूपसृष्टिके बारेमें जड़-विषय होनेका भास होता है; जबकि नामसृष्टि चेतन-प्रत्ययरूपा प्रतीत होती है. यदि नामसृष्टि ऐसी ही हो तो, रूपसृष्टिको (''ये-ये प्रत्ययाः ते-ते निरालम्बनाः, प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवत्'' न्यायवश) नामसृष्टिमें लीन या नामान्तर्भूत मान लेना उचित नहीं है. क्योंकि सिद्धान्त सिद्धान्ताभास या पाषंड रूप जो नाना वाद प्रकट हुवे हैं उनके अनुरोधवश भगवान्, नामबाह्यतया यथेच्छ, तत्तद् रूपोंमें भी प्रकट हो सकते हैं. अनेक रूपोंमें वाच्य तथा वाचक बन पानेकी भगवान्में अनेकविध स्वाभाविक शक्तियां हैं. अतएव वक्ता किसी बातको जैसे भी बोलना चाहता हो वह बात वैसे बोली जा सकती है. जिस किसी शब्दसे जो बात हमें कहनी हो हम कह पाते हैं (अन्यथा इतने मतमतान्तर प्रकट कैसे हो पाते?).

इस उद्धरणके अवलोकन करनेसे जो धारणा उभर कर सामने आती है वह यह है कि तत्त्वनिर्धारणार्थ जो कतिपय निकष दर्शनशास्त्रोंद्वारा प्रस्तावित किये गये हैं, यथा :—

(१) अनुभूतिके यथार्थ अर्थात् अपने विषयके अनुरूप होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(२) फलाविसंवादिनी प्रवृत्तिकी जनक होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(३) अनधिगत एवं अबाधित अर्थरूप विषयके बारेमें पैदा होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(४) स्वतो अविसंवादी होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' और उसके विषयको 'प्रमेय' कहा जा सकता है.

(५) सकल धारणाओंसे संकलित अनेकान्त दृष्टि ही प्रमाण होती होनेसे ऐसी अनेकान्त धारणाका विषय

ही प्रमेय होता है. तत्तद् धारणाओंके विषय व्यवहारमें प्रमाणिक होनेपर भी परमार्थतः प्रामाणिक नहीं होते.

इनमें शुरुआतके दो निकषोंमें अनुभूतिमें प्रामाण्यका आधान अनुभूतिसे बाह्य उसके विषयके गुणोंपर निर्भर दिखलायी देता है; अतः जो विषय इन गुणोंसे रहित हों वे स्वविषयिणी अनुभूतिमें प्रामाण्यके आधानार्थ सक्षम नहीं हो पाते. क्योंकि अनुभूतिमें उसके विषयका भास जिस तरहका हो रहा हो, वस्तुतः विषयके वैसे न होनेपर, अनुभूतिको 'प्रमाण' कह पाना शक्य नहीं. बीचके दो निकषोंमें अनुभूतिमें प्रामाण्यका आधान स्वयं अनुभूतिमें रहे गुणोंपर निर्भर होता है; अतः स्वयं अनुभूतिके इन गुणोंसे रहित होनेपर वह अपने आपमें प्रामाण्यके प्रकटनार्थ सक्षम नहीं हो पाती. क्योंकि अपना विषय अनधिगत एवं अबाधित है या नहीं यह बात अनुभूतिको स्वयंसे पूछनी पड़ती है विषयसे नहीं. इसी तरह स्वयंमें कहीं-कोई स्वतोविसंवादिता है या नहीं इस शंकाका समाधान भी अपने विषयसे पूछ कर नहीं किन्तु अपने-आपसे पूछ कर ही पाना पड़ता है. अन्तिम निकषके बारेमें यह उल्लेखनीय हो जाता है कि सकल धारणाओंके अन्तर्गत अनेकान्तदृष्टिको ही अप्रामाणिक माननेवाली धारणाका अन्तर्भाव तो अनेकान्तदृष्टिमें स्वीकार्य हो नहीं पाता. फलतः अनेकान्तदृष्टिका एकान्तिक प्रामाण्य सर्वमान्य नहीं हो पाता.

इस सन्दर्भमें यह जान लेना आवश्यक है कि लोकव्यवहारके सन्दर्भमें श्रीमहाप्रभुके मतमें प्रथम निकषको मान्यता प्रदान की गई है—"निश्चयो यथार्थानुभवः. अर्थो हि ज्ञानस्य अर्धम् अङ्गम्; अतएव स्मृतिः न निश्चयात्मिका, अर्थाभावात्. अनुमितिरपि सम्बन्धिव्यवधानेन अर्थजनितैव" (सुबो. ३।२६।३०) अर्थात् यथार्थ अनुभव निश्चयरूप होता है. क्योंकि अनुभूतिका विषय = अर्थ ज्ञानका आधा अंग होता है; अतएव स्मृति निश्चयरूपा नहीं होती, स्मर्यमाण अर्थके अविद्यमान होनेके कारण. यद्यपि स्वयं अपने विषय अग्निसे अनुमितिरूप अनुभूति भी उत्पन्न नहीं होती; फिरभी विद्यमान अग्निसे पैदा होनेवाली विद्यमान धुंआसे पैदा होनेके कारण अनुमितिको विद्यमान अर्थपरंपराजनित मानना पड़ता है. इस विवरणसे सिद्ध होता है कि लोकव्यवहारसंबन्धी प्रामाण्यव्यवस्थाके बारेमें श्रीमहाप्रभुने प्रथम निकषको मान्य रखा है. तृतीयस्कन्धके पंदरहवें अध्यायके ४६वें श्लोकमें श्रीमहाप्रभुने एक उल्लेखनीय बात जो इस सम्बन्धमें कही है वह यह है कि ब्रह्मके बारेमें किसी भी तरहका कोई निर्णय लेना हो तो दोमेंसे कोई एक आधार हमारे पास अवश्य होना चाहिये : या तो शास्त्रोंका भलीभांति बोध अथवा ब्रह्मसाक्षात्काररूप स्वानुभव. शास्त्र भी "तं त्वौपनिषदं पुरुषम्" एवं "मनसैवानुद्रष्टव्यम्"जैसे दो तरहके वचनोंद्वारा यही बात कहना चाहता है. जब शास्त्रोंमें यह कहा जाता है कि "न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" या "न तं विदाथ" तो उसका तात्पर्य अनधिकारी दुष्टजनोंको ब्रह्मसाक्षात्कार नहीं होता इतना ही केवल होता है. कथमपि एतावता यह विवक्षित नहीं मान लेना चाहिये सदधिकारिओंको भी कभी ब्रह्मसाक्षात्कार हो ही नहीं सकता. यह बात और है कि ब्रह्मसाक्षात्कार, केवल निजसत्त्वके कारण, सदधिकारिओंको भी नहीं हो पाता. वह तो जीवसत्त्व जब भगवत्कृत जीववरणरूप साधनका अवान्तरव्यापार हो तभी सम्भव हो पाता है. "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः"सदृश वचनोंका यही आशय है.

अतः अलौकिक प्रमेय ब्रह्मके बारेमें श्रीमहाप्रभुको व्यवस्थित विकल्प मान्य है :—

(१) प्रमाणबलमूलक व्यवस्था

इस (१) कल्पमें पुनः दो अवान्तर कल्प श्रीमहाप्रभुने दिखलाये हैं : (क) पूर्ण ज्ञानके उदयसे पूर्वभावी प्रामाण्य-व्यवस्था (ख) पूर्ण ज्ञानके उदयसे उत्तरभावी प्रामाण्य-व्यवस्था.

अतः (१/क) कल्पके बारेमें श्रीमहाप्रभुने अपना मत "वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि...न तन्मानं कथंचन"(शास्त्रा.प्रक. ७-८)में श्रुति गीता सूत्र और भागवत की एकवाक्यतापन्न वचनराशिको प्रमाण मान कर निरूपित किया है. (१/ख) कल्पके बारेमें भी यहां स्पष्टता कर दी गई है कि "वाङ्मात्रमेव प्रमाणम्, अर्थस्य भगवद्रूपत्वात्" (शास्त्रा.प्रक. ९). यहां 'पूर्णज्ञान' पदप्रयोग ब्रह्मके अपरोक्ष ज्ञानके अभिप्रायवश नहीं हुवा है किन्तु "मान्य सकल शास्त्रोंके सुव्यवस्थित बोध" के अभिप्रायवश हुवा है. इस पूर्णज्ञानोदयवाले कल्पका निरूपण श्रीमहाप्रभुने—"अर्थोऽयमेव

निखिलैरपि वेदवाक्यैः रामायणैः सहितभारतपञ्चरात्रैः अन्यैश्च शास्त्रवचनैः सह तत्त्वसूत्रैः'' (शास्त्रा.प्रक. १०४) वचनमें किया है.

जिज्ञासा या शिष्योपदेश की अवस्थामें श्रुत्यादि प्रमाणचतुष्टयीके, अन्यथा प्राप्तबोधावस्थामें सकल शास्त्रोंके भी, आधारपर ''एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके अनेकविध परस्परविरुद्ध गुण-धर्म-रूपोंको धारण'' करनेके तथ्यको दृष्टिगत रखकर प्रमाणबलावलम्बिनी व्यवस्था स्वीकार करके ब्रह्मनिरूपणमें सकल विरोधाभासोंका उपशमन किया जा सकता है.

प्रमाणबलके उभयविध कल्पोंमें यह नितान्त अवधारणीय है कि इनमें याथार्थ्यावगति स्वयं दुष्परीक्ष्य होनेसे—'' 'वेदाः'इति शब्दएव प्रमाणं, तत्रापि अलौकिकज्ञापकमेव. तत् स्वतःसिद्धप्रमाणभावं प्रमाणम्'' (शास्त्रा.प्रक. ७). अर्थात् अलौकिक प्रमेयके ज्ञापक होनेसे वेदादि शास्त्रोंके शब्द ही प्रमाणतया मान्य हुवे हैं; और इनका प्रमाण होना भी स्वतःप्रामाण्यके रूपमें अभिप्रेत माना गया है. इससे सिद्ध होता है कि यहां तृतीय निकष श्रीमहाप्रभुको अभिमत है.

(२) प्रमेयबलमूलक व्यवस्था

श्रीमहाप्रभुने यह स्पष्टीकरण भी दिया है कि विचारकों अथवा भक्तों की धारणाओंके या भावनाओंके अनुरूप स्वरूपधारण करनेकी भगवत्सामर्थ्य अर्थात् प्रमेयबलके आधारपर भी ब्रह्मनिरूपणमें सकल विरोधाभासोंका उपशमन किया जा सकता है.

ऐसी स्थितिमें प्रमेयबलके कल्पमें यह अवधारणीय है कि निजेच्छया या निजभक्तोंके भावोंके अनुरोधवश वह प्रमेय जिस रूपमें प्रकट हुवा हो उससे विपरीत रूप, चाहे शास्त्रप्रमाणसिद्ध ही क्यों न हो, का दुराग्रह प्रामाण्यव्यवस्थाके प्रथम निकषका अनादर है. कमसे कम यह तत्तत् स्वरूपधारणलीलाके प्रसंगमें होती भगवत्स्वरूपानुभूतिके सन्दर्भमें तो अपरिहार्य है ही.

अर्थात् प्रमाणबलवाली व्यवस्थामें, प्रथम निकषरूप याथार्थ्यके दुष्परीक्ष्य होनेसे, प्रमाणके अनुसार, अर्थात् तृतीय निकषके अनुसार, प्रमेयस्वरूपका निर्धारण किया जाना चाहिये. इसी तरह प्रमेयबलवाली व्यवस्थामें, याथार्थ्यके सर्वथा सुपरीक्ष्य होनेसे, स्वतःप्रकट प्रमेयके अनुसार, अर्थात् प्रथम निकषके अनुसार, किसी एक अनुभूतिके, अथवा दो अनुभूतिओंके परस्पर विरुद्ध होनेपर भी, प्रमाण या अप्रमाण होनेका निर्धारण किया जाना चाहिये.

परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णने, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं' निजसामर्थ्यवश शिशुरूप बालरूप कुमाररूप किशोररूप या युवारूप अथवा पुत्र अनुज सखा प्रियतम शिष्य सारथी गुरु आदि बननेके जो-जो रूप-गुण-स्वभाव-सम्बन्ध-कर्म तत्तद् लीलाओंमें प्रकट किये उन्हें व्यावहारिक-सत्य मायिक मिथ्या या आरोपित मान लेनेपर :—

> एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं-रूपं प्रतिरूपो बहिश्च...एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति. (कठोप. २।२।९-१२).
>
> यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्ताद्...तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः. (महाना.उप. १।५-७).
>
> सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः नामानि कृत्वाभिवदन् यदास्ते. (चित्त्युप. १२।७).
>
> स विश्वकृद् विश्वविद् आत्मयोनिः ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः, प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः...य ईशे अस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यते ईशनाय. (श्वेता.उप. ६।१६-१७).
>
> सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्. (ब्र.सू. ३।३।१).
>
> वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च . (गीता ११।३९).

जैसे अनेकानेक शास्त्रवचनोंके डिंडिमघोषको अनसुना बनाना पड़ेगा. अन्यथा यह स्वीकारना बहुत कठिन है कि एकमेवाद्वितीय ब्रह्म, मायारूप उपाधिके बिना, स्वतः अनेक रूप धारण कर नहीं सकता! ऐसी स्थितिमें महाभारत-भागवतादिमें वर्णित अवतीर्ण श्रीकृष्णके स्वरूप या लीला को मायिक या केवल व्यावहारिक-सत्य मानना श्रीकृष्णके आत्ममायापरिगृहीत जन्म-कर्मोंकी दिव्यताका प्रत्याख्यान है. अतएव उपनिषद् गीता ब्रह्मसूत्र भागवतादि शास्त्रोंके आधारपर श्रीमहाप्रभुने मायाके भी त्रिविध रूप स्वीकारें हैं :—

(१) सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया
(२) योगमाया
(३) व्यामोहिका माया

(१) उल्लिखित शास्त्रोंमें सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाका निरूपण इन वचनोंमें हुवा है: "...मायी सृजते विश्वमेतत्...मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"(श्वेता.उप. ४।९-१०) "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते"(बृह.उप. २।५।१९) "भिन्ना प्रकृतिरष्टधा...प्रकृतिं विद्धि मे पराम्...दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया...मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते..."(गीता ७।४-५-१४, ९।१०) "...प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितं स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः...अभ्यपद्यत लीलया गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः"—"प्रकृतिर्ह्यस्योपादानमाधारः पुरुषः परः सतोऽभिव्यञ्जकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयं त्वहम्"(भाग. ३।२६।३-५—११।२४।१९).

(२) शास्त्रोंमें योगमायाका निरूपण इन वचनोंमें देखा जा सकता है: "मायाविग्रहधारणः"(कृष्णोप. ११) "सम्भवाम्यात्ममायया"—"रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्"(गीता ४।६—११।४७) "यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलम्"(भाग. ३।२।१२).

(३) शास्त्रोंमें व्यामोहिका मायाका निरूपण भी अनेक स्थलोंपर मिलता ही है: "तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः"(श्वेता.उप. ४।६) "न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः माययापहृतज्ञानाः"(गीता ७।१५) "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि तद्विद्यादात्मनो मायाम्"(भाग. २।९।३३).

वैसे तर्कलाघवके विचारसे तो एक सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाके निरूपणसे ही सभी विराधाभासोंका परिहार शक्य है, फिरभी न तो भगवत्स्वरूप तर्कोत्प्रेक्षित माना गया है और न तर्कके लाघव-गौरवकी आपत्तिके बलपर कुछ सिद्ध या असिद्ध ही हो जाता है. बृहदारण्यकोपनिषद्के पूर्वोद्धृत वचनमें 'मायाभिः'पदमें बहुवचनका प्रयोग, इसी तरह गीता-भागवतादिमें मायाजन्य मोहकी कहीं प्रशंसा और कहीं निन्दा, योगमाया और व्यामोहकमाया के भेदके कण्ठोक्त प्रमाण बन जाती हैं. वैसे 'ब्राह्मण-परिव्राजक' अथवा 'उपस्थित सज्जनो! सन्नारिओ! एवं सभाध्यक्ष महोदय!' न्यायकी तरह ही सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया और योगमाया/व्यामोहकमाया के बीच भेद समझना चाहिये. अर्थात् सभाध्यक्ष 'सज्जन-सन्नारी'में अन्तर्भूत होनेपर भी जैसे पृथक्कृत्य उल्लेखनीय होता है वैसे ही सर्वभवनसामर्थ्यके अन्तर्गत ही भक्ति/मुक्ति का प्रदायक आनन्दात्मक स्वलीलाविहारौपयिक साधु योगमायाबल; तथा संसृति/दुर्गति का प्रदायक दुःखात्मक जीवमोहौपयिक असाधु व्यामोहकमायाबल, यों दोनों ही बलोंका उल्लेखनीय कुछ न कुछ स्वरूपवैलक्षण्य है ही. संक्षेपमें जड़-जीव-ईश्वररूपको प्रकट करनेवाले बलको 'सर्वभवनसामर्थ्य' कहा जाता है; और प्रकट हुवे जड़-जीव-ईश्वररूपोंके साथ क्रीड़ामें प्रकट बलको 'योगमाया' या 'व्यामोहकमाया' कहा जाता है.

द्वितीयस्कन्धके नवमाध्यायके प्रारम्भमें इनका सुविशद निरूपण श्रीमहाप्रभुने किया है. वहां यह दिखलाया गया है:—

> सच्चिदानन्द ब्रह्मके सदंशकी शक्ति क्रियारूपा माया होती है. चिदंशकी शक्ति व्यामोहिकारूपा माया होती है. आनन्दांशकी शक्ति सर्वभवन-सामर्थ्यरूपा माया होती है. ये तीन तरहकी शक्तियां सच्चिदानन्दांशोंके धर्मोंके बोधक 'सत्ता'/'सत्त्व', 'चैतन्य'/'चित्त्व' एवं 'आनन्दत्व' रूप पदोंद्वारा अभिधेय बनती हैं. अखण्डैकरस सच्चिदानन्दमें जब ये धर्म पृथक्-पृथक अर्थक्रिया प्रकट करना शुरु करते हैं तो धर्मीभूत सदंश चिदंश एवं आनन्दांश भी परस्पर पृथक्-पृथक् रूप प्रकट करने लग जाते हैं. श्रुतिमें 'प्रजायेय' पदद्वारा ब्रह्मके सृष्टिसंकल्पका निरूपण किया गया है. अतएव आनन्दांश जब इतरद्वयापेक्षया उत्कृष्ट बन जाता है, तब इतर दोनों अर्थात् सदंश और चिदंश अपनेसे उत्कृष्ट आनन्दांशके अनुषंगी एवं अनुसेवी बन जाते हैं. परिणामस्वरूप सदंशकी क्रियाशक्ति एवं चिदंशकी व्यामोहकशक्ति आनन्दांशमें पर्यवसित हो जाती हैं. इसी तरह क्रिया एवं ज्ञान की शक्तिओंका धर्मी या आश्रय आनन्दांश बन जाता है. मूलमें ज्ञानरूप धर्मवाले चिदंशकी ज्ञानशक्ति जब आनन्दांशमें पर्यवसित हो जाती है, तब स्वयंकी

> ही शक्ति स्वयं चिदंशको व्यामोहित करने लग जाती है. और इस तरह उस चिदंशको जीव बनना पड़ता है. क्रियाशक्तिके जानेके कारण सदंश जड़ अव्यक्त = प्रकृति बन जाता है. बादमें आनन्दांशमें पर्यवसित हुई क्रियाशक्तिके यथायथ उद्गम या तिरोगम के कारण महदहंकारादिक्रमसे घट-पटपर्यन्त व्यष्टि/समष्टि जड़रूपोंके यथायथ आविर्भाव या तिरोभाव होते रहते हैं. इसी तरह चिदंश भी आनन्दांशमें पर्यवसित स्वकीय ज्ञानशक्तिके अंशभूत अनेकानेक ज्ञानोंसे अनेकानेक जीवोंके रूपमें अभिव्यक्त या तिरोहित होते रहते हैं. मूलमें स्वयंकी परन्तु आनन्दांशमें जा कर पर्यवसित हुई चिदंशशक्ति व्यामोहिका माया, जब जीवको मोहित करने लगती है, तब वह जीव बोधरूप होनेके बावजूद आनन्दांशसे पृथक् हो जानेके कारण आनन्दांशकी खोजमें निकटमें उपलब्ध प्राणका संगी बन जाता है. ऐसे प्राणसंगी चिदंशको 'जीव' कहा जाता है, ''जीव प्राणधारणे''धातुसे शब्दनिष्पत्तिके आधारपर भी यह सिद्ध हो सकता है. स्वयं चिदंशकी मायासे मोहित जीवको भगवान् जबतक पूर्ण ज्ञानशक्ति प्रदान नहीं करते, तबतक वह प्राणधारणके प्रयत्नोंको छोड़ नहीं पाता. पूर्णज्ञान पा लेनेपर प्राणसंगके व्यसनको छोड़ कर वह पुनः शुद्ध चिद्रूपतामें अवस्थित हो जाता है. इस शुद्धावस्थामें प्राकृत सत्त्वादि गुणत्रयी, बुद्धि, अहंकार, मन से शुरु करके रूपरसादि गुणवाले जड़देहके घटक पृथिव्यादि विषयोंकी आधीनतासे भी चिदंश छुटकारा पा लेता है. एतावता चिदंशमें जगत्कर्तृत्वकी सामर्थ्य तो आ नहीं पाती, क्योंकि वह शक्ति तो केवल आनन्दांशमें ही रहती है...आनन्दांशके साथ मिलन होनेपर ही जीवको आनन्दानुभूति हो पाती है...यह प्रक्रिया सर्वश्रुतिवचनोंके अनुरोधवश श्रुतार्थापत्ति-सिद्ध है; और शास्त्रवचनाशयनिर्धारणार्थ सर्वत्र उपयुक्त

> भी. अन्य प्रक्रिया शास्त्राभिप्रायको कुण्ठित बनाती हैं.

योगमायाका निरूपण श्रीमहाप्रभुने दशमस्कन्ध (१०।३।४७ तथा १०।२६।१) में इन शब्दोंमें प्रस्तुत की है :—

> यह योगार्थ ही होती है. भगवान्की दिव्य लीलामें जब लीलोपयोगी लोकव्यामोहन या चमत्कार दिखाना अभीष्ट होता है, तब इसे व्यापारित किया जाता है. योगमाया यथास्थित वस्तुका भी अन्यत्र स्थापन कर देती है. इस शक्तिका उपयोग प्रभु लीलार्थ करते हैं. प्रमाण और रक्षण की लीलामें जैसे बलभद्रको साथ रखा जाता है वैसे ही लोकमें अलौकिक लीलारूप कार्यको सिद्ध करनेको योगमायाको साथ रखा जाता है. बलभद्र और योगमाया के बीच योगमाया अन्तरंगतर होती है. इसके कारण प्रमाण और फल(= आनन्द) का अपने प्रमेय = विषय या साधन से अन्यत्र भी योजन(उपलम्भकत्व/उपलम्भ) सम्भव हो जाता है(इसी तरह विदित प्रमेयका अश्रुतपूर्व प्रमाणसे होते अनुभवके साथ योजन या विहित साधनकी श्रुतपूर्व फलकी अप्रापकताके साथ योजन भी शक्य हो जाता है).

यहां संक्षेपमें पुनः इतना जान लेना आवश्यक है कि तैत्तिरीयोपनिषद्का जो वचन इस भूमिकाके उपक्रममें दिया गया है, उसमें उपलक्षणविधया परिगणित सत्-त्यद् आदिके द्वन्द्वोंको, जो सच्चिदानन्द ब्रह्मने अपने चिदंश या आनन्दांश के निगूहनद्वारा इस जगत्में प्रकट किया गया है, उसे सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाद्वारा ही किया हुवा कार्य जानना चाहिये. ऐसे द्वन्द्वात्मक जगत्में अपने आनन्दांश या चिदंश को तिरोहित किये बिना जब सच्चिदानन्द भगवान् स्वयं लीलार्थ प्रकट होते हैं तो, पूर्वोक्तविध द्वन्द्व अपनी योगमायाद्वारा प्रकट करते हैं. जब भक्ति या मुक्ति में से कोई भी एक फल जीवात्माको देना अभीष्ट न हो, तब व्यामोहकमायाद्वारा उस जीवात्माको मोहित बना दिया जाता है.

इस प्रसंगमें तामसफलप्रकरणके प्रारम्भमें श्रीमहाप्रभुने एक निरतिशय

मननीय निरूपण किया है, जिसे यहां उद्धृत करनेके लोभका संवरण दुर्वार है:—

> भक्तिप्रतिपादक एवं ज्ञानप्रतिपादक यों दो तरहके शास्त्रोंके आधारपर भगवान्के वास्तविक स्वरूपका जैसे बोध होता है; वैसे ही कभी-कभी स्वयं भगवत्स्वरूप स्वयमेव स्वबोधजनक बन जाता है. व्रजमें भगवान् अपने सच्चिदानन्दरूपमें अवतीर्ण या प्रकट हुवे हैं, मुक्ति(या भक्ति)के प्रदानार्थ ही. अतः जिस-किसीका जिस-किसी उपायद्वारा भगवान्के साथ सम्बन्ध जुड़ जाता है, उसे उसी उपायसे मुक्ति(या भक्ति) मिल जाती है. भूतलपर भगवान्को प्रकट करने हेतु ज्ञान या भक्ति उपयोगी उपाय हैं; परन्तु भगवान् यदि स्वेच्छया स्वतःप्रकट हो गये हों तो फिर ज्ञान या भक्ति की कोई उपयोगिता रह नहीं जाती! यहां तो भगवान् स्वतएव सर्वजनोंके नयनगोचरतया प्रकट हो गये हैं, मुक्ति(/भक्ति)दानार्थ. क्योंकि ईश्वरेच्छाको शास्त्रनियमोंमें जकड़ा नहीं जा सकता! अतः भगवान्के आविर्भावके तीन उपाय सिद्ध होते हैं: १.स्वेच्छा २.भक्ति अथवा ३.ज्ञान. अनवतारकालमें ज्ञान या भक्ति दो ही औत्सर्गिक हेतु बनते हैं; परन्तु अवतारदशामें ज्ञान-भक्ति प्रयोजक नहीं रह जाते. (वैसे) बरसातमें तो जल सर्वत्र सुलभ रह सकता है, एतावता क्या कूप या नदी आदिको कोई अनुपयोगी मान सकता है?

अस्तु, अब हमें यह देखना है कि जन्मप्रकरणके बाद प्रमाणप्रकरणमें निरूपित भक्तिहेतुक अज्ञान एवं अन्यथाज्ञान रूप प्रमाणोंके प्रमेय बने भगवत्स्वरूपका वर्णन इस प्रमेयप्रकरणमें कैसे हुवा है. ये अज्ञान और अन्यथाज्ञान व्यामोहिका मायाके कार्य नहीं हैं प्रत्युत योगमायाके कारण प्रकट हुवे हैं. अर्थात् स्वयं भगवान्के द्वारा अपनी दिव्य योगमायाके बलसे परिगृहीत रूपके वश ये अज्ञान और अन्यथाज्ञान पनपे हैं. जैसे कोई शिल्पी अपनी छेनीसे तराश-तराश कर किसी शिलामें सौन्दर्यको प्रकट कर देता है, वैसे भगवत्स्नेहोद्भूत दिव्य अज्ञान और अन्यथाज्ञान के वश प्रमाणलीला ही शनैः-शनैः घनीभूत हो कर प्रमेयलीलामें साकार होती हुई इस अवस्थाको प्राप्त हुई है!

भक्तिकी विभिन्न अवस्थाओंको बीजभाव=वरण रुचि स्नेह आसक्ति और व्यसन के रूपमें निरूपित किया गया है. व्रजमें प्रकट होनेका प्रभुका संकल्प वरणस्थानीय भावांकुरणकी प्रक्रिया है. प्राकृत शिशुकी तरह मनोहर शिशुवपुःधारण उस अंकुरित रुचिको प्रेमकन्दलित बनानेकी प्रक्रिया है. यह जन्मप्रकरणका वर्ण्यविषय है. अपनी मनोहारिणी बालक्रीड़ाओंसे उस कन्दलित प्रेमको भगवान् प्रणय-स्नेहोद्भूत अनेकविध मनोरथोंकी शाखाप्रशाखाओंसे सम्भृत तथा पल्लवित करते हैं. यह प्रमाणप्रकरणका वर्ण्य-विषय है. इस प्रमेयप्रकरणमें उस पल्लवित प्रणय-स्नेहको रागात्मिका आसक्तिमें कलिकायित किया जाना है कि जिसे अग्रिम साधनप्रकरणमें अनुरागात्मिका प्रत्याशाओंके कुसुमके रूपमें खिलाना है. इसी तरह अन्तिम फलप्रकरणमें इसे प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवद्व्यसनमें फलित हो जाना है.

प्राकृत बालकके रूपमें अवस्थित भगवान् ही प्रमेयभावापन्न भी हैं. अतएव प्राकृत बालककी तरह तो भगवान् असमर्थ नहीं हैं. भगवान् अपने अप्राकृत या अलौकिक सामर्थ्यको यदा-कदा सकलजन-नयन-गोचरतया प्रकट भी कर देतें हैं; तब भी व्रजके गोप-गोपीजन अपना वात्सल्य या स्नेहभाव भगवान्के बारेमें छोड़ नहीं पाते. श्रीमहाप्रभु, अतएव, कहते हैं—''अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति. यथा कृष्णः, यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि, सर्वजगदाधारो भवति'' (शास्त्रा. प्रक. ५४) अर्थात् अणुपरिमाण होनेपर भी ब्रह्म व्यापक हो सकता है. जैसे श्रीकृष्ण, माता यशोदाकी गोदमें लेटे हुवे होनेपर भी, अखिल ब्रह्माण्डके आधार होते हैं. अपनी यह विरुद्धधर्माश्रयता भगवान्ने बाललीलामें प्रकट न की हो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है. स्तनपानरत भगवान्ने अपने मुखारविन्दमें ही समग्र ब्रह्माण्डके दर्शन अपनी माताको करा दिये; और इसे साक्षात् स्वनेत्रोंसे निरखनेके बाद भी माता यशोदा स्वीकार न सकी! इससे पता चलता है कि वह बालरूप कितना मनोहारी रूप रहा होगा!!

''सर्वं खलु इदं ब्रह्म'' या ''ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' जैसे वचनोंमें

वर्णित आत्मतत्त्वके साक्षात्कारकेलिये उपनिषदोंमें कहा गया है—“तद एतत् प्रेयः पुत्रात्”—“एतं वै तम् आत्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च...व्युत्थाय अथ भिक्षाचर्यं चरन्ति” तो यह ज्ञानिओंकेलिये तो अवश्य ही सच बात है. उस सर्वात्माकी सर्वरूपता ज्ञानिओंकेलिये अवश्य ही सर्वाधिक स्पृहणीय होती होगी; परन्तु माता यशोदाकेलिये वह सर्वरूपता नहीं किन्तु पुत्ररूपता ही नितान्त स्पृहणीय है. अतएव ऐसी तत्त्वसाक्षात्कारैषणासे ‘व्युत्थित’ होनेके कारण, माता यशोदा श्रीकृष्णको अपने आत्मज होनेके अलावा और कुछ मानने तैयार ही नहीं है! सर्वात्माके पुत्ररूपेण प्रमेय बननेपर पुत्रत्वसे अधिक प्रिय सर्वात्मत्व हो नहीं पाता—सर्वात्मत्वसे भी कहीं अधिक प्रेम पुत्रत्वके बारेमें ही प्रकट हो जाता है. इस लीलाचमत्कृतिका वर्णन प्रमाणप्रकरणकी सुबोधिनी(१०।८।४५)में इस तरह किया गया था :—

> क्रियाशक्तिके निरूपणद्वारा भगवन्माहात्म्यकी प्रतिपादिका वेदत्रयीने, ज्ञानशक्तिके निरूपणद्वारा उसी माहात्म्यकी प्रतिपादिका उपनिषदोंने, नित्यानित्य वस्तुकी विवेचनाद्वारा अनित्य वस्तुके मोहसे छुड़ा कर नित्य वस्तु भगवान्‌की ओर ले जानेवाले सांख्यशास्त्रने, भगवदितर विषयोंकी चिन्तासे चित्तको छुड़ा कर केवल भगवान्‌में उसे निरुद्ध करनेवाले योगशास्त्रने, भगवन्माहात्म्यनिरूपक पाशुपत एवं वैष्णव तन्त्रशास्त्रोंने, इसी तरह तत्तद् दर्शनशास्त्रोंने भी तत्तत् प्रमेयोंके रूपमें जिन श्रीकृष्णका माहात्म्य गाया है, ऐसे श्रीकृष्णके माहात्म्यको निजनेत्रोंसे निहार कर भी, माता यशोदा, सर्वात्मा माननेके बजाय अपना आत्मज ही मानना चाहती हों तो पुत्रभाववाली अविहित भक्तिमें माता यशोदा सुप्रतिष्ठित हो गयी हैं, यह सिद्ध हो जाता है (फिरभी इसे अज्ञानजन्य मोह माननेसे बड़ा अज्ञान या मोह, और क्या हो सकता है?).

भगवान्‌के जन्म लेनेके साथ शुरु हुई उत्सवोंकी परम्पराद्वारा, अनेकविध असुरोंके उपद्रवोंसे पैदा होते भयद्वारा, उन सभीसे भगवान्‌के उबर जानेके कौतुकद्वारा, गर्गमुनिके विस्मयजनक वचनद्वारा, यमलार्जुनभंगद्वारा; और बकासुरवधादिके अनेकविध उपद्रवोंकेद्वारा भी भगवान्‌ने मुख्यतया नन्द-यशोदाके; और वैसे तो सभी व्रजजनोंके हृदयोंको अपनेमें निरुद्ध=निरतिशयासक्त बना लिया था. अतः बाल्यावस्थामें भी प्रमेयरूपता सम्पन्न हो जानेसे, इन सात अध्यायोंवाले प्रकरणमें स्नेहोत्तरभाविनी भक्तिकी तृतीय अवस्था आसक्तिका ही सप्तविध निरूपण अभिप्रेत है. इसमें मुख्यता गोप-गोपिकाओंकी है.

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य ये छह भगवद्धर्मोंके अलावा सातवें धर्मी स्वयं भगवान्‌के निरूपणार्थ ही ये क्रमशः सात अध्याय हैं.

तदनुसार :—

प्रमेयप्रकरणके प्रथम (आदितः १२=१५) अध्यायमें: व्रजलीलामें अपने असाधारण अलौकिक सौन्दर्यवश सभीका मन अपने वशमें, अर्थात् अपनेमें निरुद्ध, कर लेनेके कारण भगवान्‌का ऐश्वर्य गुण निरूपित हुवा है. ‘निरोध’का अर्थ, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, प्रपञ्चको भूलभाल कर भगवान्‌में मनका लग जाना है. अतः प्रपञ्चासक्तिको तोड़नेका अनुभाव भगवान्‌ने व्रजमें बसनेवाले दुष्टजनोंके निग्रहद्वारा प्रकट किया. इसमें सर्वप्रथम प्रमेयरूप भगवान्‌ने अपने समग्र लीलापरिकरकी दिव्यता अपने अग्रज श्रीबलभद्र, जो प्रमाणरूप हैं, उन्हें समझायी है. इससे उनमें निजावेश इंगित हुवा है. अतएव भगवदाविष्ट श्रीबलरामद्वारा धेनुकासुरके वधका वर्णन भी श्रीकृष्णके ही चरित्रनिरूपणतया किया गया समझना चाहिये. इस लीलाकेद्वारा प्रमेयरूप भगवान्‌ने प्रमाणाविष्ट हो कर निजासक्तिमें व्रजवासिओंकेलिये अनुपयोगी ऐसे देहाध्यासके निवारणका अनुभाव प्रकट किया है. क्योंकि भगवदासक्तिमें अनुपयोगी देहाध्यास तो अज्ञानजन्य ही होता है, जबकि उपयोगी तो योगमायाजन्य ही होता है, यही तो भागवतका गूढ़ रहस्य है. इस तरह “प्रपपञ्चविस्मृति + भगवदासक्ति = निरोध”के समीकरणमें पूर्वदल - ‘प्रपपञ्चविस्मृति’के अन्तर्गत देहाध्यासके निर्वतनके बाद जो उत्तरदल - ‘भगवदासक्ति’ है उसके अन्तर्गत भगवद्रूपासक्तिका निरूपण—“तं गोरजश्छुरितकुन्तल... यदपांगमोक्षम्” (१०।१२।४२-४३) श्लोकोंमें हुवा है.

इस लोकातिशायी सौन्दर्यके कारण मुख्यतया यहां गोपिकाओंके, और आनुषंगिकतया अन्योंके भी, मानसिक निरोधका निरूपण हुवा है. इसी तरह इस प्रकरणके वेणुगीतवाले अन्तिमाध्यायमें वाचिक निरोधका; तथा आगे चलकर फलप्रकरणमें कायिक निरोधका भी निरूपण किया जायेगा.

द्वितीय (आदितः १३=१६) अध्यायमें: कालीयनागके दमनके वर्णनद्वारा भगवान्‌के वीर्य गुणका निरूपण अभिप्रेत है. भगवदासक्त जीवकेलिये तत्तद् इन्द्रियोंकी तत्तद् विषयोंमें रही आसक्ति कालीयनागके फनोंमें रहे विषकी तरह अनिष्टकारिणी होती हैं. कालीयनागके फनोंकी जैसी हमारी इन्द्रियोंपर, यदि भगवच्चरणरूपा भक्ति नाचने लग जाये तो, भगवदासक्तिमें अनुपयोगी विषोपम विषयोंमेंसे इन्द्रियोंकी आसक्ति निवृत्त हो सकती है. यों देहाध्यासके निवर्तनके बाद गो-गोप-गोपिकाओंका भगवदासक्तिमें अनुपयोगी जो इन्द्रियाध्यास था, उसका निवर्तन यहां निरोधांगतया वर्णित हुवा है. यह कालीयदमन व्रजभक्तोंकी भगवदासक्तिकी दृढ़ताकी ही परीक्षा थी.

तृतीय (आदितः १४=१७) अध्यायमें: "कृष्णं ह्रदाद् विनिष्क्रान्तं... उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इव प्रजाः"(१०।१४।१३-१४) श्लोकोंमें अपने दर्शनके दानकेद्वारा व्रजजनोंके प्राणोपम अभीष्ट श्रीकृष्णने सकल व्रजवासिओंको जो प्राणदान किया, उसके वर्णनद्वारा सुस्पष्टतया भगवान्‌के यश गुणका निरूपण हुवा है. व्रजभक्तोंको भगवान्‌में साधारण लौकिक स्नेह नहीं था प्रत्युत भगवान् उन्हें निरतिशय प्राणप्रिय थे, यही प्राणदानके वर्णनका अभिप्राय है.

प्रथमाध्यायके अन्तमें, वृन्दावनमें विचरनेवाले तृषार्त गो-गोपबालकोंके विषदूषित जलपानसे निष्प्राण होनेका तथा भगवान्‌की अमृतवर्षिणी दृष्टिसे पुनुरुज्जीवित होनेका उल्लेख हुवा है. यह उल्लेख भी अज्ञानप्रयुक्त प्राणाध्यासके निवर्तनद्वारा गो-गोपबालकोंको, भगवदासक्तिहेतु उपयोगी प्राणाध्यासके प्रदानकी ही लीला थी. स्वनिरूपक अध्यायसे पूर्ववर्णनका हेतु—वे स्वयं जा कर व्रजस्थित सभी व्रजजनोंको भगवान्‌के जलह्रदमें कूदनेके वृत्तान्तसे अवगत करें, यही प्रतीत होता है.

जलह्रदसे सकुशल बाहर निकलते भगवान्‌के दर्शनमें मिलते आनन्दको,

केवल नेत्रेन्द्रियोंके सुखतया वर्णित न कर, व्रजवासिओंके तनमें लौट आये प्राणकी तरह वर्णन करना भी, व्यामोहिका मायासे जन्य प्राणाध्यास व्रजवासिओंमें अब रह नहीं गया था, इस तथ्यके सूचनार्थ है. सभी व्रजजन योगमायासे जन्य अलौकिक प्राणाध्याससे सम्पन्न हो गये थे.

पुनश्च इसी तरह दावाग्निपानके वर्णनद्वारा भगवन्माहात्म्यका जो निरूपण हुवा है, वह भी व्रजवासिओंके चित्त भगवान्‌में भक्तिभावपूर्ण हो कर निरुद्ध हो गये थे—केवल लौकिक आसक्तिके रूपमें नहीं; क्योंकि असाधारण भगवन्माहात्यको स्वयं निजनेत्रोंसे निरखनेके बाद भी व्रजजनोंकी आसक्तिमें लेशमात्र अन्तर नहीं पड़ा. यह यशोरूप माहात्म्यका ज्ञान, जो भक्तिका पूर्वांग माना गया है, उसकी ही विवक्षासे हुवा निरूपण है.

यहां तक सभी व्रजजनोंकी दृढ़ भगवदासक्तिका सामान्यतया निरूपण किया गया. अब इसके बाद गोपबालकों, गायों, गोकुलस्थ अन्य भी सभी व्रजजनों; तथा गोपिकाओं की भी आसक्तिका विभागशः पृथक्-पृथक् वर्णन किया जाना अभिप्रेत है.

चतुर्थ (आदितः १५=१८) अध्यायमें: प्रलम्बवधका वर्णन तथा कालदुःख-निवारणका वर्णन भगवान्‌के श्री गुणके निरूपणार्थ है. इनमें प्रलम्बके वधद्वारा मुख्यतया भगवान्‌ने व्रजके गोपबालकोंके, वैसे अन्य भी सभी व्रजजनोंके, अन्तःकरणाध्यासके निवारणका अनुभाव प्रकट किया है. यहां वृन्दावनलीला तथा गोष्ठलीला यों उभयविधलीलाओंका वर्णन हुवा है.

पञ्चम (आदितः १६=१९) अध्यायमें: जीवात्माके साथ जो अज्ञानरूप दोष होता है उसे, निजासक्तिमें दावाग्निरूप जान कर, भगवान्‌ने शान्त किया. अतः द्वितीय दावाग्निपानद्वारा भगवान्‌ने अपना माहात्म्य प्रकट करके निरोधांगभूत भगवदासक्तिकी भक्तिस्वरूपताको दृढ़ करनेको अपने ज्ञान गुणको ही अपनी गायोंकेलिये प्रकट किया है.

षष्ठ (आदितः १७=२०) अध्यायमें: वर्षा और शरद् ऋतुओंके वर्णनमें, वैसे तो स्वयं श्रीहरिको तटस्थ सा दरसाते हुवे, भगवल्लीलासामयिक कालका ही निरूपण मुख्यतया हुवा है. अन्ततः इस तरह भगवल्लीलार्थ अभीष्ट कालमें सभी बातोंके दोषरहित हो जानेके वर्णनसे भी भगवान्‌का

माहात्म्य ही यहां भी निरूपित हुवा जान लेना चाहिये. इस अध्यायके उपक्रममें ही—"गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः, मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ व्रजं गतौ"(१०।१७।२) वचनमें भी यही बात स्पष्ट कर दी गयी है. दृढ़ आसक्तिवाले निरुद्ध भक्तोंके ही बीचमें सम्पन्न की गयी क्रीड़ाद्वारा भगवान्का वैराग्य गुण यहां सूचित हुवा है.

सप्तम (आदितः १८=२१) अध्यायमें: इन छह गुणधर्मोंवाले धर्मिस्वरूप स्वयं परब्रह्मका "रसो वै सः. रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"श्रुतिवचनके अनुसार रसात्मक वर्णन यहां अभिप्रेत है.

निष्पाद्य रसानुभूतिके किसी भी प्रकारमें एक तो प्रमुख अंगी स्थायिभाव होता है, जो आभ्यन्तर होनसे रसिकजनकेलिये हृदयैकगम्य होता है; और दूसरा अंगभूत निष्पादक आलम्बनविभाव होता है, जो बाह्य होनेसे सर्वजनोंके नयनगम्य होता है. रसशास्त्रीय मर्यादाके सन्दर्भमें—"विभावानुभाव-सञ्चारिभावैः निष्पन्नः स्थायिभावो रसः स्मृतः" वचनके अनुसार विभावादि सकल उपादान निष्पादक कोटिमें आते हैं तथा स्थायिभाव निष्पाद्य कोटिमें.

रसानुभूति न तो केवल सुखानुभूति होती है और न केवल दुःखानुभूति ही. सुख या दुःख सभी कुछ जिसमें अनुकूलतया आस्वाद्य बन जायें ऐसी आनन्दानुभूतिको ही 'रसानुभूति' कहा जाता है. सामान्यतया, अतएव, आलम्बनविभाव आनन्दजनक होता है; और स्थायिभाव आनन्दरूप. प्रकृत प्रसंगमें भगवान्को आलम्बनविभाव तथा भगवदासक्तिको स्थायिभाव समझना चाहिये. "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"(तैत्ति.उप. ३।६।१) वचनके आधारपर भगवत्स्वरूपानन्द हो अथवा भगवदासक्तिरूप आनन्द हो दोनों ही मूलमें आनन्द होनेसे साक्षात् परब्रह्मात्मक ही हैं. अतएव "बर्हापीडं नटवरवपुः..." (भा. १०।१८।५) वचनकी सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुने भगवान्का दो रूपोंमें आलम्बनविभाव होना समझाया है :—

(१) निष्पाद्य रसानुभूतिके बाह्य आलम्बनतया निष्पादक भगवान्, प्रत्यग्र भोक्तृभावापन्न होनेके कारण, प्रत्यक्ष सन्निधिमें 'वर' पदसे अभिधेय होते हैं.

(२) निष्पाद्य स्थायिभाव जहां स्वयं ही 'आसक्तिभ्रम'न्यायेन घनीभूत हो जानेके कारण निष्पादक सकल आभ्यन्तर सामग्रीतया जब आलम्बनविभावादिको भी भोग्यभावापन्न बना देता है तब भगवान् 'नट'पदसे अभिधेय बन जाते हैं.

ब्रह्मको 'आनन्द' जैसे कहा गया है, वैसे ही 'आनन्दमय'(तैत्ति. उप. ३।६।१ तथा २।५।१) भी कहा गया है. "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"(तैत्ति. उप. २।१।१) वचनके आधारपर आनन्दको देशकृत कालकृत तथा स्वरूपकृत त्रिविध परिच्छेदोंसे रहित भी माना गया है. अतः जब आनन्द सर्वतः अनन्त ही हो तो,. न तो प्राचुर्य और न विकार ही अर्थ उपपन्न हो पाते हैं. क्योंकि अनन्तका अनन्तसे गुणाकार करनेपर गुणनफल भी अनन्त ही तो मिलता है—प्रचुर अनन्त नहीं; और 'मयट्'को विकारके अर्थमें तो स्वयं ब्रह्मसूत्रकारने मान्य नहीं रखा है. फिरभी "अजायमानो बहुधा विजायते"(तैत्ति.आर. ३।१३।४०-४१) वचनद्वारा निर्दिष्ट नीतिका अनुसरण करनेपर आत्मरमणशील ब्रह्मको यदि आनन्दरूप मान लें तो आत्मभावित भक्तोंके हृदयमें भगवदासक्ति या स्थायिभाव को परमानन्दतया रसरूप मानना चाहिये. ऐसे ही भक्तोंके हृदयमें विद्यमान भगवदासक्तिरूप आनन्दको स्थायिभावात्मक रस मान लें तो नयनोंके सामने स्नेहके आलम्बनविभावतया रममाण भगवान्को आनन्दमय भी माना जा सकता है. संक्षेपमें परब्रह्म, केवल स्वरूपतया अगणितानन्द होनेपर भी, लीलाविशिष्टतया आनन्दमय बन जाता है. अगणित आनन्दमें भी यह विलक्षण प्राचुर्य भगवत्स्वरूप या भगवल्लीला की अपेक्षासे न होकर, रसिक भक्तके स्वरूपासक्त या लीलासक्त हृदयकी अपेक्षासे ही होता है.

प्रकृतमें भगवान् भी नटवरवपु बन कर प्रकट हुवे हैं. इस नटवरवपुद्वारा किये गये वेणुवादनने ही व्रजस्थित गोपीजनोंके हृदयमें विद्यमान निरुपधिक भगवदासक्तिको शृंगारात्मिका बनाया है. तदनुरूप शृंगारात्मिका रतिका आलम्बनविभावोचित नयनगोचर अलौकिक रूप भी भगवान्ने धारण किया है. अवशिष्ट उद्दीपनविभाव शरदृतुसामयिक वनश्री हरिणी अप्सरायें गाय पक्षिगण नदी गोवर्धन आदि हैं. अनुभाव तो स्वयं भगवान्की विचित्र वेषभूषा है ही.

इस तरह वेणुवादनरत स्वयं भगवान्का दर्शन एवं वेणुनादश्रवण भी व्रजमें ही हो जानेकी अलौकिक घटना लौकिक प्रक्रियासे तो

सम्भव नहीं! इसे 'आसक्तिजन्य भ्रम' मानना पूर्वप्रतिपादित भगवद्रूप-भगवल्लीलाकी अलौकिकताके बारेमें नितान्त अनभिज्ञताका प्रकाशन ही होगा. अतएव इस अलौकिक अनुभावको समझानेको उदाहरणतया तो 'आसक्तिभ्रम'न्याय उपयोगमें लाया जा सकता है, एतावता भ्रम ही मान लेना 'गोमयं-पायसं' न्याय होगा! "अपने दुर्बोध स्वरूपका बोध प्रदान करनेको भगवान् भूतलपर प्रकट होते हैं. भगवान्की उन दिव्य लीलाओंके अमृतसागरकी लहरिओंमे हिलोरे लेनेके प्रेमी जन तो, ब्रह्मसायुज्यकी अभिलाषासे भी विरत हो कर, निरन्तर भगवान्के चरणकमलोंको घेर कर रहनेवाले परम हंसोंके संगकी कामनासे अपना घरबार आदि सभी कुछ छोड़ बैठते हैं!" (भा. १०।८७।२१) इस वचनके भी आशयका शान्त चित्तसे विचार करनेपर यह तो स्पष्ट है ही. अतः जैसे ऋषियोंको ब्रह्मविद्योपदेशके कारण परमतत्त्वकी अपरोक्षानुभूति हो जाती थी, वैसे ही इस वेणुनादामृतपायनरूप विद्योपदेशद्वारा भगवान्ने व्रजमें स्थित गोपिकाओंको, वहीं व्रजमें बैठे-बैठे, वृन्दावनलीलाके अपरोक्षदर्शनकी सामर्थ्य प्रदान कर दी थी! इस वेणुनादको ऐसे दिव्य सामर्थ्यवाला नादामृत श्रीमहाप्रभु मानते हैं. यह भगवदासक्ति उस भगवत्स्नेहके कारण पनपी है कि जिसे स्वयं भगवान्ने ही अपने वेणुकूजनद्वारा उद्बुद्ध किया है.

इस प्रसंगमें व्रजस्थ गोपीजनोंकेद्वारा वृन्दावनलीलाका वर्णन, जैसी दिव्य भगवदासक्तिके कारण एवं भगवदनुभावकी जैसी दिव्यानुभूतिके कारण हुवा है, भगवान्के अन्तरंग गोपसखाओंकी भी वैसी ही दिव्य भगवदासक्ति एवं भगवदनुभावकी वैसी ही दिव्यानुभूतिकी सामर्थ्य, उपलक्षणविधिसे यहां भी अभिप्रेत समझ लेनी चाहिये. पूर्वाध्यायमें जिस कालका वर्णन हुवा था, वह तो द्वादशमासात्मक होता है, उस कालसे अधिक उत्तमता द्योतित करनेको यहां तेरह श्लोकोंमें भगवान्का वर्णन किया गया है. इस विवेचनासे यह सिद्ध होता है कि निरूप्यमाण अति अद्भुत वेणुवादनमें भगवान्ने प्रकृत लीलामें परिगृहीत प्रमेयरूपके बोधदायी ब्रह्मविद्योपदेशका अनुभाव प्रकट किया है.

इस तरह प्रमेय-प्रकरणमें प्रतिपाद्य विषयका संक्षेपमें अनुशीलन करनेके बाद अब हमें साधन-प्रकरणमें प्रतिपाद्य विषयके अनुशीलनार्थ प्रवृत्त होना है.

तामस साधन प्रकरणका औपनिषद सन्दर्भ

> अणुसे अणुतर और महान्से महत्तर इस जन्तुकी आत्मा गुहामें निहित है...बैठे-बैठे वह दूर-दूर पहुंच जाती है; और लेटे-लेटे भी वह सब जगह जा सकती है...यह आत्मा न तो प्रवचनसे न मेधासे और न बहुत श्रवण करनेसे ही मिल पाती है. यह स्वयं जिसका वरण करती है, वही उसे पा सकता है. उसीकेलिये यह अपने स्वरूपको प्रकट करती है. जो दुश्चरितसे विरत न हो, जो शान्त न हो, जो समाहित न हो; अथवा जिसका मन ही शान्त न हो, ऐसा कोई केवल प्रज्ञानसे इसे पा नहीं सकता...सभी लोगोंके नेत्रोंके जैसा होनेपर भी सूर्य हमारे नेत्रोंके बाह्य दोषोंसे कभी लिप्त नहीं होता; उसी तरह प्राणिमात्रकी वह एक अन्तरात्मा, सभी प्राणिओंसे बाह्य होनेके कारण, किसी भी प्राणीके लौकिक दुःखोंसे लिप्त नहीं हो पाती. वह एक वशी सर्वभूतान्तरात्मा अपने एक रूपमेंसे बहुरूप प्रकट करता है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं. वह नित्योंमें नित्य है, चेतनोंमें चेतन है, वही अकेला बहुतोंकी कामनाओंको पूर्ण करनेवाला है, जो धीर पुरुष उसे अपनी आत्माके भीतर अवस्थित समझ पाते हैं, उन्हें ही शाश्वत शान्ति मिलती है दूसरोंको नहीं.
>
> (कठोपनिषत्).

विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें पारमात्मिक उपलब्धिके अथवा पारमात्मिक जीवन जीनेके तत्तत् शास्त्रोंद्वारा विहित उपायोंके अनुष्ठानोंके साथ ही साथ भगवत्कृपाका भी कुछ न कुछ असाधारण महत्त्व स्वीकारा ही गया है. ईश्वरवादी कोई भी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि कायिक वाचिक या मानसिक यों तीनों ही अथवा तीनमेंसे किसी एकाद साधनके भी अनुष्ठानकी आवश्यकता स्वीकारता न हो. याग होम पूजन यात्रा प्रणिपात व्रत जागरण आदि कायिक साधनानुष्ठानके

उदाहरण गिनाये जा सकते हैं. नाम/मन्त्र का जप स्तुति प्रार्थना कीर्तन ग्रन्थपारायण आदि वाचिक साधनानुष्ठानके उदाहरण हैं. इसी तरह श्रवण मनन धारणा ध्यान भावन आदि मानसिक साधनानुष्ठानके उदाहरण माने जा सकते हैं.

साधनानुष्ठानकी तरह परमेश्वरके अनुग्रहकी आवश्यकताका भी अस्वीकार अशक्य ही है. इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता कि परमात्माका स्वरूप कोई धर्म-सम्प्रदाय किस प्रकारका स्वीकारता है: कोई परमेश्वरका स्वरूप निर्गुण-निराकार स्वीकारता है, तो कोई सगुण-निराकार; तो अन्य कोई उसे सगुण-साकार भी मानता है. कोई नराकार तो कोई नार्याकार या कोई उभयविलक्षणाकार भी मानता है. कोई जगदन्वित-जगदतीत अर्थात् परमात्माको जगत्‌का उपादानकारण भी एवं कर्ता भी मानता है. तो कोई जगदतीत अर्थात् केवल कर्ता ही मानता है. कोई उसे अनुपादान-अकर्ता गुरु या कूटस्थ साक्षी ही मानता है.

इन अनेक प्रकारोंमेंसे यथारुचि अभिमत प्रकारवाले परमतत्त्वके अनुग्रहकी कुछ न कुछ आवश्यकता तो स्वीकारी ही गयी है.

इसे "साधनानुष्ठान और/अथवा अनुग्रह" के सरल समीकरणद्वारा निरूपित नहीं किया जा सकता है. अतः कई विचारणीय मुद्दे सामने आते हैं, यथा :—

(१) क्या साधनानुष्ठान एक ऐसा सहायक उपाय है कि जिसके बिना केवल भगवत्कृपा फलजननार्थ स्वतःसमर्थ नहीं हो पाती है?

(२) क्या साधनानुष्ठान तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही अनुष्ठेय होता है; अर्थात् वास्तविक उपाय तो केवल भगवत्कृपा ही होती है?

(३) क्या साधनानुष्ठान कोई ऐसा प्रमुख उपाय है कि जिसका सहायक उपाय भगवत्कृपा है?

(४) क्या साधनानुष्ठान केवल प्राथमिक उपायारम्भमात्र है कि जिसकी पूर्णता भगवत्कृपाके बिना शक्य नहीं?

(५) क्या साधनानुष्ठान, साक्षात् स्वयं फलजनक न होनेपर भी, फलजनक जो भगवत्कृपा होती है उसे उत्पन्न या उद्बुद्ध करनेका कोई उपाय है?

(६) क्या साधनानुष्ठान ही वास्तविक उपाय होता है; अर्थात् भगवत्कृपा तो केवल साधनानुष्ठानके साथ हमारे भीतर गर्व-मद जैसे दुर्गुण कहीं पनप न जायें, एतदर्थ शास्त्रोंद्वारा सूचित एक मधुर-मंगल कैतवमात्र है?

श्रीशंकराचार्य जीवात्माके प्रमातृत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोंको पारमार्थिक नहीं मानते हैं. इन मायिक धर्मोंके कारण अनुष्ठित साधनाओंका भी, अतएव, अपारमार्थिक होना तो अनुक्तसिद्ध ही है. फिरभी "जीव ईशो विशुद्धा चिद् विभागस्त्वनयोर्द्वयोः अविद्या तत्कृतो बन्धः षडस्माकमनादयः"की सुनिर्धारित नीतिके अनुसार जीवात्माके इन प्रमातृत्वादि धर्मोंको अनादिव्यवहारसिद्ध तो माना ही गया है. अतः निर्विशेष ब्रह्मको, जैसे, निरुक्त्यर्ह-विशेष-शून्यताके अर्थमें अनिर्वचनीय माना जाता है, उससे वैपरीत्येन केवल सत्त्वासत्त्वान्यतर-निरुक्ति-शून्यताके अर्थमें ही इन प्रमातृत्वादि धर्मोंको अनिर्वचनीय मिथ्या माना गया है—स्वरूपविशेषशून्यतया नहीं. अतः व्यवहारमें इनका स्वरूप क्या-कैसा है यह अवलोकनीय बन ही जाता है.

शांकर भाष्य (ब्र.सू. २।३।४१)में इस विषयकी मीमांसा की गयी है. यथा :—

> तस्मात् स्वतएव अस्य कर्तृत्वम् इति एतां प्राप्तिं 'तु'शब्देन व्यावर्त्य प्रतिजानीते—'पराद्'इति. अविद्यावस्थायां कार्य-कारण-संघाताविवेक-दर्शिनो जीवस्य अविद्यातिमिरान्धस्य सतः परस्माद् आत्मनः कर्माध्यक्षात् सर्वभूताधिवासात् साक्षिणः चेतयितुः ईश्वरात् तदनुज्ञया कर्तृत्व-भोक्तृत्व-लक्षणस्य संसारस्य सिद्धिः; तदनुग्रहहेतुकेनैव च विज्ञानेन मोक्षसिद्धिः भवितुम् अर्हति...यद्यपि च लोके कृष्यादिषु कर्मसु न ईश्वरकारणत्वं प्रसिद्धं; तथापि सर्वास्वेव प्रवृत्तिषु ईश्वरो हेतुकर्ता इति श्रुतेः अवसीयते. तथाहि श्रुतिः भवति— "एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष ह्येवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते" इति. "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मानमन्तरो यमयति" इति च एवंजातीयका.

अर्थात् "परात्तु तच्छ्रुतेः"सूत्रमें 'तु'पदद्वारा जीवात्मा स्वतएव भी कर्ता हो सकती है, ऐसी धारणाका

> व्यावर्तन किया गया है. कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवास साक्षी चेतयिता ईश्वर परमात्माकी अनुज्ञासे ही, कार्य-कारणसंघातमें विवेकदर्शन नहीं कर पानेके कारण, अज्ञानतिमिरान्ध जीवको कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भ्रान्तिवाला संसार हो जाता है. इसी तरह परमात्माके अनुग्रहवशात् ही प्रकट होनेवाले विज्ञानके कारण मोक्ष भी हो सकता है... लोकमें कृषि आदि कर्मोंमें ईश्वरकी कारणता दिखलायी नहीं देती, फिरभी जीवात्माद्वारा सम्पन्न की जाती सभी प्रवृत्तिओंको करानेवाला तो ईश्वर ही होता है, ऐसा श्रुतिके आधारपर समझमें आता है. वह श्रुति है: "जिसे वह उठाना चाहता है उससे अच्छे काम करवा लेता है — जिसे वह गिराना चाहता है उससे बुरे काम करवा लेता है"; और "जो हमारी आत्माके भीतर रह कर भीतर ही से आत्माका नियमन करता है" ऐसी श्रुतियां भी कुछ हैं ही.

ईश्वरानुज्ञासे कर्तृत्वादिलक्षण सांसारिक बन्धन एवं ईश्वरानुग्रहसे ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानलक्षण मोक्ष की बात करनेपर ईश्वरमें वैषम्य-नैर्घृण्यदोषोंकी जो आपत्ति सामने आती है, उसका परिहार यों दिया गया है कि जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार परमात्मा कर्म करवाता है तथा किये हुवे कर्मोंके ही अनुसार फल भी देता है. परन्तु जीवात्माका कर्तृत्व ही, यदि ईश्वरायत्त हो तो, दुष्कर्म करवा कर अशुभ फल देनेवाले ईश्वरको शुभशक्ति कैसे कोई मान पायेगा? श्रीशंकराचार्य इस आपत्तिका समाधान यों देते हैं कि यदि ईश्वरको, कर्मोंके अनुसार फलदान करनेवाला, नहीं मानते तो विधि-निषेध या तो अर्थहीन बन जायेंगे या फिर जीवके सर्वथा पराधीन होनेके कारण स्वयं ईश्वरपर ही वे विधि-निषेध लागू होंगे. दोनों ही बातें स्वीकार्य हो नहीं सकती. इसी तरह ईश्वरको जीवात्माके प्रयत्नोंके अनुसार कर्म करानेवाला नहीं मानते तो, ईश्वरके सर्वथा निरपेक्ष होनेके कारण या तो शुभ कर्मोंका अशुभ फल एवं अशुभ कर्मोंका शुभ फल भी वह दे सकता है, ऐसी घोर अव्यवस्था स्वीकारनी पड़ेगी या फिर शुभाशुभ कर्मोंके बोधक वेदका प्रामाण्य ही अनावश्यक हो जायेगा. लौकिक पुरुषकारका तथा देशकालादिरूप निमित्तोंका भी कोई अर्थ नहीं रह जायेगा. अतः अपने

पूर्वजन्मोंकी वासनाओंके अनुसार जीवात्मा, जैसे प्रयत्न करना चाह रही हो, वैसे कर्म जीवात्मासे करवा कर कर्मानुसारी फलदान करनेवाला परमात्माको स्वीकार लेना चाहिये. परमात्मा और जीवात्मा के बीच केवल प्रेरक-प्रेरित या स्वामि-भृत्य होनेका केवलद्वैतघटित सम्बन्ध होता तो ऐसी आपत्ति गम्भीर मानी जा सकती थी; परन्तु परमात्मा और जीवात्मा के बीच 'अग्निविस्फुलिंग'न्यायेन व्यावहारिक द्वैताद्वैतघटित अंशी तथा अंश होनेका सम्बन्ध है. अर्थात् विशुद्धचित्के विचारसे ही ब्रह्मात्म्यैक्य=केवलाद्वैत उपदेष्टव्य होता है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।३।४२-५३). अतएव "फलमत उपपत्तेः" (ब्र.सू.भा. ३।२।३८-४१) अधिकरणमें श्रीशंकराचार्य यों प्रतिपादन करते हैं: कर्मसापेक्षतया अथवा अपूर्वसापेक्षतया जैसे भी स्वीकारना हो स्वीकार कर, हर सूरतमें प्राक्कर्मवासनाओंकी अपेक्षा रख कर ही ईश्वर धर्माधर्मोंका कारयिता बनता है. इस तरह स्वप्रेरित कर्मोंकी अपेक्षा रख कर ईश्वर फलदाता भी होता है, इन तथ्योंका अस्वीकार वेदान्तमें शक्य नहीं है.

इससे सिद्ध होता है कि निर्गुण-निराकार अनुपादान-अकर्ता कूटस्थ साक्षी रूप ब्रह्मके उपदेशक केवलाद्वैतवादको भी, "अहं ब्रह्मास्मि"की अद्वैतभावनामें सम्प्रतिष्ठ होनेके आदर्शके बावजूद, परमेश्वरके प्रसादकी आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ी है.

न केवल इतना अपितु भगवदनुग्रहका एक असाधारण महत्त्व यह भी दिखलाया है:—

> 'सर्वकर्माणि'=प्रतिषिद्धानि अपि, 'सदा कुर्वाणो' = अनुतिष्ठन् 'मद्व्यपाश्रयः' = अहं वासुदेवः ईश्वरो व्यपाश्रयः यस्य स मद्व्यपाश्रयः, मय्यर्पित-सर्वात्मभावः इत्यर्थः. सोऽपि 'मत्प्रसादात्' = मम ईश्वरस्य प्रसादाद् 'अवाप्नोति शाश्वतं'=नित्यं वैष्णवं 'पदम् अव्ययम्'.
>
> (गी.शां.भा. १८।५६).
>
> अर्थात् निष्काम/सकाम या विहित/निषिद्ध कर्म करनेवाला जो भी वासुदेवका आसरा ले लेता है — भगवान्में सर्वात्मभावके साथ अर्पित हो जाता है तो भगवान्के प्रसादसे ऐसा भी जीव शाश्वत = नित्य अव्यय विष्णुपदको प्राप्त कर लेता है.

वैसे यह हकीकत है कि निर्गुण-निराकारवादमें बन्ध, उससे मुक्ति

पानेको किये जाते साधनानुष्ठान, उसकी सफलताकेलिये अपेक्षित ईश्वरानुग्रह; और अन्ततः स्वयं ईश्वर भी निर्विशेष चिन्मात्र अधिष्ठानके अद्वैतमें मायाद्वारा आरोपित केवल द्वैतविक्षेप ही हैं. अतएव इस विषयमें श्रीशंकराचार्यके प्रस्तुत विधान मननीय हैं :—

> “ईश्वरस्यापि अनपेक्ष्य किञ्चित् प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिः भविष्यति. नहि ईश्वरस्य प्रयोजनान्तरं निरूप्यमाणं न्यायतः श्रुतितो वा सम्भवति; नच स्वभावः पर्यनुयोक्तुं शक्यते. यद्यपि अस्माकम् इयं जगद्बिम्बरचना गुरुतरसंरम्भेव आभाति तथापि परमेश्वरस्य लीलैव केवला इयम्, अपरिमितशक्तित्वात्. यदि नाम लोके लीलास्वपि किञ्चित् सूक्ष्मं प्रयोजनम् उत्प्रेक्ष्येत, तथापि नैव अत्र किञ्चित् प्रयोजनम् उत्प्रेक्षितुमपि शक्यते, ‘आप्तकाम’त्वश्रुतेः. नापि अप्रवृत्तिः उन्मत्तप्रवृत्तिः वा सृष्टिश्रुतेः सर्वज्ञश्रुतेः च. नच इयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः, अविद्याकल्पितनामरूपव्यवहारगोचरत्वात्...”
>
> अर्थात् किसी भी प्रयोजनान्तरकी अपेक्षा रखे बिना स्वभावसे ही केवल लीलारूपा प्रवृत्ति ईश्वर करता है. श्रुतिवचन या न्याय के आधारपर भी ईश्वरके लिये प्रयोजनान्तर बात सोची नहीं जा सकती; और न स्वभावके बारेमें कुछ पूछा ही जा सकता है. यह तो ठीक है कि हमारेलिये सृष्टिका निर्माण बहोत बड़ी बात लगती है परन्तु अपरिमित शक्तिवाले ईश्वरकेलिये तो यह केवल लीला ही है. हो सकता है कि लोकमें लीलामें भी कोई सूक्ष्म प्रयोजन काम कर रहा हो पर आप्तकाम ईश्वरकेलिये तो प्रयोजनकी बात ही सोची भी नहीं जा सकती है. न तो अप्रवृत्तिकी और न उन्मत्तजनवत् प्रवृत्तिकी बात ही परमेश्वरके बारेमें सोची जा सकती है, क्योंकि उसके प्रवृत्त न होनेपर सृष्टि कैसे प्रकट हुई और उन्मत्तजनकी तरह प्रवृत्त होनेपर कोई उसे सर्वज्ञ कैसे मान पायेगा? वैसे यह बात भूलनी नहीं चाहिये कि ब्रह्मके पारमार्थिक स्वरूपका निरूपण यहां अभिप्रेत नहीं है प्रत्युत अविद्याकल्पित नामरूपात्मक व्यवहारसिद्ध परमेश्वरके रूपका निरूपण ही यहां अभिप्रेत है.

अतः जैसे व्यवहारसिद्ध बन्धकी निवृत्तिकेलिये “अहं ब्रह्मास्मि” इत्याकारिका चित्तकी व्यवहारसिद्ध प्रमाणवृत्ति भी आवश्यक होती है, वैसे ही, व्यावहारिक सत्य ईश्वरानुग्रहकी भी कुछ न कुछ आवश्यकता तो स्वीकारनी ही पड़ेगी. क्योंकि प्रस्तुत सन्दर्भमें ही भगवदर्पित सर्वात्मभावको “अहं ब्रह्मास्मि” ज्ञानवृत्तिसे पृथक् माननेपर “ऋते ज्ञानाद् न मुक्ति”की नीतिके साथ विसंवाद खड़ा होगा. तादृश ज्ञानरूप स्वीकारनेपर तो परमात्माके प्रसादसे ही उसकी उपलब्धि होती है—परमात्माका प्रसाद उससे उपपलब्ध नहीं होता, स्वयं बाधित हो जानेके कारण. अतः व्यवहारमें परमात्माके अनुग्रहकी व्यावहारिक आवश्यकता भी ठीक उतनी ही है कि जितनी आवश्यकता व्यावहारिक साधन “अहं ब्रह्मास्मि” वृत्तिकी होती है.

इस विषयमें श्रीशंकराचार्यने अपना उल्लेखनीय अभिप्राय इन शब्दोंमें दिया है :—

> यत्तु उक्तं ‘हिरण्यश्मश्रुत्वादिरूपश्रवणं परमेश्वरे न उपपद्यते’ इति, अत्र ब्रूमः—स्यात् परमेश्वरस्यापि इच्छावशाद् मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्... अपिच यत्र निरस्तसर्वविशेषं पारमेश्वरं रूपम् उपदिश्यते, भवति तत्र शास्त्रम्—“अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्” इत्यादि. सर्वकारणत्वात्तु विकारधर्मैरपि कैश्चिद् विशिष्टः परमेश्वरः उपास्यत्वेन निर्दिश्यते—“सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः” इत्यादिना (ब्र.सू.भा. १।१।२०).
>
> अर्थात् “वह सुनहरी मूंछोंवाला है” आदि वचनोंमें निरूपित रूप परमेश्वरके सम्भव नहीं लगते; परन्तु हम इस विषयमें यह कहना चाहेंगे कि साधकोंपर अनुग्रह करनेकी स्वयंकी इच्छावश परमेश्वर भी मायामय रूप धारण कर सकता है. जहां निर्विशेष परमेश्वरका निरूपण करना हो वहां शास्त्र “अशब्द अस्पर्श अरूप अव्यय” आदि रूपमें उसका निरूपण करते हैं. वह सर्वकारण भी तो है ही अतः कहीं-कभी उसे कुछ विकारधर्मोंवाला मान कर उसकी उपासना भी उपदिष्ट

हुई हैं. जैसे ''वह सर्वकर्मा सर्वकाम सर्वगन्ध सर्वरस है''इत्यादि.

उत्तरकालिक शांकरोंके —''ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामेव जायते''(खण्डनखण्डखाद्य) जैसे वचनोंका आशय भी इस नीतिके अनुसार ही लेना चाहिये.

श्रीभास्कराचार्य, वैसे तो वैष्णव वेदान्ती रहे होंगे यह उनके —''तदेतत् सर्वं श्रुतिप्रसिद्धमेव तस्माद् न अत्र निराकरणीयं पश्यामः...अवान्तरं तु तन्त्रान्तरे विरुद्धं किञ्चिद् लक्ष्यते तत् निरस्यते''(ब्र.सू.भा. २।२।४१) इन उद्गारोंसे स्पष्ट होता है. फिरभी इतर वैष्णव वेदान्तिओंकी तुलनामें इनका पार्थक्य ये सगुण-निराकारवादी हैं, अतः श्रीशंकराचार्यकी तरह लीलार्थ या उपासकानुग्रहार्थ परिगृहीत रूपको मायिक/मिथ्या माननेको समुद्यत नहीं हैं. वे कहते हैं:—

> ...परमेश्वरस्यापि सर्वशक्तित्वाद् उपासकानुग्रहाय रूपोपादानसम्भवात्. किं मायामयं रूपं? 'न'इति ब्रूमः! पारमार्थिकमेव एतत् (ब्र.सू.भा.१।१।२०).
>
> अर्थात् परमेश्वरके सर्वशक्ति होनेके कारण उपासकोंपर अनुग्रह करनेकेलिये वह रूपधारण भी कर सकता है. क्या इसे मायामय रूप मान लेना चाहिये? हमारा उत्तर है: नहीं! यह तो पारमार्थिक रूप ही होता है.

शांकर मतकी समालोचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि अविद्याके कारण अन्तर्यामिसर्गको तथा प्राक्तन कर्मोंके कारण मनुष्यादि जीवसर्गको स्वीकारनेकी विचाररीति उचित नहीं है, क्योंकि अन्तर्यामी परमात्माकी नियन्तृरूपा शक्ति पारमार्थिक ही होती है. परमेश्वरकी कल्पना करनेवाला परमेश्वरसे भी पूर्वभावी ऐसा कौन हो सकता है कि जिसकी कल्पना होनेके कारण इस अन्तर्यामीको किसीके अज्ञानसे पनपी भ्रान्ति कहा जा सके! और परमात्माका सर्वज्ञ-सर्वशक्ति होना तो उपनिषदोंका घोषित सिद्धान्त ही है (द्रष्टव्य: ब्र.सू.भा. २।१।३४). श्रीभास्कराचार्य तो परमात्मा और जीवात्मा के बीच महाकाश-घटाकाशकी तरह स्वाभाविक अभेद एवं औपाधिक भेद, यों पारमार्थिक भेदाभेदघटित अंशांशिभाव स्वीकारते हैं. अतएव, निरायास ही, जीवके कर्तृत्वादि धर्मोंको पारमार्थिक, अन्तःकरणोपाधिक एवं परमेश्वराधीन भी मान लेते हैं. इनके अनुसार कर्तृत्वादि धर्मोंके औपाधिक होनेके कारण उन्हें अपारमार्थिक नहीं मान लेना चाहिये. क्योंकि जैसे करवत आदि औज़ारोंके साथ होनेपर सुतार काष्ठछेदनादि कर्मोंका कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं, ऐसे ही अन्तःकरणरूप उपाधिके कारण ही जीव भी कर्ता बन पाता है अन्यथा नहीं. आगके समीप होनेपर उसकी उष्णता एवं दाह हमारे शरीरमें भी संक्रान्त हो जाते हैं, इस औपाधिक उष्णता एवं दाह को कौन अपारमार्थिक मान सकता है? साथ ही साथ श्रीभास्कराचार्य यह खुलासा भी देते हैं कि विभिन्न जातिके बीजोंके अनेकविध पुष्प फल या धान्य के प्रोहणमें वर्षाकी तरह, जीवोंके भी स्व-स्वकर्मानुसारी विभिन्न शुभाशुभ फलोंके भोगके प्रदानमें, ईश्वर भी सामान्य कारण ही होता है, विशेष नहीं. इस तरह अंशरूप जीवकर्तृत्वके ईश्वराधीन होनेपर भी जीवके शुभाशुभ कर्मोंसे अंशी ईश्वर लिप्त नहीं होता. एतावता ऐसी आपत्ति भी उठायी नहीं जा सकती कि ईश्वर अपने सभी अंशोके साथ पक्षपातरहित समान व्यवहार नहीं निभाता है; अर्थात् किसीपर अकारण प्रसन्न हो कर शुभफल प्रदान कर देता है तो किसीके प्रति अति निष्ठुर हो कर अशुभफल दे देता है.

इस अंशांशिभावकी विवेचना करते हुवे श्रीभास्कराचार्य यह भी कहते हैं कि 'अंश'पदके अनेक अर्थ होते हैं, यथा, एक तो पटके कारण होनेके अर्थमें तन्तुओंको अंश तथा पटको अंशी माना जाता है, दूसरे किसी द्रव्यराशीके विभाज्य अंशोंमें तत्तद् भागोंको लेनेवाले अधिकारिओंको भी 'अंशी' कहा जाता है. वैसे अर्थोंकी विवक्षावश यहां 'अंश'पद प्रयुक्त नहीं हुवा है; परन्तु, उल्लिखित घटाकाश-महाकाश या अग्नि-विस्फुलिंग के उदाहरणोंमें प्रयुक्त 'अंश'पदके जैसे अर्थकी विवक्षावश ही यहां 'अंश'पद प्रयुक्त हुवा है (अर्थात् घटोपाधिवश आकाशके चल पानेकी क्रिया महाकाशमें स्वीकारी नहीं जा सकती दोनोंमें रहे स्वाभाविक अभेदके बावजूद).

इस विवेचनासे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीभास्कराचार्यके मतके अनुसार लीलार्थ प्रादुर्भावित सृष्टिमें अंशरूप जीवात्माके साधनानुष्ठानके साथ-साथ अंशी परमात्माके प्रकट/अप्रकट पारमार्थिक रूपके अनुग्रहकी भी आवश्यकता तो है ही.

इसके बाद, वैसे ब्रह्मसूत्रपर या श्रौत उपनिषदोंपर काश्मीरी शैव

सम्प्रदायवालोंके ग्रन्थ लिखे गये हों या नहीं; परन्तु सर्वोपनिषत्सार भगवद्गीतापर काश्मीरी शैवाचार्योंने जो व्याख्याएं लिखी हैं उनमें सम्भवतः प्राचीनतम व्याख्या शैव शुद्धाद्वैती राजानक श्रीरामकवि (वि.सं. १००६) तथा महामाहेश्वर राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्य (वि.सं. ११२४) द्वारा लिखित हैं. ये क्रमशः 'सर्वतोभद्रा' तथा 'गीतार्थसंग्रह' नाम्ना प्रसिद्ध हुई हैं. अतः साधनानुष्ठान तथा परमेश्वरानुग्रह के बारेमें इनके दृष्टिकोणको भी एक बार देख लेना प्रासंगिक ही होगा.

भेदमात्रको मिथ्या माननेवाले ये दोनों विचारक परमेश्वरके लोकानुग्रहार्थ प्रकटित रूपको, जागतिक जड़जीवभेदकी तरह ही, मायिक माननेपर भी मिथ्या मानते हों ऐसा प्रतीत नहीं होता. एतदर्थ दोनोंके दो-दो वचनोंको दृष्टिगत करना पर्याप्त होगा :—

> (१) 'अजोऽव्ययात्मा' = नित्य होनेके कारण जन्मरहित होनेपर भी; तथा 'भूतानां' = सभी स्थावरजंगमोंके सर्ग-स्थिति-विनाशादिका यथेष्ट कर्ता होनेसे भी 'ईश्वरः' = समर्थ होनेपर भी. 'स्वां-प्रकृतिम्' = अद्वय चिन्मात्रलक्षण जो निज परम स्वभाव है 'अधिष्ठाय' = उसी स्वभावमें रहते हुवे, अर्थात् अपने स्वभावसे विचलित हुवे बिना, 'स्वमायया' = स्वात्माधीन माया कि जिसका प्राणभूत धर्म द्वैतका अवभासनमात्र है, ऐसी वह परमेश्वरकी हेतुभूत शक्तिविशेष है, उसके द्वारा 'संभवामि' = जन्मादिका परिग्रहण करता हूं. अतः...अपनी सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता को खोये बिना ही... (सर्वतो. ४।६).
>
> (१) श्रीभगवान्का तो किसी भी प्रकारके शरीरसे कोई सम्पर्क हो ही नहीं सकता, क्योंकि पूर्ण ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य गुणोंसे युक्त ही सदा रहते हैं. फिरभी स्थितिकारी होनेके कारण भगवान् करुणा करके अपने अंशको सिरजते हैं...अतएव भगवान्के जन्म-कर्म दिव्य ही होते हैं, क्योंकि आत्ममायासे अर्थात् योगप्रज्ञारूप अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे ही ये सम्पादित होते हैं कर्मसे नहीं (गी.सं. ४।६-९) .
>
> (२) अचिन्त्य निजशक्तिके माहात्म्यवश भगवान् अपने सतत चिन्मात्रस्वरूपसे प्रच्युत हुवे बिना ही जड़ और चेतन के विभागशः मानों दो रूपोंमें आभासित होते हैं. जगत्क्रीड़ाको सम्पन्न करते हैं...वस्तुतः तो परमकारणरूप परमात्मा परमेश्वरसे अभिन्न होनेपर भी भगवान्की मायाके वश मानों भिन्न हों ऐसे लगते हैं...ये दोनों जड़ और अजड़ प्रकृतियां, क्योंकि 'प्रकृति'का अर्थ स्वभाव होता है अतः, जड़ होनेके कारण विनश्वर होनेका तथा परस्पर भिन्न चेतन होनेका भी नाना रूप स्वभाव अद्वय चिन्मात्रस्वरूपका कैसे उपपन्न हो सकता है? ...संवेद्यमान होनेपर ही कोई भी भाव तत्तदात्मक हो पाते हैं. क्योंकि संवेद्यमानताके अलावा और किसी भी प्रकारान्तरसे किसी भी अवस्थामें कोई भी भाव उपलब्ध नहीं होते. इस तरह एकमात्र संवेदिता अपने संवेदनमें भावोंको सिरजता है. अतः सारे ही भाव संवेदिताके ही शक्तिरूप हैं—संवेदितासे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं...इस तरह क्रीड़ा करनेकी इच्छावश ही, असत्यको भी सत्यकी तरह आभासित करनेवाली स्वयं देवकी मायारूपा कोई एक पारमार्थिकी परा शक्ति होती है, उसे ही जब उसके कारण 'शिवोऽहम्'का परामर्श होने लग जाये तब 'विद्या' कहा जाता है (सर्वतो. ७।४-६-१०-१४).

> (२) 'अहम्' पदके प्रयोगके कारण प्रकृति-पुरुष-पुरुषोत्तमसे अभिन्न होनेपर भी ईश्वर सर्वथा सर्वानुगत होकर रहता है...अतः सत्त्वरजस्तमोरूप प्राकृत गुण वस्तुतः संविन्मात्र परब्रह्मसे अतिरिक्त नहीं हैं, फिरभी जो अतिरिक्त होनेका भान होता है, वह तो गुणोंका भोक्ताके आधीन होना, अर्थात् भोग्य होना ही सिद्ध करता है. संसारी जन उस भेदात्मक रूपका निर्वचन नहीं कर पाते. अतः उन्हें वह मायारूप लगता है. जो परमार्थब्रह्मप्रकाशके वेत्ता होते हैं, उन्हें तो ब्रह्मसे अतिरिक्त विश्व दिखलायी ही नहीं देता. अतएव वे सत्त्वादि गुणोंके भेदको भासित करनेवाली मायाके उस पार पहुंच पाते हैं. 'मामेव' पदमें 'एव'कार

इसी आशयसे जोड़ा गया है (गी.सं. ७।६-१४).

यह तो इनके शुद्धाद्वैतवादी होनेके निदर्शनार्थ ही प्रमाणतया वचन उद्धृत किये हैं. प्रकृत विषय — साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह — के बारेमें राजानक श्रीरामकवि कहते हैं :—

> अद्वय चिन्मात्रस्वभाव परमात्मा तत्तद् जीवात्माओंकी तत्तत् पुण्यपापात्मिका क्रियाओंका अनुष्ठाता स्वयं नहीं बनता; और न उन क्रियाओंके सुखदुःखात्मक तत्तत् फलोंका स्वयं भोक्ता ही. ऐसी स्थितिमें उस अद्वय परमात्माके न कर्ता और न कारयिता होनेपर यह जगद्व्यवहार आखिर कैसे चल पायेगा? स्वभाववश! 'स्वभाव'का अर्थ है : अचिन्त्यस्वरूपा परमात्माकी मायाशक्ति. वह नित्य है फिरभी अपना सामर्थ्य तभी तक दिखाती है, जब तक सर्वभावोंके पारमार्थिक अभेदका ज्ञान जीवात्माको हो नहीं हो पाता. स्वयं परमेश्वर अपनी मायासे मोहित हो नहीं सकता, अतः मायामूलक भेददृष्टिप्रयुक्त लौकिक कर्तृत्व-भोक्तृत्वसे परमात्मा कभी दूषित भी नहीं होता (सर्वतो. ५। १४).

इस निरूपणसे ऐसी भ्रान्ति सहज ही सम्भव है कि राजानक परमात्माको सर्वथा अकर्ता-अभोक्ता ही मानते होंगे; परन्तु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं. क्योंकि इसी अध्यायके अन्तिम श्लोकमें इसका स्पष्टीकरण भी उपलब्ध है ही. वहां यह कहा गया है :—

> यज्ञ तप आदि शास्त्रविहित अनुष्ठेय क्रियाओंके करनेवाले तत्तत् साधक अज्ञानमोहित होनेके कारण अपने-आपको इतरजीवोंसे भिन्न कर्ता मान कर तत्तत् फलोंके भोगोंकी कामनावश अपने-आपको भोक्ता भी मान लेते हैं. परमार्थविद्, परन्तु, यह अच्छी तरह जानते हैं कि वस्तुतः भिन्न-भिन्न कर्ता जब हो ही नहीं सकते, तब सभी क्रियाओंका तथा उनके फलोंका कर्ता-भोक्ता तो एकमात्र सर्वलोकमहेश्वर ही हो सकता है. यह जो कर्तृ-भोक्तृभेद दिखलायी देता है, वह तो केवल क्रीड़ा करनेकी अपनी ही इच्छाके कारण प्रकट सर्वलोकमहेश्वरकी क्रीड़ा है. यहां किसी भी प्रकारका भेद परमार्थतः तो है ही नहीं; क्योंकि निसर्गनिर्दोष निजात्मप्रतिष्ठित परमेश्वर न तो किसीका द्वेषी और न किसीका अनुरागी ही हो सकता है.
>
> (सर्वतो. ५।२८).

यह तो हुई साधनानुष्ठानके मूलमें विद्यमान कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्मोंकि तात्त्विक स्वरूपकी मीमांसा, इसके बाद परमात्माके अनुग्रहका तात्त्विक स्वरूप समझनेको राजानक श्रीअभिनवगुप्ताचार्यके निरतिशय महत्त्वपूर्ण वचनोंका आशय भी हृदयंगम करने लायक है :—

> पशु पक्षी सरीसृप आदि, अबोध स्त्रियां, कृषि-वाणिज्य आदि कर्मान्तरमें रत वैश्य; अथवा किसी भी प्रकारके वैदिक कर्मोंकेलिये अनधिकारी परतन्त्रवृत्ति शूद्र भी भगवान्का आश्रय लेकर भगवान्का ही यजन करते हैं. अतएव परमकारुणिक भगवान्के गजेन्द्रमोक्षण आदि सहस्रशः चरित्र मिलते हैं...कुछ लोग आशंका करते हैं कि "मां हि पार्थ...किं पुनर्ब्राह्मणा पुण्या"वचन ब्राह्मणोंकी प्रशंसाकेलिये कहा गया है नकि स्त्रीशूद्रादिके मोक्षाधिकारकी विवक्षावश. ये लोग परमेश्वरकी इस सर्वानुग्राहिका शक्तिको मितविषयिणी बना कर उसका खंडन करना चाहते हैं. "न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः" — "अपि चेत् सुदुराचारो" आदि अनेक इस प्रकारके स्फुटार्थ वचनोंका विरोध करते हैं, क्योंकि परमेश्वरके परमकृपालु होनेकी बात ये लोग सह नहीं पाते! किसी भी प्रकारके भेदकी सम्भावनासे रहित ऐसे भगवान्में हठात् भेद खड़ा करना चाहते हैं, "ऐसा कैसे हो सकता है—ऐसा तो हो ही नहीं सकता"के प्रश्नारोपोंके द्वारा! इन्हें अन्य भी अनेक आगमोंके विरोधकी परवाह ही नहीं है!! अनेकविध मात्सर्य अहंकार लज्जा और पाषंड के कारण अपने सिर-आंखोंको नीचे झुका कर सारे जगत्के सामने असत्प्रलाप करते रहनेवाले सचमुचमें अपनेको हास्यरसका विषय बना देते हैं!!!

इस तरह हमने देखा कि काश्मीर शैव आचार्योंके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवत्कृपा का वास्तविक स्वरूप क्या है.

इसके बाद श्रीरामानुजाचार्यके मतका अवगाहन क्रमप्राप्त होता है. इनके मतके अनुसार जैसे ज्ञातृत्व धर्म जीवात्मामें स्वभाविक होता है वैसे ही कर्तृत्व धर्म भी स्वाभाविक ही होता है. कर्तृत्वको स्वाभाविक नहीं मानते तो 'कुर्यात्'-'न कुर्यात्'के शास्त्रीय विधि-निषेध अर्थहीन सिद्ध हो जायेंगे. अस्वाभाविक कर्तृत्वकी धारणाका प्रत्याख्यान करनेकेलिये श्रीरामानुजाचार्य कई शास्त्रवचनोंके उद्धरणद्वारा शंका-समाधान प्रस्तुत करते हैं. उनमें प्रमुख वचन इस तरह हैं :—

(१) प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा 'कर्ताहम्'इति मन्यते॥
(भ.गी. ३।२७).

(२) कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥
(भ.गी. १३।२१).

(३) नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
(भ.गी. १४।१९).

(४) अधिष्ठानं तथा कर्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधा च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥
(भ.गी. १८।१४-१६).

इनमें प्रथम वचनका आशय श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार यों है : प्रकृतिके सत्त्व-रजस्-तमोगुणोंके साथ जुड़े संसर्गके कारण जीवात्मा सांसारिक प्रवृत्तिओंमें कर्तृतया लिप्त होती है— अपने स्वरूपगत किसी हेतुके वश नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू. भा. २।३।३३-३९). द्वितीय वचनमें विवक्षित आशय यह है : पुरुषाधिष्ठित प्रकृतिके बनाये हुवे 'कार्य' = शरीर तथा 'कारण' = समनस्क-ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय ही तत्तद् अर्थक्रियाओंको निभा पाते हैं. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अकर्ता है कहना अभिप्रेत नहीं है. प्रकृतिसंसृष्ट पुरुष सुखदुःखोंके अनुभवका आश्रय बनता है. एतावता जीवात्मा/पुरुष स्वरूपतः अनुभूतिधर्मा नहीं यह कहना अभिप्रेत नहीं है (स्पष्ट है कि प्रस्तुत वचनको पुरुषके कर्ता न होनेमें प्रमाणतया

उद्धृत करनेपर इसी वचनवशाद् भोक्तृत्वधर्मको पुरुषका स्वभावनियत धर्म स्वीकारना पड़ेगा, वह भी ऐसा कि जिसका मुक्तिमें भी अभाव सिद्ध न हो. द्रष्टव्य : भ.गी.भा. १३।२१). तृतीय वचनका अभिप्राय यह है कि स्वभावतः वैसे तो जीवात्मा परिशुद्ध ही होती है फिरभी पूर्वजन्मोंमें अनुष्ठित कर्मोंके कारण उसे प्राकृत सत्त्वादि गुणोंका संग होता है, जिसके कारण विविध शुभाशुभ कर्मोंमें उसे लिप्त होना पड़ता है. इन कर्मोंका कर्ता जब जीवात्मा अकेले अपने-आपको नहीं मानती तब जीवात्मा परमात्माके समान हो पाती है (भ.गी.भा. १४।१९). चतुर्थ वचनके आद्य श्लोकपरके गीताभाष्यमें श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं : कर्महेतुओंके कलापमें पांचवां स्वयं परमात्मा है. वही कर्मको निष्पन्न करनेमें प्रधान हेतु बनता है. जैसा कि कहा गया है— "सभीके हृदयमें मैं संनिविष्ट हूं और मेरे ही कारण स्मृति, प्रत्यक्ष अनुमिति शाब्दानुभूति, ज्ञाननिवृत्ति या प्रमाणानुग्राहक ऊह भी कोई कर पाता है."—"सभी प्राणियोंके हृदयमें बिराजनेवाला ईश्वर अपनी मायासे उन यन्त्रारूढसे प्राणियोंको चलाता रहता है". सुस्पष्टतया स्वयंको ही केवल कर्ता मान लेनेकी जीवात्माकी मतिका ही यहां भ्रान्तिके रूपमें निरूपण किया गया है (पांच लोगोंने आपसी मेलजोलसे कोई काम किया हो उसके बनने या बिगड़ने पर उस कार्यका श्रेय या अपराध कोई अकेले अपना या किसी दूसरेका मान बैठे, वैसी ही कुछ गड़बड़ यहां भी मानी गयी है). ऐसी स्थितिमें अधिष्ठानसे शुरु करके दैव पर्यन्त समूहावलम्बी कार्यकारित्व है, उसे केवल आत्मनिष्ठ मान लेना निरा भ्रम नहीं तो और क्या माना जा सकता है? (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३३).

अन्तःकरणोपहित या अविद्योपहित चैतन्यके ही कर्ता बन सकनेकी शांकर धारणाका प्रत्याख्यान करनेको "समाध्यभावाच्च" (ब्र.सू.भा. २।३।३८)में श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि जीवात्माके कर्तृत्वको स्वाभाविक न माननेपर मोक्षोपायोंका कर्ता भी जीवात्मा न होकर अन्तःकरण या अज्ञान रूप उपाधि ही कर्ता बनेंगी. फिरतो मुक्त भी वे उपाधि ही होंगी जीवात्मा नहीं.

जीवके मायोपाधिक कर्तृत्व धर्मकी विवेचनाकेलिये श्रीशंकराचार्यने जो एक स्वतन्त्र अधिकरण रचा वहां यह कहा गया था :—

यदि जीवात्मामें स्वाभाविक कर्तृत्व हो तो फिर

उसका मुक्त हो पाना अशक्य हो जायेगा. क्योंकि अग्निका उष्ण होना जैसे स्वभावनियत है, वैसे ही कर्ता होना जीवका भी यदि स्वभावनियत ही हो तो, वह कर्तृत्व जीवके मुक्त होनेपर भी कायम रहेगा. ऐसी स्थितिमें यह भी तो कहा नहीं जा सकता कि अग्निकी स्वाभाविक दाहकशक्तिके रहनेपर भी दाह्य वस्तु तृण-काष्ठादि निमित्तोंके उपलब्ध न रहनेपर अग्निद्वारा जैसे दहनक्रिया सम्पन्न नहीं हो पाती, वैसे ही स्वाभाविक कर्तृत्वके बचे रहनेपर भी ब्रह्मज्ञानसहित कर्तृत्वके कारण शुभाशुभ कर्मोंके परिहारद्वारा शुभाशुभ फलोंके भोगसे मुक्तात्मा भी ग्रस्त नहीं हो पायेगी. क्योंकि कर्तृत्वरूप शक्तिमान् निमित्तके रहनेपर उसकेलिये कार्यरूप शक्य भी अवश्य ही प्रकट होगा. अतएव मोक्षोपायोंके अनुष्ठानकेलिये भी कर्तृत्वकी अपेक्षा स्वीकारी नहीं जा सकती, क्योंकि स्वयं अनित्य कर्मोंको यदि मोक्षोपाय मानते हैं तो "अनित्यसे नित्यकी उत्पत्ति होती है" ऐसा वदतोव्याघात प्रकट होगा. इससे सिद्ध होता है कि शास्त्रविधिकी सार्थकताकेलिये जिस कर्तृत्वको स्वीकारना पड़ता है, वह चेतनाका स्वभावनियत धर्म न होकर अज्ञानप्रयुक्त धर्म है; और इसी अज्ञानप्रयुक्त धर्मको लेकर ही शास्त्र भी विधि-निषेध करते रहते हैं: "तस्माद् अविद्याकृतं कर्तृत्वम् उपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते" (ब्र.सू.भा. २।३।४०).

इसका प्रत्युत्तर देते हुवे श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि अनौपाधिक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी कर्तृत्वप्रयुक्त शुंभाशुभ कर्म और उनके फलोंका उपशमन ही न हो पायेगा. वाक् चक्षु कर चरण आदि करणोंसे सम्पन्न होनेपर भी जीवात्मा जब इच्छा हो तभी बोलने देखने लेने चलने आदिकी क्रियाओंको अपनाती है. सुतार भी करवत आदि उपकरणोंके उपलब्ध होनेपर भी इच्छानुसार ही काष्ठछेदनादि व्यापार करता है, अन्यथा नहीं. यह इच्छारूप व्यापार कोई भी अचेतन उपाधिद्वारा तो सोचा ही नहीं जा सकता.

इस कर्तृत्वको जीवका स्वाभाविक धर्म माननेपर भी परानिर्भर धर्म नहीं माना गया है, क्योंकि कर्तृत्वके मूलमें रहे स्मृति-अनुभव-अज्ञानादि सभी कुछ जब जीवके भीतर विद्यमान अन्तर्यामीके आधीन हैं तो केवल कर्तृत्व स्वतन्त्र धर्म कैसे रह पायेगा? एतावता विधि-निषेधोंके उपदेशक शास्त्रोंके व्यर्थताकी आशंका भी उठायी नहीं जा सकती. उदाहरणतया किन्हीं दो जनोंकी साझीदारीवाले द्रव्यको कोई एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिकी अनुमति बिना किसी तीसरे व्यक्तिको दानके रूपमें दे नहीं सकता है. फिरभी दूसरेकी अनुमतिको पाकर भी किये हुवे दानका फल तो धनदाताको ही मिलता है अनुमतिदाताको नहीं. उन्निनीषा या अधोनिनीषा के वश साधु या असाधु कर्म करानेवाले परमात्माको पक्षपाती या निर्दय मान लेना भी अविचारितरमणीय है, क्योंकि इस वचनमें सर्वजीवसाधारणी उन्निनीषा या अधोनिनीषा विवक्षित नहीं है. इस वचनमें उन असाधारण जीवात्माओंके उन्निनीषा या अधोनिनीषा की बात कही जा रही है जो या तो परमात्माके अतिशय अनुकूल हैं या अतिशय प्रतिकूल. अतिशय अनुकूल जीवोंपर अनुग्रह करके परमात्मा उन्हें अपनी प्राप्तिके अतिकल्याणकारी उपायोंमें ही रुचि जगाता है. इसी तरह अतिशय प्रतिकूल जीवोंमें अपनी प्राप्तिके विरोधी अधोगतिकी ओर ले जानेवाले कर्मोंमि रुचि पैदा कर देता है. यही बात भगवान्ने गीताके इन श्लोकोंमें कही है:—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।
तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीति-पूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।
तेषामेवानुकम्पार्थम् अहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।
(भ.गी. १०।८-११).

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।
तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभामासुरीष्वेव योनिषु।।
(भ.गी. १६।८-१८-१९).

इस ईश्वराधीन स्वाभाविक जीवकर्तृत्वद्वारा प्रयुक्त कर्मोंको कर लेनेपर केवल उन क्षणप्रध्वंसी कर्मोंके वश ही फलप्राप्ति हो जाती

हो, ऐसा श्रीरामानुजाचार्यका अभिप्राय नहीं है. वे कहते हैं कि न केवल परमात्माके उपासकोंको स्वप्राप्तिरूप विशिष्ट फल; अपितु सामान्य ऐहिक या आमुष्मिक फल भी, परमात्माद्वारा ही मिलता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३७).

शैव विशिष्टाद्वैतवादी श्रीकण्ठ शिवाचार्य तथा शैव विशेषाद्वैतवादी श्रीपति भगवत्पादाचार्य दोनों ही, ब्रह्मसूत्रके इन अधिकरणोंमें , थोड़े-बहुत अन्तरसे श्रीरामानुजाचार्यकी निरूपणशैलीको ही अपना कर चले हैं. इनके मतकी, अतः, पृथक् विवेचना आवश्यक नहीं है. इस तरह रामानुजीय वेदान्तके अनुसार साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह का स्वरूप क्या है, यह समझ लेनेके बाद, अब श्रीमध्वाचार्यका इस विषयमें क्या अभिप्राय है, यह देखनेकेलिये उद्यत होना चाहिये.

श्रीमध्वाचार्याभिमत द्वैतवादके अनुसार सर्वप्रथम दो प्रकारके प्रमेय होते हैं: स्वतन्त्र और परतन्त्र. निर्दोष अखिलसद्गुण भगवान् विष्णु स्वतन्त्र प्रमेय हैं. परतन्त्र प्रमेय पुनः दो प्रकारोंका होता है: द्विविध भाव और त्रिविध अभाव. इनमें भाव पुनः चेतन और अचेतन के भेदवशात् द्विविध होता है. इसी तरह दुःखस्पृष्ट और दुःखास्पृष्ट के भेदवश चेतनके भी दो प्रकार होते हैं. रमा सर्वथा दुःखोंसे असंस्पृष्ट ही रहती हैं. अन्य दुःखस्पृष्ट चेतनोंके दुःखविमुक्त और दुःखसंस्थ ऐसे दो प्रकार होते हैं. दुःखसंस्थोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: मुक्तिके योग्य अथवा अयोग्य. मुक्तियोग्योंके पांच प्रकार होते हैं: देव ऋषि पितर चक्रवर्ती और सत्पुरुष. इन विषयोंका सांगोपांग विचार 'तत्त्वसंख्यान' एवं 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थोंके अवलोकन करनेपर स्फुट हो सकता है.

इन परिसंख्यात तत्त्वोंमें पञ्चविध भेदोंका अपलाप सृष्टि मुक्ति या प्रलय किसी भी कालमें शक्य नहीं है. ये पञ्चविध भेद इस तरह माने गये हैं:—

(१) एक अचेतन वस्तु का दूसरी अचेतन वस्तु से भेद
(२) एक चेतन जीव का दूसरे चेतन जीव से भेद
(३) सकल अचेतन वस्तुओंका सकल चेतन जीवोंसे भेद
(४) सकल अचेतन वस्तुओं का नारायण से भेद
(५) सकल चेतन जीवों का नारायण से भेद

इस तरह पञ्चविध भेदात्मिका इस सृष्टिमें परमात्मा और जीवात्मा

के बीच स्वरूपतः अभेद या भेदाभेद भी हो ही नहीं सकता (द्रष्टव्य : अनुव्या. २।३।४३). अतएव जीवको जो 'अंश' कहा जाता है वहां भी यह ज्ञातव्य है कि स्वांश और विभिन्नांश के भेदवशात् भगवदवतारोंको स्वांश समझना चाहिये; परन्तु जीवात्मा तो विभिन्नांश ही होती हैं. कतिपय गुणोंके साम्यवश कहीं अभेद दिखलाया भी गया हो तो भी कदापि स्वरूपैक्य तो सम्भव ही नहीं है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४७). ऐसी सृष्टिकी रचना परमात्मा किसी भी तरहके प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये नहीं करता है. यह सृष्टि तो परमात्माकी केवल लीला ही है. अतएव परमात्माने इस सृष्टिको लीलारूप प्रयोजनकी पूर्तिकेलिये प्रकट किया है, ऐसी धारणा भी अप्रामाणिक ही है. मुक्त होनेपर, यदि, जीवात्मा भी आप्तकाम बन जाती हों तो परमात्मामें किस तरहकी न्यूनता सोची जा सकती है कि जिसे पूर्ण करनेको उसे सृष्टि रचनी पड़े! अतः जैसे लोकमें आनन्दके आवेशातिरेकमें व्यक्ति नाचने-गाने लग जाता है, ठीक वैसे ही पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा भी अपने स्वभाववश ही सृष्टिकी रचना करता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।१।३३-३४). पूर्णानन्दके निजस्वभाववश प्रकट इस जगत्में पूर्ण आनन्दके बजाय जो सुख-दुःख राग-द्वेष शोक-मोह जन्म-मरण के अनेकविध द्वन्द्व दिखलायी देते हैं, उन्हें भी परमात्मा अनादि कालसे चलते आ रहे कर्मक्रमवशात् प्रकट करता है. इस सृष्टिके अन्तर्गत देवताओंमें आनन्द ज्ञान एवं बल नित्य होते हैं, दानवोंमें अज्ञान एवं दुःख नित्यनियत होते हैं; तथा मनुष्योंमें आनन्द ज्ञान एवं बल कभी होते हैं और कभी नहीं. इन तीनोंमें यदा-कदा अन्यथा जो कुछ दिखलायी देता है, उसे औपाधिक समझ लेना चाहिये. जीव अपने सदसत् कर्मोंसे परमात्माको प्रसन्न करके ज्ञानी-अज्ञानी आनन्दी-निरानन्दी या बलवान्-निर्बल बन पाता है. यह कर्मसामर्थ्य जीवात्माके भीतर मुक्तावस्थामें भी विद्यमान रहती है. सुरूप सुगन्ध सुस्वर के ही देखने सूंघने सुनने की कामना रखनेवाला जीव परतन्त्र होनेके कारण जैसे सर्वदा निजकामानुसारी सफल भोक्ता नहीं बन पाता, वैसे ही कर्ता भी नहीं बन पाता है. उसके भीतर बैठा अन्तर्यामी उसे यथाधिकार फल देता रहता है. जैसे सुतार आदि कारीगरोंसे धनवान् व्यक्ति धन दे कर अपना काम करवाते हैं, इस उदाहरणमें सुतार आदि कारीगर कर्ता माने जाते हैं तथा धनिक व्यक्ति कारयिता, इसी तरह जीव भी एक ऐसा पराधीन

कर्ता है कि जिसका अपराधीन कारयिता परमात्मा होता है. सुतार आदि कारीगरों और धनिकों के लौकिक उदाहरण तथा जीवात्मा और परमात्मा के वास्तविक सम्बन्धमें एक उल्लेखनीय अन्तर यह तो है ही कि एक धनिक निजधनसे कारीगरके कर्तृत्वका परिक्रय करता है—कारीगरको कर्तृत्व प्रदान नहीं करता, क्योंकि वह तो कारीगरका पूर्वसिद्ध ही होता है. वह परिक्रेता धनिकसे अतिरिक्त भी किसीके आधीन होकर या स्वतन्त्रतया भी अपने कर्तृत्वको प्रयोगान्वित कर सकता है. ईश्वरसे अपराधीन जीवका कर्तृत्व, जबकि, सम्भव ही नहीं, क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है कि कर्तृत्व करणत्व स्वभाव चेतना धृति परमात्माके प्रसादसे ही सम्भव हैं अन्यथा नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३२-४२).

कर्मफलमीमांसामें श्रीमध्वाचार्यका कहना है कि कर्म तो अचेतन होनेके कारण स्वतः तो फलदान कर नहीं सकता, अतः ईश्वरको ही कर्मफलोंका दाता स्वीकारना चाहिये. यों तो परमात्मा और कर्म दोनों फलप्राप्तिके कारण हैं, फिरभी कर्म स्वयं कर्ताको प्रवर्तित नहीं कर सकता, जबकि परमात्मा तो प्रवर्तक भी होता है और कारण भी (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३९-४२).

परमात्माके साक्षात्कारके बारेमें यह समझ लेना आवश्यक है कि वह तो जीवकी साधनशक्तिसे शक्य उपलब्धि ही नहीं है, क्योंकि परमात्माका साक्षात्कार तो स्वयं उसके प्रसादके कारण ही सम्भव है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।२३).

इस तरह हमने देखा कि श्रीमध्वाचार्यके द्वैतवादी वेदान्ती होनेके कारण भगवत्कृपाकी आवश्यकतापर भार देना तो आवश्यक था ही; परन्तु जीवात्माके कर्तृत्व और तन्मूलक साधनानुष्ठानकी सफलताको भी ईश्वराधीन मानना द्वैतवादमें उल्लेखनीय महत्त्वकी बात है.

वेदान्तके अनेकविध सम्प्रदायोंमें श्रीविज्ञान भिक्षुद्वारा प्रवर्तित विचाररीतिकी असाधारण महत्ताको यदि एक शब्दमें प्रकट करनेको कोई कहे तो, मेरी समझके अनुसार, वह शब्द है : 'आधार-कारण'. श्रीविज्ञानभिक्षुपूर्व ईश्वरवादी दर्शनोंमें कार्य-कारण-भावके स्वरूपके बारेमें अनेकविध धारणायें प्रचलित थी. ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण एवं जगत्को ब्रह्मपरिणाम-ब्रह्मकृतिजन्य माना गया था, चित्रपट या चित्रभित्ति की तरह अद्वय चिन्मात्र परमशिवपर स्वयं शिवकी ही संकल्पशक्तिकी तूलिकासे जगत्को चित्रितवत् भी माना गया, ब्रह्मको उपादान-कारण एवं जगत्को जीवके प्राक्कर्मोंका विपाक भी माना गया, ईश्वरको जगत्का केवल निमित्त-कारण या कर्ता भी माना गया था; अथवा कार्य-कारण-भावरहित केवल मिथ्या कार्यारोपका पारमार्थिक अधिष्ठान भी माना ही गया था.

वैसे तो सामान्य कार्य-कारण-भावोंकी विवेचनाके प्रसंगमें योगसूत्रभाष्यकारका प्रस्तुत श्लोक भी दर्शनशास्त्रके इतिहासमें एक अपना अलग महत्त्व रखता ही है :—

उत्पत्ति-स्थित्य-ऽभिव्यक्ति-विकार-प्रत्यया-ऽप्तयः।
वियोगा-ऽन्यत्व-धृतयः कारणं नवधा स्मृतम्॥
(पा.सू.भा. २।२८)

इन सभी प्रकारोंको सोदाहरण समझना हो तो भाष्यावलोकन ही उपयुक्त रहेगा. प्रस्तुत सन्दर्भमें, हमारेलिये तो, यही केवल अवधेय है कि द्वितीय स्थाप्य-स्थापक-भावरूप एवं अन्तिम विधार्य-विधारक-भावरूप जो कार्य-कारण-भाव स्वीकारे गये हैं, श्रीविज्ञान भिक्षु, वैसे स्थितिकारण या धृतिकारण होनेके रूपमें ब्रह्मको 'आधारकारण' नहीं कह रहे हैं.

उदाहरणतया : स्वस्थितिकारण भोगापवर्गरूप पुरुषार्थोंके हमारे साथ विद्यमान रहते, मन भी विद्यमान रहता ही है, अन्यथा नहीं. अथवा जैसे हमारी इन्द्रियोंको शरीर धारण करता है; एवं स्वयं उस शरीरको पञ्चमहाभूत धारण करते हैं, ब्रह्म जगत्का वैसा आधार नहीं है. क्योंकि स्थितिकारणका अधिकरण होना आवश्यक नहीं है, जबकि आधारकारणका अधिकरण होना आवश्यक है ही. इसी तरह धृतिकारणका अविकारी होना आवश्यक नहीं है, जबकि आधारकारणकेलिये तो वह आवश्यक है ही. वैसे तो नैयायिकोंने भी समवायी और असमवायी से विलक्षण कार्यमात्रके प्रति एक साधारण निमित्त-कारणके रूपमें ईश्वरको स्वीकारा तो अवश्य था, फिरभी दण्डचक्रादिसाधारण निमित्तकारणतासे भी इस आधारकारणताको पृथक्तया समझना आवश्यक है.

क्योंकि भिक्षुवेदान्तने ही, इदंप्रथमतया, इन सारी धारणाओंसे अलग हट कर इस आधार-कारणकी धारणा प्रस्तावित की है, अतः स्वयं उनके ही शब्दोंमें इस सुपरिभाषित आधार-कारणको जान लेना उचित होगा : ''जैसे आकाशमें आश्रित मृत्तिका घटाकारेण परिणत होती है वैसे ही, किसी भी कार्यका उपादान-कारण जहां संयोग स्वरूप

या आधेयता सम्बन्धवशात् अविभक्त एवं आश्रित होकर कार्याकारेण परिणत होता हो उसे 'अधिष्ठानकारण' या 'आधारकारण' कहते हैं''(द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. १।१।२). श्रीविज्ञानभिक्षुके अनुसार ऐसा आधारकारणरूप ब्रह्म निरुपाधिकतया न तो जगत्का परिणाम्युपादान है, न कर्ता; और न विवर्तोपादान ही. अन्यथा मायोपाधिके वश तो वह सभी कुछ बन सकता है और बना भी है ही. पुनश्च यहां मायाको उपाधि माननेके कारण जड़-चेतन सृष्टिका मिथ्यात्व श्रीविज्ञान भिक्षुको अभिप्रेत है, ऐसी वैचारिक धांधली नहीं करनी चाहिये. समवायसम्बन्धसे जहां कार्य-कारणका अविभाग हो वहां उसे विकारी कारण समझा जाता है. ऐसे समवायसम्बन्धसे जो एक विकारी कारण होकर जिस किसी दूसरे अविकारी आधारमें अविभक्ततया आश्रित हो तो उस दूसरे अविकारीको 'आधारकारण' कहा जाता है. सृष्टिसे पूर्व और बादमें भी नित्य अविकारी ब्रह्ममें प्रकृति-पुरुष इसी तरह अविभक्ततया आश्रित रहते हैं. अतः अविकारी ब्रह्म जगत्का आधारकारण है तथा विकारी प्रकृति समवायी कारण. इस विषयमें श्रीविज्ञानभिक्षुके ये वचन अवलोकनीय हैं :—

> अस्य जगतो नामरूपाभ्यां व्याकृतस्य चेतनाचेतनरूपस्य प्रतिनियत-देशकाल-संस्थान-व्यापारादि-मतो अचिन्त्य-रचनात्मकस्य जायते अस्ति वर्धते विपरिणमते अपक्षीयते विनश्यति इत्येवंरूपं जन्मादिषट्कं यतः परमेश्वराद् अन्तर्लीन-प्रकृतिपुरुषाद्यखिल-शक्तिकात् स्वतः चिन्मात्राद् विशुद्ध-सत्त्वाख्य-मायोपाधिकात् क्लेशकर्मविपाकाशयैः अपरामृष्टात् चेतनविशेषाद् भवति आकाशादिव च वायुः, महाजलादिव च पृथिवी, पृथिव्या इव स्थावरजङ्गमादिकं तद् ब्रह्म (ब्र.सू.भा. १।१।२).

साथ ही साथ भिक्षुवेदान्तमें प्रतिशरीरमें भिन्न-भिन्न जीवात्मा मानी गयी हैं. जीवात्माको विभुपरिमाण स्वीकारनेके बावजूद परमात्माका अंश भी स्वीकारा गया है. यह अंशत्व 'महाकाश-घटाकाश'न्यायसे औपाधिक नहीं; प्रत्युत 'अग्नि-विस्फुलिंग'न्यायसे वास्तविक ही स्वीकारा गया है. विभुत्व तथा अंशत्व जैसे धर्मोंके परस्पर विरोधाभासके उपशमनकी भी भिक्षुशैली विलक्षण ही है. श्रीविज्ञान भिक्षु कहते हैं : जीवात्माको परमात्माका अंश माने बिना ''नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्''—''द्वा सुपर्णा सयुजा''—''ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'' जैसे श्रुति-स्मृति-वचनोंमें निरूपित भेद; अथवा ''स ब्रह्मा स शिवः''— ''मनसैवानुद्रष्टव्यम्''—''एकधैवानुद्रष्टव्यम्'' जैसे श्रुतिवचनोंमें निरूपित अभेद यों दोमेंसे किसी एकके साथ तो अन्याय हो ही जाता है. अतः जीवात्मा और परमात्मा के बीच भेदाभेदको स्वीकारना श्रुत्याशयके प्रति सच्ची निष्ठाका निर्वाह है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४३).

परस्पर विरुद्ध होनेसे भेदाभेदके समुच्चयके स्वतोव्याहत होनेकी शंका भी उचित नहीं है, क्योंकि अन्योन्याभावरूप भेदका अविभागरूप अभेदके साथ किसी भी तरहका विरोध हो ही नहीं सकता. इसी तरह विभाग-अविभागरूप भेदाभेदका भी परस्पर विरोध होता नहीं है.

भगवान् विष्णुके अंशावतारोंमे भी शास्त्रनिरूपित अंशत्व-विभुत्व दोनों ही जैसे होते हैं, जीवात्माके भेदाभेदप्रयुक्त अंशत्व और विभुत्व वैसे नहीं होते, क्योंकि भगवान् विष्णु और उनके अवतारों में तो अखण्ड स्वरूपैक्य होता है. अतः अवतारोंमें अंशत्व लीलार्थ परिगृहीत तनुत्वोपाधिक ही 'घटाकाश-महाकाश'न्यायेन होता है. जीवात्मा और परमात्मा के बीच अंशांशिभाव वैसा गौण नहीं प्रत्युत मुख्य ही होता है. आकाश, जैसे, अंश होनेपर भी विभु सर्वगत ही होता है वैसे ही जीवात्माके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. यह अंशत्व, शरीरके अवयव करचरणमस्तककी तरह, परमात्माका अवयव होना नहीं है प्रत्युत ''परमात्माके सजातीय होनेके साथ-साथ सृष्टिसे पूर्व परमात्मासे अविभक्त होना है'' (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।४३).

भिक्षुवेदान्तप्रक्रियाकी इन सर्वथा मौलिक एवं अवश्यज्ञातव्य धारणाओंको जान लेनेके बाद अब साधनानुष्ठान एवं भगवदनुग्रह के तुलनात्मक स्वरूपकी मीमांसा सुखेन शक्य बन पायेगी.

''रथ जा रहा है'' शब्दप्रयोगमें जैसे गमनक्रियामें रथके कर्ता होनेकी अर्थप्रतीति होती है, क्या वैसी ही अर्थकल्पना शास्त्रके भी उन सभी वचनोंमें स्वीकार लेनी चाहिये जिन वचनोंमें जीवका कर्ता होना वर्णित है? श्रीविज्ञान भिक्षुका उत्तर है : नहीं! क्योंकि रथ तो जड़ होता है परन्तु जीव तो चेतन होनेके कारण स्वयं भी कर्ता बन सकता है. यह और बात है कि उसका कर्तृत्व सर्वथा अपराधीन

नहीं होता. उदाहरणतया रथमें जुतनेवाले घोड़ेको सारथीके हाथोंमें रही लगाम और चाबुक द्वारा दिये जाते निर्देशोंके आधीन होकर ही चलना पड़ता है; परन्तु कोई पालतु घोड़ा जब रथमें जुता हुवा नहीं होता तब स्वेच्छया भी चल तो सकता ही है. इसी तरह परमात्माकी अनुज्ञासे जीव भी अपनी कर्तृत्वशक्तिको प्रयोगमें लाता ही है. ‘‘ज्ञानतः या अज्ञानतः मानव जो कुछ करता है वह सब मूलमें तो अपनी योगमाया शक्तिद्वारा भगवान्का ही किया हुवा होता है’’ ऐसे अनेक शास्त्रवचनोंका वास्तविक अभिप्राय यही है कि जीव स्वतन्त्र कर्ता नहीं है—ईश्वराधीन कर्तृत्ववान् ही है. अन्यथा सारे के सारे शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक सिद्ध हों जायेंगे. जीवको कुछ भी करनेकी आवश्यकता न हो अर्थात् सब कुछ परमात्मा ही करता हो तो ऐसे अनावश्यक कर्मोंके विधान करनेवाले शास्त्रका प्रामाण्य भी सिद्ध नहीं हो पायेगा. निष्ठुर और पक्षपाती होनेका आरोप भी परमात्मापर लग जायेगा. यथाशास्त्र कर्मके अनुष्ठान करनेपर भी कभी कर्मफलके दृष्टिगत न होनेपर ईश्वरके अननुग्रहकी बात या कर्मवैगुण्यकी बात तो सोची जा सकती है परन्तु जीवके सर्वथा अकर्ता होनेकी नहीं. अतः जीव कर्ता तो है परन्तु अपराधीन कर्ता नहीं (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३३).

जैसे चैतन्य जीवका, या उष्णता अग्निका, नित्यसिद्ध स्वाभाविक धर्म है, कर्तृत्व वैसा धर्म नहीं है. विषयके अभावमें, क्योंकि, चैतन्यस्वभाव होनेपर भी ज्ञानका पैदा न होना एक बात है; और विषयके सद्भावमें भी कर्तृत्व प्रकट न करना दूसरी बात है. इससे सिद्ध होता है कर्तृत्व जीवका अन्तःकरणोपाधिक धर्म है. यह बुद्धिरूप लगाम ईश्वरके हाथोंमें रहती होनसे जीवका कर्तृत्व सर्वदा ईश्वराधीन ही होता है. इस अर्थमें जैसे जीव देहेन्द्रियादिकेलिये आत्मा होता है वैसे ही ईश्वर जीवकेलिये आत्मा होता है—जीवका चेतयिता कारयिता और अध्यक्ष (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।२।३६-४१). ब्रह्म, जैसे, जगत्के जन्मादिका हेतु है, वैसे ही जीवात्माओंको भोग-अपवर्गरूप फलका भी प्रदाता वही है. लोकमें भी जैसे किसी सेवककी सेवासे रुष्ट या तुष्ट राजा ही दण्ड या फल देता है—सेवारूप क्रिया नहीं. वैसे ही ईश्वर ही हमारे कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर हमें तत्तत् फल देता है—हमारे सदसत् कर्म स्वयमेव नहीं. शास्त्रोंमें जो विभिन्न देवोंका विभिन्न कर्मोंके फलदाताके रूपमें निरूपण हुवा है, वह भी अन्तर्यामी परमेश्वरद्वारा उन्हें प्रदत्त तत्तद् अधिकार और प्रेरणा के अनुसार केवल नियतफलदानके सामर्थ्यकी विवक्षासे ही किया गया जानना चाहिये. अतः हमारे कर्मकर्तृत्वकी तरह देवताओंका फलदातृत्व भी परमेश्वराधीन ही होता है.

कर्मोंसे रुष्ट या तुष्ट होकर जो फलदान परमेश्वर करता है उसमें घटोत्पत्तिके उदाहरणमें दण्ड-चक्रकी तरह कर्म और परमेश्वर क्या परस्पर सहकारी कारण हैं या एक मुख्य कारण और दूसरा गौण? श्रीविज्ञान भिक्षुका कहना है कि क्षेत्रज्ञकी तरह कर्म भी परमेश्वरकी एक शक्ति है. अतः परमेश्वरकी तुलनामें कर्मको प्रमुख फलदाता माना नहीं जा सकता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।३८).

‘‘लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्’’(ब्र.सू. २।१।३२)में यह कहा गया है कि जैसे विशुद्धसत्त्ववाले जीवोंकेलिये दुःखाभाव तथा सुख का सम्पादन पुरुषार्थरूप होता है वैसे ही निजभक्तोंपर अनुग्रहरूपा केवल क्रीड़ा भी स्वतःपुरुषार्थरूपा हो सकती है, अर्थात् निज किसी भी प्रयोजनकी पूर्तिकी अपेक्षासे सर्वथा रहित, परमेश्वरने इस समग्र सृष्टिका निर्माण जीवोंके प्राक्तन कर्मोंके अनुसार किया है. इस तरह कर्मानुसारी सृष्टिनिर्माणके कारण परमेश्वरके स्वातन्त्र्यकी हानि इसलिये नहीं होती क्योंकि कर्म स्वयं परमेश्वरकी एक अन्यतम शक्ति है और कर्मानुसारी यह सृष्टि भी निजकार्य ही है, अर्थात् परकार्य नहीं. लोकमें भी एक स्वतन्त्र राजा अपने बनाये नियमोंके अनुसार किसीपर रुष्ट या तुष्ट होता हो एतावता उसका स्वातन्त्र्य नष्ट नहीं हो जाता. ऐसा भी भिक्षुवेदान्तने मान्य रखा ही है :—

> ब्रह्म न स्रष्टृ, लोके स्रष्टुः प्रयोजनवत्त्वदर्शनाद्; ब्रह्मणश्च पूर्णकामत्वात् प्रयोजनं नास्तीत्यर्थः. समाधत्ते—‘‘लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्’’, यथा लोकानाम् आनन्दविशेषजन्येषु क्रीडाविहारादिषु अनपेक्ष्यैव प्रयोजनं केवललीलारूपा चेष्टा भवति...भूतानुग्रहएव ईश्वरस्य प्रयोजनम् उक्तं, सुखदुःखाभावयोरिव विशुद्धसत्त्वानां, भक्तानुग्रहस्यापि स्वतःपुरुषार्थत्वं फलत्वेन कल्पनीयं...ननु एवम् ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे स्वातन्त्र्यहानिः इति चेत्, न, स्वकार्यतया स्वशक्तितया च कर्मणः स्वातन्त्र्याविघातकत्वात्. स्वतन्त्रस्यापि राज्ञः सेवापराधापेक्षया फलदातृत्वदर्शानात्.
>
> (ब्र.सू.भा. २।१।३१-३२-३३).

इस तरह हमने देखा कि जगत्को भगवल्लीला मानना, साधनानुष्ठानके मूल उत्स कर्तृत्वको परमेश्वराधीन मानना, परमेश्वरको कर्मप्रेरक कर्मकारयिता मानना, कर्मानुसारिणी फलनियतिको जड़नियम न मान कर परमेश्वरेच्छाधीन या परमेश्वरानुग्रहनिग्रहाधीन मानना; और परमेश्वरके स्वातन्त्र्यको निरंकुश मानना ये कुछ ऐसी धारणायें हैं कि जिनके बारेमें परस्पर विरोधी वेदान्त भी निर्विरोध एकमति प्रदर्शित करते हैं.

वेदान्तदर्शनकी इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमिपर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यकी साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह के स्वरूपकी विवेचनाको परखनेका प्रयास करनेपर, जो एक अधिकरणसिद्धान्त उभर कर सामने आता है, वह यह कि साधनानुष्ठान तथा भगवदनुग्रह दोनोंकी ही सरस एवं लचीली, अर्थात् भगवदभिप्रेत लीलात्मिका, उपयोगिता तो अवश्य है; परन्तु नीरस एवं कठोर, अर्थात् गणितशास्त्राभिप्रेत निरपवादात्मिका, कोई अनिवार्यता नहीं. अतः वैसे तो प्रतितन्त्रसिद्ध सिद्धान्तकी उपपत्तियां प्रस्तुत करना निरर्थक कालक्षेप ही होता है, फिरभी अधिकरणसिद्धान्तता दरसानेकेलिये हमने जो विभिन्न वेदान्तसम्प्रदायोंके पूर्वोदाहृत वचनोंका विस्तार किया वह क्षम्य माना जाना चाहिये. इस सन्दर्भमें महाप्रभुका यह विधान प्रकृत विषयके उपक्रमार्थ अवधेय है :—

> ''स वै नैव रेमे. तस्मादेकाकी न रमते. स द्वितीयमैच्छत्. स हैतावानास.'' इत्यादिश्रुतिभिः ''एष उ ह्येव...'' इति श्रुतेश्च तानि-तानि साधनानि कारयित्वा तानि-तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेण आविर्भूय क्रीडति इति वैदिकैः निर्णीयते. एतदेव काण्डद्वयेऽपि प्रतिपाद्यते. अन्यथा जीवस्य साधनफले निरूपयन्त्याः श्रुतेः जीवपरत्वमेव स्याद् न ब्रह्मपरत्वम्. कर्म-ब्रह्मणोरपि जीवशेषत्वं न अपेयात् (ब्र.सू.भा. १।१।११).
>
> अर्थात् ''वह एकाकी रमण नहीं करता. अतएव कोई भी एकाकितामें रत नहीं हो पाता. उसने चाहा कि कोई दूसरा भी हो. अतः वही यह सब कुछ बन गया'' ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर तथा ''वही साधु कर्म करवाता है उससे कि जिसे वह ऊपर उठाना चाहता है...''श्रुतिवचनके आधारपर तत्तत् साधनोंको करवा कर तत्तत् फलोंको देते हुवे भगवान् निजक्रीड़ार्थ

> ही जगत्के रूपमें आविर्भूत होते हैं, ऐसा वैदिक निर्णय है. वेदके कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका प्रतिपाद्य विषय यही है. अन्यथा केवल जीवके ही साधन-फलोंके निरूपणार्थ शास्त्र प्रवृत्त हुवे हैं ऐसा स्वीकारनेपर शास्त्रका मुख्य प्रतिपाद्य विषय जीवके कर्तव्य और ज्ञातव्य का निरूपण ही रह जायेगा. फिर तो कर्म और ब्रह्म भी जीवशेष बन जायेंगे!

इस क्रीड़ामें क्रमशः १.योगमाया २.सर्वभवनसामर्थ्यरूपमाया तथा ३.व्यामोहकमाया रूपी त्रिविध निजशक्तिओंको उपयोगमें लानेके कारण भगवत्क्रीड़ाके भी त्रिविध रूप स्वीकारे गये हैं. अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्मके स्वरूपान्तःपाती आनन्द चित् तथा सत् यों त्रिविध गुणधर्मोंमेंसे एक गुणधर्म या दो गुणधर्मों के निगूहनद्वारा यह लीलात्रैविध्य सम्पन्न होता है. अतएव मूलरूपमें की जाती लीला या अवतारलीला में योगमाया शक्तिद्वारा जो नाम-रूप-कर्म भगवान् प्रकट करते हैं, वे दिव्य अर्थात् सच्चिदानन्दात्मक ही रहते हैं. इसे ''यः क्रीडति'' कल्प कहा जाता है. द्वितीय ''यः जगद् भूत्वा क्रीडति'' कल्पमें भगवान् अपना आनन्द रूप गुणधर्म तिरोहित करके सर्वभवनसामर्थ्यरूपा मायाशक्तिद्वारा आंशिक ज्ञान-क्रियारूप उभयविधशक्तिमान जीव तत्त्वको; अथवा आनन्द तथा चित् दोनों ही तिरोहित करके नामरूपात्मक जड़ तत्त्वको प्रकट करते हैं. तृतीय ''यतो जगत् क्रीडति'' कल्पमें आनन्द चित् तथा सत् तीनों ही गुणधर्मोंको तिरोहित करके व्यामोहिका मायाशक्तिद्वारा नाम-रूप-कर्मोंका केवल आभास या अध्यास ही प्रकट करते हैं (द्रष्टव्य : शा.प्र.प्रका. १).

इस तरह स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति से सम्पन्न सच्चिदानन्द ब्रह्मके सच्चिदंश होनेके कारण ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति भी अंशतः तो स्वाभाविक ही जीवात्माके भीतर विद्यमान रहती ही हैं. इनका यथावद् उद्गम, परन्तु, देह इन्द्रिय प्राण एवं अन्तःकरण से जुड़ जानेके कारण कृत्रिमतया ही होता है : जीवको कर्ताके रूपमें मान्य करना चाहिये, क्योंकि जीवकेलिये ही वेदमें अभ्युदय-निश्रेयस् रूप फलोंको देनेवाले कर्मोंका विधान किया गया है, अन्यथा ब्रह्म या जड़ केलिये तो ये विधान निरर्थक या अप्रासंगिक ही सिद्ध होंगे. देह इन्द्रिय प्राण या अन्तःकरण को तो कर्ता माना नहीं जा

सकता, क्योंकि वे तो स्वयं करणरूप ही होते हैं. जो यह कहते हैं कि बुद्धिगत कर्तृत्वकी ही जीवमें आभासिक या औपाधिक प्रतीति होती है, उन्हें यह खुलासा देना पड़ेगा कि बुद्धिका कर्तृत्व जीवमें संक्रान्त होता है, या जीवका कर्तृत्व बुद्धिवशाद् उद्‌गत होता है, या इन दोनोंमें अविद्यमान कर्तृत्व इन दोनोंके जुड़ जानेके कारण पूर्वमें असत् होनेपर भी पश्चाद् उत्पन्न हो जाता है; अथवा अन्यत्र कहींसे आकर उभयाश्रित हो जाता है? प्रथम इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि बुद्धि स्वयं जड़ होनेसे कर्ता मानी नहीं जा सकती. द्वितीय कल्पमें इष्टापत्तिके साथ-साथ इतना और विवक्षित है कि स्वयं बुद्धिरूप करणका संग्रह भी तो जीवात्मा अपने स्वाभाविक कर्तृत्वरूप सामर्थ्यवशाद् ही करता है. तृतीय कल्पमें असत्कार्यवादका अवलम्बन लेना पड़ेगा जो श्रुतिको अनभिप्रेत ही है. चतुर्थ कल्पमें भी इष्टापत्तिके साथ-साथ यह तो खुलासा देना ही पड़ेगा कि ब्रह्मगत कर्तृत्व, श्रुति-प्रत्यक्षोभय-व्याहत होनेसे, सर्वात्मना तो असंभव ही है; फिरभी स्वाभाविकी क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से सम्पन्न ब्रह्मके अंशभूत जीवात्मामें ब्रह्मांशभूत स्वाभाविक कर्तृत्व भी यथेच्छा प्रकट हो ही सकता है (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३३-३५).

स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकारनेपर मुक्तावस्थामें भी शुभाशुभ कर्मोंके कर्तृत्वके विद्यमान रहनेपर मुक्ति ही सम्भव नहीं रह जायेगी, ऐसी आपत्तिके निरसनार्थ श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि यह तो विशुद्ध भ्रमणा ही है. ऐसी अनुपपत्तिको प्रामाणिक माननेपर तो अतिबालक अतिवृद्ध अथवा नपुंसक के भीतर ही कामवासनाका अभाव स्वीकार्य हो पायेगा, किसी युवक ब्रह्मचारी या संन्यासी के भीतर नहीं. क्योंकि कर्तृत्वके रहते जैसे नैष्कर्म्य सम्भव नहीं, वैसे कामेन्द्रियके रहते निष्कामता सम्भव नहीं रह जायेगी! फिर तो समाधि भी निरिन्द्रिय व्यक्तिको ही सिद्ध होनी चाहिये !!(द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।३।३९-४०).

"परात्तु तच्छ्रुतेः"(ब्र.सू. २।३।४१-४२) अधिकरणमें, जैसा कि कह ही चुके हैं, जीवके कर्तृत्वरूप धर्मको अन्य भी सत्ता चैतन्य ऐश्वर्यादि धर्मोंकी तरह अंशी ब्रह्मकर्तृत्वका अंशरूप ही स्वीकारा गया है.

श्रीमहाप्रभु 'पुष्टिप्रवाहमर्यादा' नामक ग्रन्थमें तथा अणुभाष्यमें जो स्पष्टीकरण इस बारेमें देते हैं उसका सार इस तरह है कि इस सृष्टिमें भगवत्क्रीड़ाके सामान्य नियम वेदादि शास्त्रोंमें प्रकट किये गये हैं. क्रीड़ार्थ प्रकट जीवात्माएं मूलमें द्विविध हैं: दैवी तथा आसुरी. दैवी जीवोंके पुनः दो प्रकार होते हैं: पुष्टिमार्गीय जीव तथा मर्यादामार्गीय जीव. पुष्टिमार्गीय जीवोंके पुनः चार प्रकार होते हैं: शुद्धपुष्टिके अधिकारी, पुष्टिपुष्टिके अधिकारी, मर्यादापुष्टिके अधिकारी; तथा प्रवाहपुष्टिके अधिकारी. इन सभी पुष्टि मर्यादा तथा प्रवाह के भेदोपभेदवश दैवी तथा आसुरी जीवोंकी साधन-फल-व्यवस्था इस तरह है: भगवान् फल प्रदान करते हैं कर्मके अनुसार, जीवसे कर्म करवाते हैं उसके प्रयत्नोंके अनुसार, जीव प्रयत्न करता है कामके अनुसार, जीव कामना करता है लोकप्रवाहके अनुसार, इन सभी सोपानोंपर भगवान् अंशदृष्टिसे कर्ता बनते हैं तथा अंशिदृष्टिसे कारयिता. परमात्मा और जीवात्मा के बीच तादात्म्यरूप अभेद होनेसे न तो वैषम्य या नैघ्रुर्य दोषका कोई प्रसंग है; और न जो कुछ अंशके साथ घटित हो रहा है उससे अंशीके दूषित होनेका ही. वेदादि सभी शास्त्र इस लीलाके लीलात्मक नियमोंका ही वर्णन कर रहे हैं. अन्यथा जैसा कि प्रारम्भमें निरूपित किया गया कि कर्म-ब्रह्म दोनों ही जीवात्माके अभ्युदय-निःश्रेयस्के साधनोंके उपदेशार्थ ही केवल हों तो अभ्युदय-निःश्रेयस्साधन ही प्रमुख प्रतिपाद्य विषयवस्तु सिद्ध होंगे, ब्रह्म नहीं. अतः कर्मानुसारी फलप्रदानकी वेदादि शास्त्रोंद्वारा निरूपित मर्यादाका बन्धन जैसे लीलात्मक है, वैसे ही भगवान् जब जहां जिस जीवके सन्दर्भमें उन बन्धनोंको तोड़ना चाहें, वह भी लीलात्मक ही होता है. शास्त्रमर्यादाके बन्धनोंको तोड़ कर जब भगवान् किसी जीवको केवल मुक्ति ही प्रदान करते हैं, उदाहरणतया व्रजमें भगवान्‌को मारनेकी कामनासे आनेवाले असुरोंको या ऐसे आसुरभाववाले अन्योंको भी मुक्तिदान किया गया, तो यह शास्त्रानुसारी प्रमाणबलसे उद्धारकी कथा नहीं है. यह तो प्रमेयबलसे उद्धारकी कथा है. इसी तरह जहां यथाशास्त्र साधनानुष्ठान करनेपर किसी जीवात्मामें परमात्माके प्रति भक्तिभाव प्रकट होता है तो ऐसी भगवद्‌भक्तिको प्रमाणबलसे प्रकट होनेके कारण 'मर्यादा-भक्ति' कहा जाता है. अन्यथा प्रमेयबलसे प्रकट हुई भक्तिको 'पुष्टिभक्ति' कहा जाता है.

एतदर्थ श्रीमहाप्रभुके इन वचनोका अवगाहन अतीव उपकारक होगा :—

> मर्यादामार्गका तो निर्माण ही शास्त्रविहित कर्मोंके
> अनुसार फलदानार्थ किया गया है; अतः शास्त्रनियमोंके

वैपरीत्यसे भगवान् निज स्वरूपानन्दरूप फलका दान किसी जीवको करते हैं तो ऐसे जीवको पुष्टिमध्यपाती समझना चाहिये (ब्र.सू.भा. २।३।४२).

प्रवाहमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह तो भगवान्ने स्वेच्छया निज मनमें ही निर्धारित कर रखा है, मर्यादामार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवान्ने वेदद्वारा निर्धारित-ज्ञापित कर दिया है; इसी तरह पुष्टिमार्गीय जीवको किस या कैसे साधनसे कौन सा फल मिलेगा यह भगवान्के उस जीवके समक्ष प्रकट किये निज स्वरूपसे निर्धारित करते हैं. ''तानहं द्विषतो क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु. आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्''(गीता १६।१९-२०) इस भगवद्वचनके आधारपर इस लीलामें मुक्ति या भगवद्भक्ति न पानेवाले आसुरी जीवोंको 'प्रवाही जीव' कहा जाता है. इनसे भिन्न अर्थात् जन्ममरणके चक्रसे शास्त्रविहित साधनोंके अनुष्ठान(=प्रमाणबल)द्वारा मुक्ति पानेके अधिकारी जीव 'मर्यादामार्गीय जीव' कहलाते हैं. कुछ दैवी जीवोंमें शास्त्रविहित साधनानुष्ठानके बिना भी मुक्तात्माओंको भी दुर्लभ ऐसी संसारासक्तिरहित भगवदासक्ति केवल भगवत्स्वरूप(=प्रमेयबल)से ही सिद्ध होती दिखलायी देती है, ऐसे जीवोंको प्रवाहमार्गीय तथा मर्यादामार्गी जीवोंसे भिन्न 'पुष्टिमार्गीय जीव' कहा जाता है. इस पुष्टिसृष्टिके जीवका प्राकट्य ही भगवत्स्वरूपाक्तिपूर्विका भगवत्सेवाकेलिये किया गया है.

प्रवाहमार्गीय या मर्यादामार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार से इन पुष्टिमार्गीय जीवोंके स्वरूप=आत्मा देह गुण या व्यवहार में वैसे तो कोई तारतम्य होता नहीं है, फिरभी भगवान् जब जो तारतम्य प्रकट करना चाहें तब कर देते हैं. भगवल्लीलाके भेदके अनुसार इन पुष्टिजीवोंके दो भेद

होते हैं: शुद्ध और मिश्र. शुद्धपुष्टिवाली कक्षाके जीव अति दुर्लभ होते हैं. इसी तरह मिश्रपुष्टिके पुनः तीन भेद होते हैं: पुष्टिपुष्टि मर्यादापुष्टि तथा प्रवाहपुष्टि. पुष्टिपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान भगवद्रति और तदनुसारी भगंवदनुकूलकृति यों सभी तरहका समन्वय होता है. मर्यादापुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान और भगवद्रति की प्रधानता होनेपर भी तदनुसारी कृति भलीभांति निभ नहीं पाती. प्रवाहपुष्टिवाली कक्षाके जीवोंके भीतर भगवन्माहात्म्यज्ञान या भगवद्रति की अनुसारिणी कृति तो निभ पाती है परन्तु ज्ञान या रति मेंसे कोई एक या दोनों ही कभी स्फुटतया प्रकट नहीं हो पाते. पुष्टिजीवोंके इन सभी प्रकारोंमें फल तो केवल भगवान् ही होते हैं. यह भगवदनुभूति इन विभिन्न कक्षावाले पुष्टिजीवोंको यहां भूतलपर ही भगवद्गुणानुभूति या भगवत्स्वरूपानुभूति के रूपमें जैसी भी हो भगवदिच्छावश होती है. न तो ये कभी पाषंडी हो पाते हैं और न, अतएव, इन पुष्टिजीवोंमें लौकिकता अर्थात् संसारासक्ति; या वैदिकता अर्थात् मुक्तिप्रापक साधनोंमें ही आसक्ति, वास्तविक हो सकती है. वह तो केवल लोकसंग्रहार्थ ही होती है—वास्तविक स्वरूप तो इनका भगवदीय होना ही होता है (पु.प्र.म. ९-२१).

इस तरह भगवल्लीलारूपा सृष्टिमें पुष्टि-मर्यादा-प्रवाहके भेदवश जीवत्रैविध्य तथा प्रमाण-प्रमेयबलके भेदवश भगवदनुग्रहद्वैविध्य के कारण साधनानुष्ठान तथा अनुग्रह का स्वरूप वाल्लभ वेदान्तमें बहुत ही लचीला बन गया है. और तो और किन्तु सर्वथा विलक्षण एक स्पष्टीकरण महाप्रभुने यह भी दिया है कि जीवात्माका देहेन्द्रियप्रणांतःकरणसे सम्बन्ध भी दो तरहका होता है: भगवत्कृत और आध्यासिक. आध्यासिक सम्बन्ध तो ज्ञानसे निवृत्त हो सकता है परन्तु भगवत्कृत सम्बन्धको जब भगवान् स्वयं ही निवृत्त करना चाहें तभी निवृत्त हो सकता है अन्यथा नहीं. अतएव जीवन्मुक्तोंके भी देहादि बने रहते हैं, अज्ञानकी सर्वांशमें निवृत्तिके बावजूद. शास्त्रोंमें वर्णाश्रमसहित देहादिवाले जीवात्माओंको

लक्ष्यमें रख कर जो धर्मोपदेश किये गये हैं, वे आध्यासिक सम्बन्धको निमित्त बना कर नहीं प्रत्युत भगवत्कृत देहादिसम्बन्धको निमित्त बना कर ही (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।४८).

इस सन्दर्भमें सुबोधिनीमें श्रीमहाप्रभुद्वारा किया हुवा प्रस्तुत विधान अतीव उपकारी हो सकता है :—

> यावद्देहोऽयं तावद्वर्णाश्रमधर्माएव स्वधर्माः, भगवद्धर्मादयोऽपि विधर्माः परधर्माः वा. यदा पुनरात्मानं जीवं मन्यते, संघातव्यतिरिक्तं, तदा दास्यं स्वधर्मोऽन्ये वर्णाश्रमादयोऽपि परधर्माः. यदा पुनर्भगवद्भावं प्राप्ताः तदा अलौकिकधर्माएव, ऋषभादिष्विव गोचर्यादयः, स्वधर्माः अन्ये परधर्माः.
>
> भावार्थ : जबतक यह देह है तबतक वर्णाश्रमधर्म ही स्वधर्म होता है अतः भगवद्धर्मको भी विधर्म या परधर्म तब समझना चाहिये. जब अपने-आपके बारेमें देहादि संघातसे अतिरिक्त जीवात्मा होनेकी बात चित्तमें निरूढ़ हो जाये तब भगवद्दास्य ही स्वधर्म बन जाता होनेसे अन्य वर्णाश्रमादिके नियम परधर्म बन जाते हैं. इससे आगे बढ़ कर जब भगवद्भाव प्राप्त हो जाये तब तो अलौकिकधर्म, जैसे ऋषभदेवजीके गोचर्यादिरूप थे, वैसे ही स्वधर्म बन जाते हैं अन्य सारे नियम परधर्म बन जाते हैं.

इस वचनमें यह उल्लेखनीय है कि वर्णाश्रमधर्मकी अनुष्ठाननियतिके द्योतनार्थ महाप्रभुने—"जबतक यह देह है" शब्दावली प्रस्तुत की है न कि "जबतक देहाभिमान है". इसी तरह भगवद्दास्यके आचरणार्थ देहाभिमानरहित होना निमित्त माना है. इससे कुछ 'अर्धजरतीय'न्याय प्रकट हुवा लगता है! परन्तु महाप्रभुका अभिप्राय कुछ ऐसा लगता है कि भगवदंशत्वभावनारहित देहाभिमाननिवृत्तिके सिद्ध होनेपर भी यावद्देहस्थिति वर्णाश्रमधर्मका त्याग अनभिष्ट है; तथा भगवदंशत्वभावनाके चित्तमें निरूढ़ होनेपर देहाभिमानका शैथिल्य भगवद्दास्यको स्वधर्मतया अनुसरणीय बनाता है. भगवद्भावके सुदृढ़ होनेपर तो जीव विधिपराधीन न रह कर सर्वथा भगवद्भावाधीन ही हो जाता है इस विषयमें तो कुछ विवेचनीय नहीं है. अस्तु.

प्रकृत सन्दर्भमें : यहां सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यही लक्ष्यमें रखने लायक है कि जीवोंके कर्मानुरोधवश भगवान् सुखदुःख प्रदान करते हैं इसे, श्रीमहाप्रभु, प्रतिवादिबोधनार्थ किया गया विधान मानते हैं—सिद्धान्तनिरूपणार्थ नहीं. क्योंकि आत्मसृष्टिमें यह आशंका या आरोप उठ ही नहीं सकते (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. २।१।३४). जैसे सच्चिदानन्द ब्रह्मगत ही 'अस्ति' 'भाति' और 'प्रियत्व' रूप धर्म जड़जीवात्मक जगत्में अनुगततया प्रतीत होते हैं, वैसे ही कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि धर्मोंका मूल भी ब्रह्ममें क्यों नहीं खोजना चाहिये? इस प्रश्नके उत्तरतया "इन धर्मोंका सांसारिक भ्रान्तिका जनक होना" तो कोई उपपन्न हेतु नहीं है. क्योंकि सत्ता चैतन्य और आनन्द को भी जगद्भ्रान्तिके मूलाधिष्ठानतया शांकर दर्शनने स्वीकारा तो है ही, सो उन्हें भी ब्रह्मगत नहीं मानना चाहिये (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. १।१।५).

यदि आत्मरमणशील हो तो इस सच्चिदानन्द ब्रह्मको सृष्टि प्रकट करनेकी क्या आवश्यकता; और निर्लेप रमणार्थ यदि आत्मभिन्न सृष्टिको रच कर जीवात्मासे शुभाशुभ कर्मोंको करवा कर इष्टानिष्ट फलोंका प्रदाता ब्रह्म बनता हो तो ऐसे ब्रह्मको आप्तकाम कैसे मानना? इन प्रश्नोंका उत्तर वाल्लभ वेदान्तके अनुसार यों दिया जा सकता है कि यह सृष्टि ब्रह्मके आत्मरमणका ही विस्तार है—"स वै नैव रेमे...स इममेवात्मानं द्वेधापातयत्...तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत...ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेद् 'अहं ब्रह्मास्मी'ति. तस्मात् तत् सर्वमभवत्. तद्यो देवानां प्रत्यबुध्यत सएव तदभवत्. तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्" (छां.उ. १।४।१-१०). अतएव वाल्लभ वेदान्तका कहना है कि सृष्टिनिर्माणसे पूर्वकालिक अरमण ब्रह्मके स्वाभाविक ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्यादि अनन्त दिव्य गुणोंकी निर्विषयता दूर करनेकेलिये ही था. सृष्टिरूप रमण, अतएव, आत्मरमणका ही विस्तार है. उत्तरकालिक रमणेच्छया स्वयंमेंसे भिन्नतया प्रकट नामरूपवान् जड़के साथ रमणके कारण या ज्ञानक्रियावान् जीवके साथ रमणके कारण भी ब्रह्मकी आप्तकामतामें कोई व्याघात नहीं उभरता, क्योंकि देव ऋषि या मनुष्यों में भी जो भी कोई, एक ही ब्रह्मके अनेक बन जानेके, इस गूढ़ रहस्यको जान लेता है, वह स्वयं वस्तुमात्रकी ब्रह्मात्मकताका अनुभव करने लग जाता है. ऐसी स्थितिमें ज्ञानवैराग्यैश्वर्यादि दिव्यानन्दात्मक निखिल-गुणशाली परमेश्वरमें निज अंशरूप जीवोंकी तरह किसी तरहके पररमणप्रयुक्त अज्ञान या भ्रान्ति से पनपे क्षुद्र सुख-दुःखोंकी व्यवसायात्मिका

अनुभूति तो सम्भव ही नहीं है. जीवात्माके भी भीतर विद्यमान होनेके कारण, परन्तु, अन्तर्यामी परमात्माको भी सर्वज्ञ होनेके कारण अनुव्यवसायात्मिका अनुभूति तो हो ही सकती है.

अतएव भाष्यकार कहते हैं—"भगवान्‌की लीलाविहारकी इच्छाके कारण पहले निज अंशोंमें आनन्दात्मक भगवद्धर्मोका तिरोभाव होता है. फलतः वह अंश जीवभावापन्न होकर सकाम बन जाता है—अन्यथा आनन्द कभी सकाम नहीं हो सकता है, पूर्णकामता ही आनन्दका असाधारण लक्षण है. इन आनन्दात्मक धर्मोंके तिरोभावके बिना भगवान्‌के ऐश्वर्यादि दिव्य गुण निर्विषय बन जायेंगे." (द्रष्टव्य : ब्र.सू.भा. ३।२।५). अतएव "परमतः सेतून्मान"—"फलमत उपपत्तेः" अधिकरणों(ब्र.सू. ३।२।३१-४१)में यह कहा गया है कि जो उत्तम निष्काम अधिकारी होते हैं, उनकेलिये तो परमात्मा फलदाता नहीं प्रत्युत फलरूप ही होता है; परन्तु सकाम मन्द-मध्यमाधिकारियोंको उनके कर्मोंके अनुसार ऐहिक या पारलौकिक फल परमेश्वर ही प्रदान करता है.

जैसे एक परमात्मा पुष्टिमर्यादाप्रवाहके भेदोपभेदोंसे अनेकविध जीवात्मा बन जाता है, श्रीमहाप्रभुके अनुसार, वैसे ही एक ही भगवदनुग्रह न केवल भक्ति अपितु ज्ञान कर्म तप वैराग्य तीर्थ व्रत आदि अनेकविध आध्यात्मिक या आधिदैविक जीवव्यापारोंके रूपमें स्वयंके विविध रूपोंको प्रकट करता है. यह तो जब ये उपाय मुक्ति या भक्ति के प्रापक हो पाते हों, तब इनके स्वरूपका विवक्षित विवरण है. श्रीमहाप्रभुके अनुसार, अन्यथा, अन्य आधिभौतिक उपायोंकी तरह ही इन कर्मोंकी सफलता या विफलता भी ईश्वरेच्छाधीन ही होती है.

जैसा कि हम देख गये सजातीय विजातीय एवं स्वगत द्वैतसे रहित आत्मामें क्रीड़ार्थ जो ऐच्छिक द्वैत प्रादुर्भावित हुवा है, उसमें परमेश्वरके कर्मानुसारी फलदाता होनेकी दुहाई तो लोकदृष्ट्यनुरोधी ही समाधान है; अन्यथा परमात्माका निरंकुश ऐश्वर्य सिद्ध नहीं होगा. कर्मनियम स्वयंनिर्धारित है अन्यनिर्धारित नहीं, ऐसा स्वीकारनेपर भी, इतनी असमर्थ जीवात्माओंकेलिये शास्त्रोपदिष्ट कितने कठोर एवं क्रूर कर्मनियमके निर्धारक होनेके कारण ईश्वरकी निरवधिक दयालुता ही अविश्वसनीय बन जाती है. कर्मसापेक्ष फलदानके सिद्धान्तको, अतएव, लोकदृष्ट्यनुरोधी समाधान स्वीकारना ही उचित है (द्रष्टव्य : त.दी.नि. १।७६). सर्वनिर्णयमें भी इसका सुविशद निरूपण जो श्रीमहाप्रभुने किया है

उसका सार कुछ इस तरह है :—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" वचनमें 'माम्'के साथ 'एव'कारको जोड़ कर भगवान्‌ने स्वेतर सभी साधनोंकी अनुपायता दिखलायी है. क्योंकि ज्ञान कर्म तप आदि सभी उपायोंकी फलप्रापकता भगवदधीन ही है, अतः आवश्यकता साधननिष्ठाके बजाय भगवत्स्वरूपनिष्ठाकी ही श्रेष्ठ होती है. जो यह सोचते हैं कि भक्तोंको भी अन्तमें कभी ज्ञान प्राप्त होनेपर ही मुक्ति मिल पायेगी, उनका यह दृष्टिकोण, 'माम्'पदवाच्य जो ज्ञानप्राप्य स्वरूप है उसके साथ जुड़े 'एव'कारको स्वसहोच्चारित पदसे हठात् छुड़ा कर असहोच्चारित ज्ञानादि साधनोंसे जोड़नेकी अमंजसतामें पर्यवसित होता है. अतएव "तमेव विदित्वा" या "ज्ञानी त्वात्मैव मे" सदृश वचनोंमें कहीं ब्रह्मेतर विषयके व्यावर्तनार्थ तो कहीं "नहि निन्दा निन्द्यं निन्दति किन्तु स्तुत्यं स्तौति" न्यायसे किसी एक उपायकी स्तुतिकेलिये इतर उपायोंका व्यावर्तन सा दिखलाया गया है. उल्लिखित 'तमेव'में जुड़े 'एव'कारको भी, इसलिये, कोई स्तुत्यर्थ मानना चाहे तो वह इसलिये सम्भव नहीं, क्योंकि अनेक अज्ञानी या द्वेषादि भावोंको रखनेवाले सरी-सर्प-पशु-पक्षी-देव-मानव-दानव जीवोंको भी मुक्ति प्रदान करनेके अनेक पौराणिक उपाख्यानोंको या तो अर्थवाद मानना पड़ेगा या फिर ज्ञान या अन्य किसी अभीष्ट उपायोंके पूर्वजन्ममें अनुष्ठानकी अश्रुत कल्पना करनी पड़ेगी. वह कर लेनेके बावजूद "फलमत उपपत्तेः" सूत्रोक्त फलदानमें श्रुत परमेश्वरका स्वातन्त्र्य तो कुण्ठित होगा ही. भागवतके एकादशस्कन्धमें स्वप्राप्तिके साधनतया योग सांख्य दान व्रत तप होम-यज्ञ व्याख्या स्वाध्याय या संन्यास के बारेकी सभी विधि-निषेध-मूलक प्रवृत्ति-निवृत्ति या श्रोतव्य-श्रुत की परवाह छोड़ कर सर्वदेही जीवात्माओंके भी आत्मरूप ऐसे एकमात्र

परमात्माके शरणमें आनेकी बात स्वयमेव भगवान्ने कही है. स्वयं कैसे मिलेंगे इसे स्वयंसे अधिक भलीभांति अन्य कौन जान सकता है!

इससे सिद्ध होता है कि कर्म-ज्ञान-भक्ति आदि सभी साधनोंकी शास्त्रनिरूपित साधनता या उपायता केवल लोकप्ररोचनार्थ ही उपदिष्ट हुई हैं. एतावता इन वचनोंको बाधितार्थ मान लेनेकी धांधल नहीं करनी चाहिये, क्योंकि शास्त्रीय प्रमाणबलके आधारपर भगवत्कृपाके प्रकट होनेके औत्सर्गिक प्रकार तो ये ही दिखलायी देते हैं. विशेषकृपाका साथ मिलनेपर ये शास्त्रोपदिष्ट उपाय जीवके उद्धारके साधन भी बनते ही हैं. अपवादरूपेण, परन्तु, अपने प्रमेयबलको प्रकट करके इन शास्त्रोपदिष्ट साधनोंकी अपेक्षा रखे बिना भी जिस-किसी विहित या निषिद्ध व्यवहार या मनोभाव को भी अपने अनुग्रहके प्राकट्यका निमित्त भगवान् बना ही सकते हैं.

फिरभी भक्ति और भक्तीतर साधनों के बीचमें एक तारतम्य, श्रीमहाप्रभु भारपूर्वक, यह दिखलाना चाहते हैं कि यथायथ उपायों या साधनों के द्वारा प्रकट हुवे परमात्माके स्वरूप भी अनेकविध हो सकते हैं. उदारणतया कृपा होनेपर, कर्मसे कर्मफलरूप स्वर्गतया या आत्मसुखतया उस आनन्दका प्राकट्य होता है. ज्ञान या उपासना से तदनुरूप ज्ञेय या उपास्य का ब्रह्मानन्दतया प्राकट्य होता है. इसी तरह भक्तिसे, उदासीनरूपमें नहीं प्रत्युत भजनीयरूपमें ही, परमात्माके भजनानन्दका प्राकट्य होता है.

अतः हमारे ऊपर भगवान्की वैसी कृपावृष्टिका द्योतक हो या न हो, प्रेमात्मिका भक्तिसे भगवद्भजनका कुछ असाधारण वैशिष्ट्य तो होता ही है. अतः (१) प्राणिमात्रपर दयाभाव रखते हुवे (२) यदृच्छालब्धमें सन्तोष रखते हुवे (३) सभी इन्द्रियोंकी वृत्तिओंका उपशम करते हुवे (४) निष्कपट एवं निष्काम प्रेमसहित भगवत्सेवामें

> तत्पर रहना हर स्थितिमें उचित ही होता है. क्योंकि जो अज्ञान काम द्वेष मात्सर्य या भय जैसे असाधनोंको भी निजप्राप्तिका साधन बनानेको समर्थ है, वह उल्लिखित प्रकारसे भगवन्निष्ठ होकर जीवनयापन करनेवालेके प्रति निष्ठुर क्यों-कैसे हो पायेगा? (द्रष्टव्य : त.दी.नि. २।३०४-३१७).

पञ्चपर्वा विद्या(= १.वैराग्य २.सांख्य ३.योग ४.तप ५.भक्ति); एवं पञ्चपर्वा अविद्या(= १.अन्तःकरणाध्यास २.प्राणाध्यास ३.इन्द्रियाध्यास ४.देहाध्यास ५.स्वरूपविस्मृति) ये भगवान्की ही द्वादशविध शक्तिओंमेंकी दो शक्तियां हैं (द्रष्टव्य : तैत्ति.उप. २।६ — भाग. १०।३९।५५). इन दशविध पर्वोमिंसे जब विद्याशक्तिके जिस मोक्षोपायरूप पर्वको असाधन या अविद्याशक्तिके जिस मोक्षविघातक पर्वको भगवान् जब साधन बनना चाहें तब भगवान्का वैसा निरंकुश स्वातन्त्र्य न केवल स्वीकारना ही चाहिये प्रत्युत साधनोपदेशक शास्त्रोंद्वारा वह निरूपित है ही. अतएव श्रीमहाप्रभु कहते हैं :—

> ऐसा वह परमकाष्ठापन्न कभी अपनी अखण्डता तथा पूर्णता को लिये हुवे जगदुद्धारार्थ प्रादुर्भूत हो जाये, तब उसे ‘कृष्ण’ कहा जाता है. भगवान्के अवतीर्ण होनेसे पूर्व भी उद्धारके अनेक साधन तो विद्यमान थे ही; और उन साधनोंको जो अपनाने जो जीव समर्थ न हों ऐसे अनधिकारिओंके बीच प्रकट होकर भी भगवान् क्या करेंगे? ऐसी आशंकायें अद्भुतकर्मा भगवान्के बारेमें अप्रासंगिक हैं. क्योंकि भगवान् तो ऐसे अद्भुतकर्मा हैं कि असाधनको भी साधन बना सकते हैं (त.दी.नि. १।१).

लौकिक प्रमाणोंसे अप्रमेय होनेपर भी निजेच्छावश भगवान् सर्वजननयनगोचर प्रमेय बन सकते हैं. ऐसे ही कर्म-ज्ञान-भक्तियोगोंसे अथवा विद्याके वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप पांच पर्वोंसे भी, प्रकट होनेकी इच्छा न होनेपर अप्रकट रह सकते हैं. स्वयंकी इच्छा होनेपर भगवान्, अविद्याके पांच पर्वोंको; या काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य को भी, साधन या निमित्त बना कर प्रकट हो सकते हैं. विद्यासे मुक्तिका नियम या अविद्यासे संसृतिका नियम

जीवात्माओंकेलिये विद्योपदेशक शास्त्रीय प्रमाणमर्यादाके अनुसार बन्धनकारी हो सकता है—स्वयं परमात्माकेलिये बन्धनकारी नहीं. अतएव प्रमेयप्रकरणमें हमने देखा कि लोकरीत्या वृन्दावनस्थित श्रीकृष्णका व्रजमें स्थित भक्तोंकी अनुभूतिका प्रमेय बन पाना शक्य नहीं, फिरभी अपने दिव्य वेणुवादनको श्रवण करा कर शृंगाररसभावात्मक प्रमेय भी भगवान् बने. इसी तरह भगवान्‌को अपने पति बनानेकी कामनावश किये जाते कात्यायनीव्रतरूप साधनको भगवान्‌ने असाधन बना कर, असाधन चीरहरण और चीरदान की निजकेलिको साधन बना लिया: शरद् ऋतुमें रासक्रीड़ाका वचन देकर! ‘‘अहं क्रतुरहं यज्ञः...अहमग्निरहं हुतम्’’ वचनसिद्ध श्रौत साधनरूप यज्ञयागमें देवताओंकेलिये सम्पादित हव्यान्नकी आहुतिको असाधन बनाकर गोपबालकरूप निजसखाओंको खिला देनेरूप असाधनको भगवान्‌ने साधन बना दिया! जिसे वेदमें ‘‘मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च’’वचनद्वारा मुखरूप; एवं भागवतमें ‘‘इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः’’ वचनद्वारा बाहुरूप कहा गया है, ऐसे इन्द्रको चढ़ायी जानेवाली बलि रूपी जो साधन उसे असाधन बना कर, अश्रुतपूर्व गोवर्धनपर्वतके अर्चनको निजार्चनका साधन बना लिया! असाधनरूप वरुणापराधको भगवान्‌ने निजमाहात्म्यज्ञानके प्रदानार्थ साधन बना दिया! ऐसी विलक्षण साधनलीलाके सात अध्यायोंके सात अर्थोंके अनुसन्धानार्थ अब हमें प्रवृत्त होना चाहिये.

ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य इन छह गुणधर्मोंके; तथा इनसे युक्त सातवें स्वयं भगवान् धर्मीके, निरूपणार्थ इस साधनप्रकरणमें सात अध्याय योजित किये गये हैं. स्नेहकी आसक्ति-दशाका वर्णन जैसे प्रमेयप्रकरणमें अभिप्रेत है; वैसे ही स्नेहकी व्यसनावस्थाका वर्णन इस साधनप्रकरणमें अभिप्रेत है. भगवत्स्नेहकी इस व्यसनावस्थामें अनुष्ठित साधनरूपा कृतिद्वारा व्रजभक्तोंका चित्त भगवान्‌में कितना अधिक लग गया था यही यहां निरूपणीय है. सकल दैहिक धर्मोंका त्याग करके भगवत्प्राप्त्यर्थ लौकिक या वैदिक कर्तव्योंके निर्वाहकी जीवनशैलीमें भगवत्स्नेह व्यसनदशापन्न हो गया है. इस तरह सातों अध्यायोंद्वारा व्रजभक्तोंके निरोधका अर्थात् प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्तिका ही वर्णन यहां अभिप्रेत माना गया है.

वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप विद्याके पांचों पर्वोंकी अनुष्ठानात्मिका सिद्धि तो नहीं परन्तु स्वरूपसिद्धि या फलसिद्धि तो यहां भी विवक्षित है ही.

तदनुसार :—

साधनप्रकरणके प्रथम (आदितः १९=२२) अध्यायमें: भगवान्‌के ऐश्वर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. कुमारिकाओंकेद्वारा भगवद्व्यसनवशात् किये गये कात्यायनीव्रतके प्रसंगमें भगवान्‌ने उनके वस्त्रोंको हर कर उनके लौकिकभावको दूर किया और बादमें स्वयं ही रासक्रीड़ाके वरदानका ऐश्वर्य प्रकट किया.

साक्षात् सम्भव न होनेपर परम्परया भी भगवान् ही सेवनीय होते हैं और एतदर्थ देहेन्द्रियादिका स्वार्थपूर्ण विनियोग करनेके बजाय भगवदर्थ विनियोग करनेकी भावना रखनी उचित होती है. प्रकृत लीलासन्दर्भमें गोपिकाओंद्वारा अनुष्ठित वैराग्यसाधनाके इसी अभीष्ट स्वरूपको सिद्ध करनेकी बात समझानेकेलिये कात्यायनीव्रतद्वारा भगवद्भजनकी कथा निरूपित हुयी है. वृक्षके उदाहरणद्वारा परार्थ जीवनयापनका उपदेश भी इसी वैराग्यसाधनाके निरूपणार्थ है.

साधनप्रकरणके द्वितीय (आदितः २०=२३) अध्यायमें: वीर्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. यज्ञभोक्ता यज्ञात्मा भगवान् एवं उनके साथी गोपबालकोंको भोजन कराने आयी ब्राह्मणोंकी पत्निओंपर उनके यज्ञपरायण पतिओंका मत्सरग्रस्त न होना भगवान्‌के असाधारण वीर्य गुणका निरूपण है.

इसी तरह क्षुधापीड़ित गोपबालकोंने क्षुधापीड़ाकी निवृत्तिकेलिये भगवान्‌की ही प्रार्थना की अन्य किसीकी नहीं, यह विद्याके द्वितीय पर्व सांख्य-विवेकका प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भ है.

साधनप्रकरणके तृतीय (आदितः २१=२४) अध्यायमें: यश गुणका वर्णन अभिप्रेत है. जिन हेतुओंके वश इन्द्रपूजन किया जाता था, उन हेतुओंका निरसन करके वैष्णवयागरूप गोवर्धनपूजन भगवान्‌ने करवाया, वह भगवान्‌का स्वधर्मयोजनरूप यशोरूप गुण है.

इन्द्रदेवकेलिये परम्पराप्राप्त बलि-उपहार पूजन रूप अन्याश्रयार्थ उत्सुक चित्तोंके चाञ्चल्यका निराकरण करके गोवर्धनपूजनार्थ सभी व्रजवासिओंके चित्तको अपनेमें निरुद्ध करना, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें विद्याके तृतीय पर्वरूप योगका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके चतुर्थ (आदितः २२=२५) अध्यायमें: श्री गुणका वर्णन अभिप्रेत है. गोवर्धन पर्वत धारण करके इन्द्रकृत उपद्रवोंसे निजभक्तोंका त्राण करनेके निरूपणमें भगवान्‌की श्री वर्णित हुयी है.

सह्यासह्य सुख-दुःखादि सभी अवस्थाओंमें भगवान् ही आश्रयणीय

होते हैं. भगवान् भी अक्लिष्टकर्मा होनेसे किसी तरहके क्लेशके बिना ही गोवर्धनधारणद्वारा निजभक्तोंकी रक्षा करते ही हैं, यह प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें विद्याके चतुर्थ पर्वरूप तपका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके पञ्चम (आदितः २३=२६) अध्यायमें : ज्ञान गुणका वर्णन अभिप्रेत है. एक बार ही नहीं परन्तु आनेवाले वर्षोंमें भी अन्याश्रयार्थ कोई व्रजभक्त प्रवृत्त न हो एतदर्थ गर्गाचार्यके वचनोंसे भगवन्माहात्म्यका निरूपण जो किया गया है, वह भगवान्के ज्ञान गुणका ही निरूपण है.

गर्गाचार्यद्वारा निरूपित भगवन्माहात्म्यके ज्ञानके साथ-साथ भगवान्में परमस्नेहरूपा भक्ति ही, प्रकृत लीलोपयोगी सन्दर्भमें, विद्याके पञ्चम पर्वरूप भक्तिका अभीष्ट स्वरूप है.

साधनप्रकरणके षष्ठ (आदितः २४=२७) अध्यायमें : वैराग्य गुणका वर्णन अभिप्रेत है. इन्द्रकेद्वारा अपराध किये जानेके बावजूद इन्द्रको निरस्त करनेके बजाय उसके केवल मदको निरस्त करनेकी लीलामें भगवान्का वैराग्य गुण निरूपित हुवा है.

साधनप्रकरणके सप्तम (आदितः २५=२८) अध्यायमें : षड्गुणोपेत धर्मीका वर्णन अभिप्रेत है. व्रजवासियोंको वैकुण्ठकी साक्षात् अनुभूति करा कर पुनः भजनानन्दके दानार्थ गोकुलमें लाना, यह भगवान्की अपने धर्मी स्वरूपको भलीभांति जतानेकी ही लीला है.

इस तरह दशम स्कन्धका प्रतिपाद्य विषय — अपनी समग्रताके साथ परमात्माका जीवात्माओंके बीचमें प्रकट होकर ऐसी लीला करना कि जीवात्मा प्रापञ्चिक विषयासक्तिके चंगुलसे छूट कर भगवान्में निरतिशय आसक्त बन जाये — के सन्दर्भमें तामस प्रकरणमें ऐसे तामस अधिकारिओंके अर्थात् शास्त्रीय साधनाओंकी सिद्धिसे रहित अधिकारिओंके साथ भगवल्लीला विवक्षित है. इस तामस प्रकरणके अन्तर्गत प्रमेय-प्रकरणमें उन तामस अधिकारिओंके अधिकार स्वभाव और भाव के अनुरूप कैसा प्रमेय स्वरूप भगवान्ने प्रकट किया यह दिखलाना अभीष्ट है. इसी तरह उन भक्तोंने ऐसे प्रकट प्रमेयमें समासक्त हो कर क्या-कैसे साधन किये इसका निरूपण साधन-प्रकरणमें किया गया है.

स्पष्ट है कि यहां जो कुछ लीला वर्णित हुई है उसके आधिदैविक लीलापक्षमें तो भगवान्का प्रमेयबल अर्थात् शास्त्रप्रमाणाननुरोधी सामर्थ्य ही प्रकट हुवा है. साथ ही साथ उस लीलाकी कथाको प्रकट करनेमें प्रमेयबलके अन्तर्निहित प्रमाणबलवाले आध्यात्मिक भाव भी विवक्षित हैं ही.

इससे यह सिद्ध होता है कि जहां जीवकेलिये ज्ञातव्यबोधकतया या कर्तव्यसाधकतया आध्यात्मिक प्रमाणबलका निरूपण किया जाता है, वहां प्रमाणान्तर्निहित आधिदैविक प्रमेयबलको भुला नहीं देना चाहिये, ''फलमत उपपत्तेः'' न्यायानुसार. इसी तरह जहां परमात्माके लीलाविहारकेलिये आधिदैविक प्रमेयबलका निरूपण किया गया हो, वहां उसके प्रमाणबलानुकूल आध्यात्मिक भावोंको भुला कर लीलानिरूपण नहीं करना चाहिये. आत्मभिन्न किसी तत्त्वके प्रमाता प्रमाण प्रमिति या प्रमेय होनेके प्रभेदोंसे रहित एकमात्र अखण्ड सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वयंको ही लीलार्थ उक्त चतुर्विध प्रभेदोंमें प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं. इसी तरह आत्मभिन्न किसी तत्त्वके कर्ता करण कृति या कार्य होनेके प्रभेदोंकी अपेक्षासे रहित ही वह स्वयंको इन चतुर्विध प्रभेदोंमें भी प्रविभक्त कर प्रकट होते हैं. ब्रह्मजिज्ञासार्थ प्रवृत्त वेदान्तसूत्रोंमें ब्रह्मतत्त्वके श्रवण मनन एवं निदिध्यासन केलिये उसकी स्वाभाविक ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के बारेमें उठते सन्देहोंका वारण अपेक्षित है. भगवल्लीलाके श्रवण कीर्तन एवं चिन्तन केलिये, तन्मूलक पादसेवन अर्चन एवं वन्दन केलिये; तथा इन भक्तिमार्गीय क्रियाकलापोंको दास्य सख्य एवं आत्मनिवेदन रूप लीलात्मक भाव-भावनाओंसे मण्डित करनेकेलिये भगवान्की क्रिया-ज्ञान-रूप उभयविध शक्तिओंके कारण ऐश्वर्यादि षड्गुणोंके द्विगुणित हो जानेसे, जो द्वादशविध शक्तियां अनुभूत होती हैं, उनके साथ भूतलके ऊपर प्रकट भगवान्के लीलागानकी उत्कण्ठाओंको सन्तुष्ट करना, वस्तुतः तो उस सच्चिदानन्दरूप औपनिषद् ब्रह्मका एवं गीतोक्त आत्मानन्दरूप परमात्माका ही भगवदानन्दके रूपमें एक मधुर-मंगल-मृदुल रसास्वादन श्रीमद्भागवत है.

अतएव जैसे वेदान्तसूत्रके बारेमें श्रीमहाप्रभु कहते हैं :—

सन्देहवारकं शास्त्रं वेदप्रामाण्यवादिनाम्।
क्रियाशक्तिज्ञानशक्ती सन्दिह्येते परस्थिते॥

वैसे ही श्रीमद्भागवतके बारेमें भी कहा जा सकता है :—

आनन्दस्य हरेर्लीला शास्त्रार्थो नैकधा हि सा।
नैकधा हि भवेत्तोषः लीलौत्कण्ठ्यवतामिह॥

सम्पादकीय

पृथक्-पृथक् प्रकाशित मूल सुबोधिनी और टीकाओंको जन्मप्रकरणसुबोधिनीकी तरह एकत्रायतया पुनःप्रकाशित करनेके प्रयासमें प्रमाणप्रकरणके बाद यह अब दूसरा ग्रंथ है. श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित प्रमेय-साधन-प्रकरण-सुबोधिनीजी; एवं प्रकाशव्याख्या श्रीवाडीलाल न. शाहने वि.सं. १९८७-८८में प्रकाशित की थी. श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा श्रीधीरजलाल सांकलिया ने टिप्पणीजीकी प्रथमावृत्ति वि.सं. १९७७में तथा द्वितीयावृत्ति वि.सं. २००७में गो.श्रीव्रजरत्नलालजी महाराजश्री (सूरत)के सर्वविध सहयोगसे प्रकाशित की थी. लेख-योजना-कारिकार्थविवरण श्रीधीरजलाल सांकलियाने वि.सं. १९९३में छपवाये थे. श्रीमगनलाल शास्त्रीद्वारा सम्पादित सर्वटीकोपेत स्वतन्त्रलेखयुत वेणुगीतसुबोधिनीजी श्रीवाडीलाल न. शाहने वि.सं. १९८६में प्रकाशित की थी. इन संस्करणोंकी प्रस्तावनायें हम प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीमें प्रकाशित कर ही चुके हैं. इन सभी महानुभावोंके हम ऋणी एवं चिरकृतज्ञ हैं.

साधनप्रकरणपर प्रकाश न तो उपलब्ध है और न मुद्रित ही — लिखा गया था या नहीं, यह कह पानेमें भी हम असमर्थ हैं. वेणुगीतप्रकाशके दो संस्करण लघुप्रकाश और बृहत्प्रकाश श्रीमगनलाल शास्त्रीने प्रकाशित किये थे. बृहत्प्रकाश लघुप्रकाशका ही परिवर्धित एवं परिमार्जित रूप होनेसे लघुप्रकाश बृहत्प्रकाशसे गतार्थ है. अतः हमने उसे परिशिष्टतया प्रकाशित किया है. साथमें प्रमेय-साधनप्रकरणसंबंधी स्वतन्त्रलेख भी हमने परिशिष्टमें समाविष्ट किये हैं. जन्म-प्रमाणादि प्रकरणोंसे सम्बन्धी स्वतन्त्रलेखोंको हम फलप्रकरणसुबोधिनीके साथ प्रकाशित करनेवाले हैं.

प्रमाणप्रकरणकी हमारी शैलीको यथावत् निभाते हुए हमने हमारे द्वारा प्रस्तावित पाठ (!) रूपमें दिये हैं; तथा सुबोधिनीपाठके अनुसार श्रीभागवतके श्लोकोंके भी संशोधनका प्रयास किया है. परिशिष्टमें हमने प्रमाणप्रकरणसुबोधिनीका शोधपत्र भी समाविष्ट किया है, जो हमें सहसा ही प्राप्त हो गया.

इस खंडके मुद्रणकार्यमें फॉन्टॅसी टाईपसॅटर्स् (पूना)के श्रीप्रशान्त धवलीकर तथा हमारे सहयोगी श्रीरसिकभाई शाह एवं श्रीमधु ओ. भाटिया के भी हम कृतज्ञ हैं. हस्तलिखित ग्रन्थसंग्राहकोंके प्रति हमारा यह सविनय अनुरोध है कि सुबोधिनीसे सम्बद्ध अप्रकाशित साहित्यकी झेरॉक्स ही हमें प्रदान करके भी लुप्तप्रायः वाङ्मयके संरक्षणमें सहयोगद्वारा हमें चिरकृतज्ञ बनायेंगे. किमधिकं सुज्ञेषु!

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान्।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति॥

श्रीवल्लभाब्द ५१६ *गोस्वामी श्याममनोहर*
अक्षयतृतीया *असित ज. शाह*

◆

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धान्तर्गत–तामसप्रमेयसाधनप्रकरण–विषयानुक्रमणिका

विषयाः — पृष्ठानि

(१) तामसप्रमेयप्रकरणम् — १ — ३४१
- १. **भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः (आदितः द्वादशः)** — १ – ७२
  - पौगण्डवयःश्रितयोः रामकृष्णयोः गोचारणरूपायां महाक्रीडायां भगवत्कृता बलरामस्तुतिः — १ – ४६
  - खररूपधारिधेनुकासुरादेः बलदेवेन मारणं, सायंकाले व्रजे आगमनं, कृष्णस्य गोपीनेत्रमहोत्सवत्वम् — ४७ – ६८
  - कालियविषदूषिताम्बुपानात् गतप्राणानां गवां गोपानां च पुनः उज्जीवनम् — ६९ – ७२
- २. **भगवद्वीर्यधर्मनिरूपको द्वितीयोऽध्यायः (आदितः त्रयोदशः)** — ७३ – १२९
  - कालियदमनं, नागतत्पत्नीकृतं च भगवतः स्तवनं, नागस्य ह्रदपरित्यागश्च
- ३. **भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः (आदितः चतुर्दशः)** — १३० – १४३
  - यमुनाह्रदे कालियनिवासस्य हेतुवर्णनम् — १३० – १३७
  - ह्रदनिर्गतेन श्रीकृष्णेन व्रजौकसां दावानलात् रक्षणम् — १३८ – १४३
- ४. **भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः (आदितः पञ्चदशः)** — १४४ – १६४
  - प्रलम्बासुरवधः.
- ५. **भगवज्ज्ञानधर्मनिरूपकः पञ्चमोऽध्यायः (आदितः षोडशः)** — १६५ – १७८
  - मुञ्जाटव्यां गवां गोपानां च दावानलात् रक्षणम्.
- ६. भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः षष्ठोऽध्यायः (आदितः सप्तदशः) — १७९ – २४४
  - प्रावृड्वर्णनं शरद्वर्णनं च
- ७. धर्मिरूपभगवन्निरूपकः सप्तमोऽध्यायः (आदितः अष्टादशः) — २४५–३४१
  - भगवत्कृतवेणुवादनमाकर्ण्य व्रजस्थितगोपिकाभिः कृतं तद्वर्णनरूपं वेणुगीतम्

(२) तामससाधनप्रकरणम् — ३४३ — ५८३
- १. भगवदैश्वर्यधर्मनिरूपकः प्रथमोऽध्यायः (आदितः एकोनविंशः) — ३४३ – ४०७
  - कुमारिकाभिरनुष्ठितकात्यायनीव्रतप्रसङ्गे तच्चीरहरणम् — ३४३ – ३९६
  - गोपबालकेभ्यः परार्थताज्ञानोपदेशः — ३९७ – ४०७
- २. भगवद्वीर्यधर्मनिरूपको द्वितीयोऽध्यायः (आदितः विंशः) — ४०८ – ४६३
  - गोपप्रार्थना, मखे प्रेषणं, विप्रभार्याप्रसादः, द्विजन्मनां पश्चात्तापश्च
- ३. भगवद्यशोधर्मनिरूपकः तृतीयोऽध्यायः (आदितः एकविंशः) — ४६४ – ४८५
  - महेन्द्रयागभङ्गपूर्वकं गोवर्धनयागकारणम्
- ४. भगवच्छ्रीधर्मनिरूपकः चतुर्थोऽध्यायः (आदितः द्वाविंशः) — ४८६ – ५१३
  - गोवर्धनोद्धरणेन सुरेन्द्रगर्वहरणम्

५. भगवज्ज्ञानधर्मनिरूपकः पञ्चमोऽध्यायः (आदितः त्रयोविंशः) ५१४–५२६
श्रीकृष्णस्य अलौकिकसामर्थ्यदर्शनेन विस्मितान् गोपान् प्रति नन्दकृतं गर्गोक्तिनिरूपणम्
६. भगवद्वैराग्यधर्मनिरूपकः षष्ठोऽध्यायः (आदितः चतुर्विंशः) ५२७–५५३
इन्द्रस्य क्षमाप्रार्थनं कामधेन्विन्द्राभ्यां भगवतः अभिषेकश्च.
७. धर्मिरूपभगवन्निरूपकः सप्तमोऽध्यायः (आदितः पञ्चविंशः) ५५४–५७६
वरुणलोके नीतस्य नन्दस्य भगवता पुनरानयनम्, ५५४–५६५
व्रजौकसेभ्यः वैकुण्ठप्रदर्शनं ततो उद्धृतिश्च. ५६६–५७६
साधनप्रकरणसुबोधिनीकारिकानुक्रमणी ५७७–५७८
साधनप्रकरणश्लोकपादानुक्रमणी ५७९–५८३
(३) परिशिष्टम् ५८५–६२१
१. स्वतन्त्रलेखाः ५८५–६०४
२. वेणुगीतसुबोधिन्युपरि लघुप्रकाशः ६०५–६१५
३. तामसप्रमाणप्रकरणसुबोधिनीशोधपत्रम् ६१६–६२१

* * *

॥श्रीकृष्णाय नमः॥
॥श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः॥
॥श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः॥

श्रीमद्भागवतदशमस्कन्धसुबोधिन्यां
द्वितीये तामसप्रकरणे अवान्तरप्रमेयप्रकरणे
प्रथमः स्कन्धादितः द्वादशोध्यायः

यशोदानन्दयोरेवं निरोधः सुनिरूपितः ।
गोपालानां निरोधोत्र सस्त्रीकाणां निरूप्यते ॥(१)॥

टिप्पणी

द्वादशेध्याये प्रकरणार्थोक्तौ **गोपालानां निरोध** इत्यादि– एतयोर्निरोधो

प्रकाशः

लोकप्रसिद्ध्या प्राप्तं प्रक्षिप्ताध्यायत्रयं सङ्क्षेपतो व्याख्यायाथैकादशाध्यायान्तप्रमाणप्रकरणानन्तरं प्रमेयप्रकरणं व्याचिख्यासवः पूर्वोक्तैतत्प्रकरणयोः सङ्गतिं निरूपयितुं द्वयोरर्थमाहु**र्यशोदे**त्यादि. **एवं** बाल्यभावेन **यशोदानन्दयोर्निरोधः** पूर्वप्रकरणे **सुष्ठु** मुख्यत्वेन **निरूपितः, अत्रास्मिन्** प्रकरणे **सस्त्रीकाणां गोपालानां निरूप्यते.** तथा च प्रतिबन्धकीभूतबाल्यभावकृतनिरोधजिज्ञासानिवृत्ताववश्यवक्तव्यत्वादवसरसङ्गत्याऽस्मिन् प्रकरणे पौगण्डभावकृतनिरोधो निरूप्यत इत्यर्थः. ननु पूर्वप्रकरण एव सस्त्रीकाणां गोपालानां निरोधस्य श्रीयशोदानन्दनिरोधेन सहोक्तत्वात् किं पुनरत्र तन्निरूपणेनेत्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहु**रेतयोरि**त्यादि. तथा च निरोध एषां मुख्यताज्ञापनमेव प्रयोजनमिति पूर्वोक्तनिरोधवैलक्षण्यार्थं निरूप्यत इत्यर्थः (१).

लेखः

द्वादशेऽध्याये **यशोदानन्दयोरि**ति– प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरूपितस्तथाप्येतयोः **सुष्ठु** मुख्यतया **निरूपित** इत्यर्थः (१).

कारिकार्थः

द्वादशेध्याये **यशोदे**ति. प्रसङ्गात् सर्वेषामेव निरोधः पूर्वप्रकरणे निरूपितः, तथाप्येतयोः **सुष्ठु** मुख्यतया **निरूपित** इत्यर्थः. **अत्रास्मिन्** प्रकरणे **सस्त्रीकाणां गोपालानां निरोधो** मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः (१).

नन्वत्र प्रमेयप्रकरण एव मुख्यनिरोधसिद्धावग्रिमप्रकरणवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याहु**र्मध्यम** इति. यद्यपि वयस्यानां स्वामिनीनां च पूर्वप्रकरणोक्तनिरोधापेक्ष-

मध्यमोयं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्यते ।
पञ्चधैवानुभावोत्र दुष्टनिग्रहरूपवान् ॥(२)॥

टिप्पणी

मुख्यतयोच्यत इत्यर्थः(१). **मध्यमोयमि**ति. वयस्यानां स्वामिनीनां चाग्रेऽस्मान्निरोधादधिकस्य तस्य वक्ष्यमाणत्वादेतत्प्रकरणोक्तस्तमपेक्ष्य स तयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः. **पञ्चधैवे**ति– धेनुककालीयदावाग्निद्वयप्रलम्ब**निग्रहा**त्मक इत्यर्थः (२).

प्रकाशः

सुबोधिन्यां नन्वध्यायद्वयेनैव निरोधवैशिष्ट्यसिद्धौ पुनः प्रकरणद्वयं व्यर्थं स्यादित्यत आहु**र्मध्यम** इत्यादि. तथा चोत्तमस्याग्रे साधनप्रकरणे निरूप्यत्वान्न वैयर्थ्यमित्यर्थः. ननु किमत्र मध्यमत्वमित्याकाङ्क्षायां टिप्पण्यामाहु**र्वयस्यानामि**त्यादि. सुबोधिन्यां ननु भवत्वेवं तथापि धेनुकादिवधोक्तेरत्र किं प्रयोजनमत आहुः **पञ्चधे**त्यादि. कथं पञ्चधेत्यतष्टिप्पण्यामाहु**र्धेनुके**त्यादि. तथा च भगवदनुभावनिरूपणार्थं तन्निरूपणं, भक्तौ माहात्म्यज्ञानस्य पूर्वाङ्गत्वेनावश्यकत्वादिति (२).

सुबोधिन्यां ननु दुष्टनिवारणस्य पूर्वं कृतत्वादत्रापि तेनैवैतदुपकारसिद्धेः पुनः प्रकटीकरणेपि कस्यचिदेकस्य दुष्टस्य निवारणेपि तत्सिद्धेः पञ्चानां निवारणस्य किं

योजना

द्वादशाध्यायविवृतौ **पञ्चधैवानुभावोत्रे**ति. अविद्यायाः पञ्च पर्वाणि– देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासाः स्वरूपविस्मृतिरूपश्चेति. तन्निवारको भगवदनुभावोत्र निरूपित इत्यर्थः. **दुष्टनिग्रहरूपवानि**ति. देहाद्यध्यासाः स्वरूपविस्मृतिसंज्ञकश्चेति पञ्चपर्वाणि यानि निरूपितानि तान्यत्र धेनुकादयो दैत्या मूर्तिमन्तः, "लोभक्रोधादयो दैत्या" इति कृष्णोपनिषद्भ्यः. तन्निग्रहरूपवान् भगवदनुभाव इत्यर्थः. आध्या-

कारिकार्थः

यास्मिन् प्रकरण अधिको निरोध उच्यते तथापि वक्ष्यमाणनिरोधमपेक्ष्य एतत्प्रकरणोक्तो निरोधो गोपालानां स्वामिनीनां च द्वयोरपि मध्यम एवेत्यर्थः. **पञ्चधे**ति– धेनुककालिय-प्रथमदावाग्निप्रलम्बद्वितीयदावाग्निनिग्रहात्मकः पञ्चधा भगव**दनुभावोत्र** प्रकरणे निरूप्यत इत्यर्थः. एते पञ्च देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासस्वरूपविस्मृतिरूपाः पञ्चभिरध्यायैः निरूप्यन्ते. तत्र प्रथमो दावाग्निः प्राणाध्यासरूपः, प्रलम्बः अन्तःकरणाध्यासः, द्वितीयदावाग्निः स्वरूपविस्मरणात्मक इति तत्र तत्र स्फुटम्(२).

आध्यात्मिकीमविद्यां वै दूरीकर्तुं तथाकृतिः ।
तदर्थं क्रमतोध्याया उभयेषां तथा द्वयम् ॥(३)॥

टिप्पणी

साधारणानां व्रजस्थानामेतेनान्तःकरणनिरोधप्रतिबन्धकापगम उक्तः, वयस्यानां सखीनां तु मुख्यत्वेन निरोध एकैकेनाध्यायेनोक्त इत्याहुः **उभयेषामि**ति. तत्र निमित्तमाहुः **स्नेहाधिक्ये**ति– साधारणापेक्षयाधिकस्नेहज्ञापनार्थमित्यर्थः. **प्रथमं द्वादशेध्याय** इति श्लोकः. अत्र अयमाशयः. अत्र ह्यादौ लीलासम्बन्धिवस्तुस्वरूपज्ञानं

प्रकाशः

प्रयोजनमत आहु**राध्यात्मिकीमि**त्यादि. **तथा कृतिरि**ति पञ्चनिग्रहकृतिः. अत्र किञ्चिद् विशेषं टिप्पण्यामाहुः **साधारणानामि**त्यादि. शिष्टाध्यायद्वयप्रयोजनमाहु**र्वयस्यानामि**त्यादि (३).

सुबोधिन्यामेवंविभागस्य प्रयोजनमाहुः **स्नेहे**त्यादि. तदवतार्य तदर्थं टिप्पण्यामाहु**स्तत्रे**त्यादि. सुबोधिन्यां मध्यमत्वं निगमयितुमाहुः **स्नेहान्त** इत्यादि. **स्नेह एवान्तः** फलं यत्र तादृशत्वादयं निरोधो **मध्यम** इत्यर्थः. एवं प्रकरणार्थ उक्तः. एतस्य च प्रमेयप्रकरणत्वं निबन्ध एवमुक्तम्– "अतः प्रमेयसम्पत्त्या कृष्णासक्तिर्हि वर्ण्यत" इति. अर्थस्तु– पूर्वप्रकरणोक्तलीलाभिर्मनः कृष्णासक्तमभू**दतो** हेतोः

लेखः

आध्यात्मिकीमिति. स्थूलदेहाद्यध्यासरूपाधिभौतिकी, लिङ्गदेहाद्यध्यासरूपाध्यात्मिकी, अलौकिकदेहाद्यध्यासरूपाधिदैविकी. इयं तु भगवत्सेवोपयोगित्वात् न निवर्तनीयेति भावः. **उभयेषामि**ति निरोधार्थमिति शेषः (३).

योजना

त्मिकीमविद्यां वा इति. एतानि पञ्चपर्वाणि निवर्तितानीत्यनेनाध्यात्मिकी अविद्यैव निवर्तिता. भौतिकी तु पूतना पूर्वं नाशिता. आधिदैविकी तु लीलोपयोगिदेहाद्यध्यासरूपा तादृग्लीलोपयोगिस्वरूपाज्ञानरूपा चेति सा न निवर्तनीयेति भावः (२-३).

कारिकार्थः

आध्यात्मिकीमित्यादि लिङ्गशरीराद्यध्यासरूपा**मविद्यां दूरीकर्तुम**विद्यापर्वरूपधेनुकादिवधकरणम्. आधिभौतिक्यविद्या पूतनारूपा पूर्वं नाशिता, आधिदैविकी तु लीलासाधकत्वात् न निवर्तनीयेति भावः. **तदर्थं** धेनुकादिवधार्थं **क्रमतः पञ्चाध्यायाः, उभयेषां** वयस्यानां स्वामिनीनां च निरोधार्थं क्रमेण सप्तदशाष्टादशात्मकमध्यायद्वयमित्यर्थः (३).

स्नेहाधिक्यसुसिद्ध्यर्थं स्नेहान्तो[1] मध्यमः स्मृतः ।
प्रथमं द्वादशेध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥(४)॥

टिप्पणी

निरूप्यते, तदनन्तरं दशरसात्मकलीलानुभवश्च. तथाच एवं[2]भावोक्त्यनन्तरं देहादिसर्वविस्मृतिरेव वक्तुं युक्ता. सापि न तात्कालिकी किन्तु सार्वदिकीति स्थितौ सत्यां यदेतदग्रे धेनुकवधनिरूपणं तत्तादृग्रूपमित्येव ज्ञेयम्. धेनुकातिरिक्ततदध्यासाभावश्चेत्यपि, अध्यासनिवृतौ [3]तत्स्मृत्यसंभवात्. किञ्च अध्यासस्य अविद्याजन्यत्वनियम इति ग्रहिलवादिनं प्रति "तुष्यतु दुर्जन" इति न्यायेनाहुः –यद्याग्रहस्तदैतमेव धेनुकं तथा मानयेति. आवश्यकदैहिककर्मप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वं हि देहाध्यासे; अयमपि स्वाभीष्टभजनप्रकारविशेषानुकूलतद्वनगमनप्रतिबन्धक इति तथा. अत एव मूले "प्रेम्णेदमब्रुवन्नि"त्युक्तम्. गोपेष्टप्रकारस्य भगवदभिमतत्वमपि ज्ञापयितुं सखित्वमप्युक्तम्, अन्यथा 'सोतिवीर्य' इत्यादेः कृतनराहारत्वस्य चोक्तत्वा-

प्रकाशः

प्रमेयस्य भगवतो या **सम्पत्ति**र्हार्दी प्राप्तिस्तया **कृत्वा हि** यतो हेतोः **कृष्णासक्तिर्वर्ण्यते**तः प्रमेयप्रकरणमिति. तेन प्रमेयबलादत्र निरोध इति सिध्यति (३ $\frac{१}{२}$).

निरोधश्च प्रपञ्चविस्मृतिपूर्विकासक्तिरतः पूर्वाङ्गस्य पूर्वं वक्तव्यत्वादध्यायार्थमाहुः **प्रथमं द्वादशेध्याय** इत्यादि सार्धद्वयेन. तत् कथमित्याकाङ्क्षा तदर्थं टिप्पण्यामाहु**रत्रायमि**त्यादि. **तादृग्रूपमि**ति देहादिसर्वविस्मृतिनिरूपणरूपमित्यर्थः. **धेनुके**त्यादि. वधस्य विस्मृतिरूपत्वे प्रतियोगिनः स्मृतिरूपता सिध्यति. सैव चात्र **देहाध्यास** इति **धेनुकातिरिक्तो** यो **देहाध्यासस्तदभाव इत्यपि** सिध्यतीत्यर्थः. तत्र हेतुमाहु**रध्यासे**त्यादि. आनन्तर्यमात्रेण स्मृत्यसम्भवमात्रेण च न देहाध्यासरूपत्वमस्योच्यते किन्तु प्रकारान्तरेणापि मूलतो निश्चीयत इत्याशयेनाहुः **किञ्चे**त्यादि **तथे**त्यन्तम्. तथा च कार्यादपि तस्य देहाध्यासत्वनिश्चय इत्यर्थः. **अत एवे**ति भजनप्रतिबन्धकताज्ञापनस्यावश्यकत्वादेव. **उक्तमि**ति "रामकेशवयोः सखे"त्यनेनोक्तम्. तथा च तन्निवृत्तेः **प्रेम्णा** विज्ञापनादपि तस्य तथात्वमित्यर्थः. एवं प्रतिबन्धकत्वं निर्णीय देहाध्यासत्वपरिचायकं भजनप्रतिबन्धकतावच्छेदकं रूपं धेनुके विवृण्व**न्त्यन्यथे**त्यादि. तथा च तद्वनगमनाभावानुकूलं **यदावश्यकं दैहिकं कर्म**

---

[1] स्नेहार्थ इति श्रीहस्ताक्षरपाठः. [2] भावोत्पत्त्यनन्तरमिति पाठः. [3] स्मृत्यभावादिति पाठः.

टिप्पणी

त्सम्भाविताऽनिष्टदेशे गमनविज्ञापनं प्रेमविरुद्धमिति तदुक्तिर्विरुद्धा स्यात्. यथा तत्त्वज्ञानस्वभावादेव तदध्यासनिवृत्तिरावश्यकी, तथात्रोक्तरसानुभवस्वभावजनिततत्प्रकारविशेषोत्कटरागतः स्वेष्टलीलाप्रतिबन्धकत्वातिरिक्तस्तद्धर्मो भासमानोपि न बाधकस्तेषां विज्ञप्तावभूदतस्तन्निवृत्तिः, आवश्यकत्वात्. अन्यथा सा न स्यादेव. अत एवाग्रेऽत्युच्चाधिकारवत्प्राप्यं फलं प्राप्तवन्तः (३-४).

प्रकाशः

तत्प्रवृत्तिनिमित्तत्वं चातिवीर्यत्वकृतनराहारत्वाभ्यां भीतिजनकत्वेन धेनुके निश्चीयत इति स देहाध्यासरूपः परिचेय इत्यर्थः. एवं देहाध्यासकार्यजनकत्वेनास्य देहाध्यासत्वं निश्चित्य देहाध्यासनाशकनाश्यत्वेनापि देहाध्यासत्वमस्याहु**र्यथे**त्यादि. **तन्निवृत्तिरि**ति धेनुकनिवृत्तिः. **अन्यथा सा न स्यादेवे**ति, देहाध्यासरूपत्वाभावे निवृत्तिर्न स्यादेव. तथा च यथात्मविषयकनिरुपध्यनुरागद्वारा तत्त्वज्ञाननाश्यत्वं देहाध्यासस्य तथा भगवद्विषयकानुरागद्वारोक्तरसानुभवनाश्यत्वमस्येत्यतोप्ययं देहाध्यासरूप इति भावः. भगवतो रसरूपत्वमात्मत्वं चाविवादमतो न कोपि शङ्कालेश इति दिक्. **अत एवे**त्यादि– देहाध्यासनिवृत्तेरेव देहसम्बन्धिषु स्वकीयत्वबुद्धेर्निवृत्तत्वा**दत्युच्चाधिकारवद्भि**र्यत् **फलं प्राप्यते** सेवकत्वरूपं तत् **प्राप्तवन्त** इत्यर्थः. पुरःस्फूर्तिकं तु तालफलरूपं गतसाध्वसरूपं वा बोध्यम्. एतेन **प्रथममि**तिकारिकोत्तरार्धं पूर्वार्धे हेतुत्वेनान्वेतीति बोधितम् (४).

लेखः

देहाध्यासो हीति. धेनुकपदस्य देहाध्यासवाचकत्वं योगरूढ्योरभावेपि कल्पनया टिप्पण्यां व्याख्यातम्. परोक्षवादस्थले कल्पनाया अपि प्रवृत्तिनिमित्तत्त्वं

कारिकार्थः

उभयेषां निरोधस्य पृथङ्निरूपणे निमित्तमाहुः **स्नेहाधिक्ये**ति, साधारणापेक्षया अधिकस्नेहज्ञापनार्थं पृथङ्निरूपणमित्यर्थः. एतत्प्रकरणीयनिरोधस्य मध्यमत्वोक्तौ हेतुमाहुः **स्नेहान्त** इति– स्नेह एवान्तः फलं यस्य तादृशो निरोधो **मध्यम** इत्यर्थः. अत्र **स्नेह**पदेनासक्तिर्ज्ञेया, स्नेहान्तनिरोधस्य प्रमाणप्रकरण एव सिद्धत्वात्. व्यसनसिद्धिश्च साधनप्रकरणे, तथा चोक्तं दशमस्कन्धनिबन्धे "सर्वतस्त्वधिकः स्नेहः पूर्वत्र विनिरूपितः आसक्तिस्तु द्वितीये हि तृतीये व्यसनं मतं फलप्राप्तिश्चतुर्थे हि सिद्धो रोधश्चतुर्विध" इति (३ $\frac{१}{२}$).

तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते ।
कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं मतम् ॥(५)॥
ततः सर्वविनाशः स्यादित्यन्ते मरणाभिधा ।
ततश्चेद् जीविताः सर्वे पुनर्देहान्तरस्थितिः ॥(६)॥

टिप्पणी

एतदेवाहुः **फलावधी**ति क्रियाविशेषणेन. **कालीय इन्द्रियाण्याहुरि**ति; **इत्याहुरि**ति सम्बन्धः, **इति मतमि**ति च. **आध्यात्मिकीमविद्यामि**त्युक्तत्वात्तादृशस्यैव देहादेरध्यासनिवृत्तिरत्र कार्या. स च लिङ्गशरीरात्मक इति प्राकृततन्निवृत्तिरेव वाच्या. सैवाध्यायान्ते निरूपिता. अत एव 'दैवोपहतचेतस' इति वक्ष्यति– लीलास्थभक्तजीवनादिकमपि नादृष्टजन्यम्, अलौकिकत्वादिति ज्ञापनाय. एतदेवोक्तमाचार्यैः **ततश्चेज्जीविता** इत्यनेन. देहस्य प्रारब्धजन्यत्वनियमेन तस्य च नष्टत्वेन न तज्जन्योग्रिमो देह इति पूर्वस्माद्भिन्न एवेत्याहुः **पुनर्देहान्तरे**ति. "मृत्युरत्यन्तविस्मृतिरि"ति वाक्यात् हरिविस्मृतेरेव तथात्वम्. तथा च विषयोन्मुखेन्द्रियाणां तद्धेतुत्वात्तथात्वमित्याशयेनोक्तं **कालीय इन्द्रियाण्याहुरि**त्यादि. एतेनैतेषां भगवद्भावातिरिक्तभावाभावः सार्वदिक इति सूचितम्. यद्यपि पूर्वमप्येतेषां तथात्वमेवासीत्तथापि यथा वाचा लीलास्थतर्वादिस्वरूपं ज्ञापितं तथा स्वकृत्यैतेषां स्वरूपमाधुनिकान् ज्ञापयितुं लौकिकमपि भावं स्थापयित्वा तथा कृतवान्. अन्यथा 'दैवोपहतचेतस' इति न वदेद्, अलौकिकत्वात्, लौकिकेष्वेव तथात्वसम्भवादिति भावः (५-६).

प्रकाशः

निवृत्ते देहाध्यास इन्द्रियाध्यासनिवृत्तितः पूर्वमेव विषयाणां [1]बन्धकत्वं निवर्तत इत्यतोपि तस्य देहाध्यासत्वं निश्चाय्यत इति सुबोधिन्याशयोऽग्रिमकारिकातो ज्ञायते. तथा चायं कारिकार्थ**स्तद्वधो** धेनुकवधो **ज्ञानपूर्वो** धेनुकस्वरूपलीलास्थानस्वरूपज्ञानपूर्वः **फलावधि** यथा स्यात् तथा **निरूप्यत** इति ज्ञेयः. **कालीय इन्द्रियाण्याहुरि**त्यादेरर्थं विवृण्व**न्तीत्याहुरि**त्यादि. **तादृशस्यैवे**त्याध्यात्मिकस्यैव. **तन्निवृत्तिरि**ति लिङ्गशरीरनिवृत्तिः (५).

योजना

ततः सर्वविनाशः स्यादिति– विषरूपविषयसम्बन्धात् सर्वपारमार्थिकहानिः स्यादित्यर्थः (६).

---

[1] बाध°.

तत्र प्रथमं ज्ञानं निरूपयन् भगवान् देशशुद्धिं, वनप्रवेशं, वनक्रीडायां मनश्च कृतवानित्याह त्रिभिः **ततश्चे**ति.

वन एव ज्ञानं, सात्त्विकत्वात् तत्रोद्वेगो न भवतीति. तत्र क्रीडायां मनो

प्रकाशः

ततश्चेत्यत्र ज्ञाने निरूपणीये देशशुद्ध्यादिनिरूपणस्य किं प्रयोजनमित्या-

लेखः

"कल्पनोपदेशात् चे"ति सूत्रे व्यवस्थापितम्. धेनुकमारणं देहाध्यासनिवारणं चैकपदवाच्यत्वादैक्येनैव भगवता सम्पादितमिति भावः. **ज्ञानपूर्व** इति. अत्र **ज्ञान**पदेन तर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तम्. यद्यपि बलभद्रं प्रति बोधयति तथापि प्रसङ्गादन्येषामपि श्रवणमिति ज्ञेयम्. **ततश्चेदि**ति ल्यब्लोपे पञ्चमी; तं मरणं प्राप्य पुनर्जीविता इत्यर्थः (४-६).

ततश्च इत्यस्याभासे **तत्रे**ति ज्ञानपूर्वधेनुकवधे निरूपणीये; तस्य वनलीलात्वात् प्रथममिदं त्रयमाहेत्यर्थः. तत् च त्रयं **ज्ञानं निरूपयन्नाह** "सत्त्वप्रधानैव लीले"तिवक्ष्यमाणत्वाद् रसस्वरूपज्ञानं निरूपयन्नित्यर्थः. तादृशलीलार्थं वनप्रवेशे हेतुमाहु**र्वन एवे**ति. वनस्य तत्तद्रसस्वरूपज्ञापकस्तम्भादिसात्त्विकभावहेतुत्वात्

कारिकार्थः

अध्यायार्थमाहुः **प्रथममि**ति. अत्र **ज्ञान**पदेन लीलासम्बन्धितर्वादिस्वरूपज्ञानं दशरसात्मकलीलानुभवश्चेति टिप्पण्यामुक्तम्. फलं चात्र विषाम्भःपानेन परेतानाममृतवर्षिण्या ईक्षया पुनर्जीवनसम्पत्त्या ज्ञानपूर्णालौकिकदेहप्राप्तिः. **फलावधी**ति नपुंसकप्रयोगात् क्रियाविशेषणमिति टिप्पण्यां व्याख्यातं, क्रियाविशेषणे द्वितीया क्लीबत्वं चेति वैयाकरणसिद्धान्तात् (४$\frac{१}{२}$).

कालीय इति. अत्र **इति**शब्दमध्याहृत्य **इत्याहुरि**ति व्याख्यातं टिप्पण्यां, तत्रायमाशयः– **आहुरि**तिकर्तरि प्रयोगेण **कालीय**शब्दादनभिहिते कर्मणि द्वितीया स्यात्. **इति**शब्दाध्याहारे तु आख्यातादिभिरिव निपातेनाप्यभिधाने प्रथमानुशासनात् न काप्यनुपपत्तिः. तथा च **इन्द्रियाणी**तिपदमपि प्रथमान्तमेव, **इती**ति निपातेनाभिधानात्. एतदेव हृदि कृत्वा तथा व्याख्यातं प्रभुभिः (५).

तत इति. **तत** इन्द्रियेभ्यो विषयेभ्यश्च **सर्वविनाशः स्यादि**ति बोधयितु**मन्ते** अध्यायान्ते **मरणाभिधा** विषाम्भःपानेन मरणोक्तिः. **ततो** मरणानन्तरमपि **सर्वे जीविताश्चेत्** तदा **पुनः अलौकिकदेहान्तरस्थितिरि**त्यर्थः (६).

निरूपणीयं, प्रवेशश्च ग्रामाद् भिन्नप्रक्रमार्थो वक्तव्यः. तत्र प्रथमं भगवतो मध्यमलीलायां वृन्दावनस्य दैत्यभूयिष्ठत्वात् शुद्धिमाह तत इति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥१॥

पौगण्डं वयः षष्ठवर्षमारभ्य नववर्षपर्यन्तं; पुरुषार्थचतुष्टयसाधककाला-

प्रकाशः

काङ्क्षायामाहुर्**वन एवे**त्यादि. "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्येन वनस्य तथात्वात्[1] "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"तिवाक्याद् ज्ञानस्य तथात्वेन [2]तथेत्यर्थः. अत्र हि कौमारत्यागानन्तरं पौगण्डाश्रय उच्यते; तत्र कौमारे को दोषः कश्च तस्य भाव

लेखः

तत्रैव तद्ज्ञानं भवतीत्यर्थः. मध्ये मार्गमेवं न भवतीति तद्व्यावर्तनाये**एव**कारः. वनस्य तादृशत्वे हेतुमाहुः **तत्रोद्वेगो न भवती**ति. मध्ये मार्गं वक्ष्यमाणसत्कृतिमात्रसम्भवेप्यन्यदर्शनसम्भावनयोद्वेगो भवतीति तेन न तावती लीला यया स्तम्भादिभावा भवन्ति. वने तादृशोद्वेगो न भवतीति वनस्यैव सात्त्विकत्वमित्यर्थः. इदमेव "सत्त्वप्रधानैव लीले"त्यनेन वक्ष्यते. तथा च 'विहर्तुकाम' इतिपदस्य 'वन'पदसमभिव्याहारात् सत्त्वप्रधानलीलाकाम इत्यर्थ इतिभावः. **तत्रे**ति— तादृशवने **क्रीडायां** तस्या मनोजन्यत्वात् **मनो निरूपणीयम**तोग्रिमश्लोकेन तदुक्तमित्यर्थः. ननु "तन्निरीक्ष्य मनो दधे" इतिकथनात् प्रवेशः प्राप्त एवेति भिन्नतयैकेन प्रवेशः कथमुक्त इत्यत आहुः **प्रवेशश्चे**ति. पूर्वाध्यायेपि वनलीलोक्ता, तथा"प्यविदूरे व्रजभुव" इतिवाक्याद् ग्रामसम्बन्धिन्येव. अत्र ततो भिन्नप्रक्रमेण केवलवनलीलाबोधनार्थं प्रवेशश्च वक्तव्य इत्यर्थः. **मनो निरूपणीयमयं च वक्तव्य** इत्यन्वाचयः. **दैत्ये**ति— दैत्यस्य मधोर्भूमौ मधुवने तत्पुत्र्या वृन्दाया वनमस्तीत्यर्थः.

दोषाभाव इति. पौगण्डलीलाभक्तेषु पुरुषार्थान् स्थापितवानिति वक्ष्यते

योजना

ततश्च पौगण्डवय इत्यस्याभासे **भगवतो मध्यमलीलायामि**ति. प्रेमासक्तिव्यसनानि क्रमेण प्रमाणप्रमेयसाधनप्रकरणैर्व्रजजनानां [3]सिध्यन्तीति निबन्धे उक्तम्, अतः प्रमेयप्रकरणे अस्मिन् आसक्तिसाधकलीला मध्यमलीलेत्यर्थः. **पशुपालने**

---

[1] सात्त्विकत्वादित्यर्थः. [2] सत्त्वोद्भवत्वेन देशशुद्धिरपेक्षिता. [3] सिद्धानीति पाठः.

भिमानिन्यो देवता भगवन्तं सेवितुमागताः **पौगण्ड**शब्देनोच्यन्ते. दोषाभावः प्रथमं निरूपणीय इति पञ्चात्मकः कालः पूर्वं निरूपितः. **ततस्**तदनन्तरं **पौगण्डमेव वयस्**तारुण्यमिव **श्रितौ व्रजे पशुपालानां सम्मतौ बभूवतुः,** पशूनां पालने वा

टिप्पणी

ततश्च पौगण्डवय इत्यत्र, **दोषाभावः प्रथममि**त्यादि. पुरुषे हि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणजीवात्मकः सङ्घः. तथात्वं भगवत्यपि भासत इति तदभावनिरूपणेन दोषाभाव उक्तः, प्रमाणप्रकरणत्वात्. तेन भक्तानामपि तथात्वं सिध्यति, अन्यथा सख्यदानं न स्याद्. स चोक्तलीलयैवोक्तः. तथा हि— न हि जीवस्य तादृगुत्सवहेतुत्वं पूतनान्तकत्वं मुक्तिदत्वं वा सम्भवति, न वा स्वापकारकर्त्र्यामपि ब्रह्मादिदुरापपुरुषार्थहेतुकृपायुक्तमन्तःकरणमन्यस्य भवति. "यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनादि"'ति न्यायः सर्वत्र द्रष्टव्यः. न वा पूतनास्तन्यसम्बन्धे प्राणरक्षा सम्भवति. अत एव 'दुर्जरवीर्यमि'त्युक्तम्. अतितोकस्य प्राणधर्मरूपस्तनार्थित्वदशायां प्रवालमृद्वंघ्रिस्पर्शमात्रेण शकटे तथात्वोक्त्या चावस्थाविरुद्ध-

प्रकाशः

इत्याकाङ्क्षायां **दोषाभाव** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **पुरुषे ही**त्यादि. **स चोक्तलीलयैवोक्त** इति, दोषाभावः प्रमाणप्रकरणोक्तलीलयैवोक्तः. कथमुक्त इत्याकाङ्क्षायां तद् व्युत्पादयन्ति **तथा ही**त्यादि. तत्र पूर्वं जीवतां निराकुर्वन्ति **न ही**त्यादि **सम्भवती**त्यन्तम्. अन्तःकरणवत्तां निराकुर्वन्ति **न वे**त्यारभ्य **द्रष्टव्य** इत्यन्तम्. प्राणवत्तां निराकुर्वन्ति **न वे**त्यारभ्य **प्रवेशेपी**त्यन्तम्. इन्द्रियवत्तां (अ!)शुद्धतां च निराकुर्वन्ति

लेखः

एवं वृन्दावने इतिचतुर्भिः. ते च चत्वार इति चतुर्वर्षात्मकत्वं तस्य. कौमारलीलाया भगवति दोषाभावनिरूपणेन भक्तेषु दोषाभावो निरूपितस्ते च पञ्चेति पञ्चवर्षात्मकत्वं तस्येत्यर्थः. **तदनन्तरमि**ति, भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावसाधकलीलाकालानन्तरं पुरुषार्थसाधकलीलाकालमाश्रितावित्यर्थः. भगवति दोषाभावेन भक्तेष्वपि दोषाभावः सिद्ध इति टिप्पण्यां व्युत्पादितम् **अन्यथा सख्यदानं न स्यादि**त्यनेन. **ततश्चे**ति **च**कारस्यार्थमाहुः **तारुण्यमिवे**ति. **पशूनामि**ति.

योजना

वेति. अस्मिन् पक्षे पालनं पालः, पशूनां पालः पशुपालः, तत्र सम्मतौ योग्यावित्यर्थः. **समं वे**ति. अस्मिन् पक्षे **समं** तुल्यमित्यर्थः ॥१॥

योग्यौ, **तौ** रामकृष्णौ, साधारणं चरित्रमुभयोरिति. अतो **गाश्चारयन्तो सखिभिः** सख्यपर्यन्तमागतैर्बालकैर्गोरक्षा धर्मः स तैः कार्यते, ऽन्यथा सख्यपर्यन्तं गता यदि विक्षिप्ता भवेयुस्तदा वैकुण्ठे नयनलक्षणमात्मसमर्पणं नोपपद्येरन्. **सखिभिः समं,**

टिप्पणी

कार्यकरणेन भौतिकप्राणराहित्यमेवोक्तं भवति. तृणावर्तगलग्रहणेपि तथा. बकमुखान्तःप्रवेशेपि. स्वमुखकमलेऽखिलप्रदर्शनेनैकदैव लघुत्वगुरुत्वप्राकट्येन रज्जुन्यूनतया चेन्द्रियदेहराहित्यं ज्ञाप्यते. न हि "यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि"त्यादिश्रुत्युक्तधर्मवतीन्द्रियं देहो वा सम्भवति. न हि देहे लघुत्वगुरुत्वे एकदैव सम्भवतः, तावद्रज्ज्वमानं वा. उक्तन्यायोनुसन्धातव्यः. एवं सति देहाद्यभावेन तदध्यासादेरप्यभावादुक्तगुणैश्च निर्दोषपूर्णगुणविग्रहरूपत्वं सिद्धम्. तेन दोषाभावज्ञापककालाभिमानिन्यस्ता इति पूर्वं ता एव निरूपिताः. अत्रैव श्लोके **सखिभिः सममि**त्यत्र, **गोरक्षा धर्म** इत्यारभ्य **नोपपद्येरन्नि**त्यन्तम्. ननु गोरक्षा हि वर्णधर्मः, तथा च भगवत्सख्यं प्राप्तानां तदपेक्षाविक्षेपावसम्भावितावित्यनुपपन्नमिति चेद्, अत्रायं भावः– "अधिकं तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानिरि"तिन्यायेन स्वाभाविकधर्मान् स्थापयित्वैव सख्यं दत्तवान्प्रभुरिति मन्तव्यम्. अन्यथाग्रे दैवोपहतचित्तत्वं विषपानेन चान्यथाभावो नोपपद्यते. अत एव स्वाभाविकपूर्वसर्वधर्मनिवृत्तिर्विषपानकार्यव्याजेन भगवता कृतेत्युक्तम्. एवं सति सख्यस्य फलपर्यवसायित्वार्थं स्वकर्तव्यं गोरक्षणं तैः कारयति प्रभुः, सख्यं प्राप्तानां प्रभुकर्तव्यकरणस्यैव स्वधर्मत्वात्. अन्यथा तदकरणेन स्वाभाविकधर्मैश्च चित्तमितस्ततो भ्रमद्भगवन्माहात्म्यग्रहणाक्षमं सद्भगवल्लोकदिदृक्षामपि न जनयेदिति तद्दर्शनमपि न स्यात्. समर्पणे कृतेपि

प्रकाशः

स्वमुखेत्यारभ्य **सन्धातव्य** इत्यन्तम्. सिद्धमाहु**रेवं सती**त्यादि. एवं दोषाभावं साधयित्वा **पश्चात्मकः काल** इत्यादेस्तात्पर्यमाहु**स्तेने**त्यादि. **ता** इति देवताः. अयमर्थः– यदि हि कालपरिच्छेद्यत्वं स्यात् तदा दोषवत्त्वं सम्भाव्येतापि. तत् तु नास्ति, देशपरिच्छेदस्येव कालपरिच्छेदस्यापि लीलार्थमिच्छयैव प्रकटनादतो न कोपि शङ्कालेश इतिदिक्. सुबोधिन्यां **गोरक्षा धर्म** इत्यादि. तदर्थं टिप्पण्यामाहु**र्ननु गोरक्षा ही**त्यादि. **अन्यथे**त्यादि स्वाभाविकधर्माभावे. अयमेवाचार्याशय इति ज्ञापयितुमाहु**रत एवे**त्यादि. सुबोधिन्या**मन्यथा सख्ये**त्यादिफक्किकां विवृण्व**न्त्यन्यथे-**

समं वा **वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः. सम**त्वाद् यागभूमिरेषा, इदानीं **पुण्य**रूपैव जाता. **पदैः** पादन्यासैः; पादयोः पुण्यनिकायोस्तीति पूर्वमवोचाम. पुण्यं ह्यैहिकपारलौकिकसाधनं कामानुरूपफलदं च. इदमपि निःसाधनानां स्वयमेव भगवत्प्राप्तिसाधनरूपं लीलाविशिष्टं सत् स्वतःफलरूपम्– अयमेवातिशयो ज्ञेयः. कामाभावेपि भगवत्प्रापकं च ॥१॥

ततो भगवान् विशेषाकारेण वृन्दावनप्रवेशं कृतवानित्याह **तन्माधव** इति.

तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयशो बलान्वितः ।
पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥२॥

सामान्यलीलैकेनैवोक्ता. **तत्** तत्र **माधवो** लक्ष्मीपतिर्लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुं

टिप्पणी

प्रभुश्चेन्न मनुते तदा न तत् सम्पद्यत इत्यात्मीयत्वेनाङ्गीकारे सत्येव तत्सम्पत्तिः. इह तु तदर्थं स्वगृहप्रकटनेनात्मत्वमेव भगवानेतेषु मनुत इति ज्ञायते. तेन अस्य आत्मसमर्पणरूपत्वम्. इदं तु साधनरूपम् अतः साधनप्रकरणे निरूपितम्. फलरूपं तु फलप्रकरणे निरूपयिष्यते. साधनरूपनवविधभक्त्यनन्तरं हि फलरूपाणि तानि नवापि भवन्ति; अतः साधनप्रकरणान्ते निरूपितम्. **पुण्यमतीवे**त्यत्र, **पूर्वमवोचामे**ति– "या वै लसच्छ्रीतुलसी"ति श्लोक इत्यर्थः ॥१॥

तन्माधवो वेणुमित्यत्र, **लक्ष्म्या सह क्रीडां कर्तुमि**ति, व्रजसीमन्तिन्य एवात्र

प्रकाशः

त्यादि. **अन्यथे**ति भगवता तैस्तदकारणे. **न तत् सम्पद्यत** इति, **नोपपद्येरन्नि**त्यस्यायमर्थः. **स्वगृहप्रकटनेने**ति वैकुण्ठप्रकटनेन. **अस्यात्मसमर्पणरूपत्वमि**ति वैकुण्ठप्रकटनस्यात्मसमर्पणरूपत्वम्. अत्र मूले **गाश्चारयन्तावि**त्यनेन गोचारणमात्रमुक्तं, पाद्मोत्तरखण्डे तु तत्र दिनादिविशेष उच्यते– "कार्त्तिकामलपक्षे तौ रामकृष्णौ बुधाष्टमीदिने गोपालतामाप्तौ कृष्णौ षट्सप्तहायनावि"ति ॥१॥

तन्माधव इत्यत्र **लक्ष्म्या सहे**त्यादेरर्थं **शब्दब्रह्मे**त्यादेरर्थं च टिप्पण्यामाहु-

लेखः

अस्मिन् पक्षे पालनं पालः, पशूनां पाले पालने सम्मतौ योग्यावित्यर्थः. **स्वयमेवे**ति. पुण्यं साधितं तत्साधनं भवति; इदं स्वयमेवेत्यतिशयः. **स्वत** इति. पुण्यं फलदमिदं स्वयं फलरूपमिति चातिशयः ॥१॥

शब्दब्रह्म च संवादार्थ**मुदीरयन्. वेणु**रिति– वश्चेश्च वयौ स्वरूपानन्दविषयानन्दावणू यस्मात् स वेणुरुभयविस्मारकस्तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्त्याध्यात्मिका आधिदैविकाश्चोद्बुद्धा भवन्ति. ततो **वृतो गोपैराधि-**

टिप्पणी

लक्ष्मीपदेनोच्यन्ते. एकवचनं तु दिवा कथञ्चित्तथैव सम्भवतीत्याशयेनोक्तम्. अत्रैव **शब्दब्रह्म च संवादार्थ**मिति. अत्र हि स्वच्छन्दविहारार्थं वनप्रवेश उच्यते. स चामर्यादारूप इति मर्यादानिरूपकशब्दब्रह्मणा विसंवादादप्रामाण्यं स्यात्तन्निरासाय तल्लीलास्वरूपनिरूपकं शब्दब्रह्म प्रकटयति. एवं सति यत्र प्रवर्तकशब्दस्यैव मोक्षादिविस्मारकत्वं तत्र तद्विषयस्य कीदृशत्वं वाच्यमिति कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थं **वेणु**पदव्युत्पत्तिकथनम्. वेदे चातथात्वं स्फुटम्. इदं च

प्रकाशः

व्रजेत्याद्यत्र हीत्यादि च. **स** इति स्वच्छन्दविहारः. **अप्रामाण्यमि**ति प्रमाणागोचरत्वम्. **तद्विषयस्ये**ति प्रवर्तनाविषयस्य भक्तागमनादेरित्यर्थः. **अतथात्वमि**ति वेणुतुल्यत्वाभावः, तदेव विशदय**न्तीदमि**त्यादिना. **फलाविसंवादि चे**ति, भगवत्स्वरूपात्मक[1]फलाविसंवादि चेत्यर्थः. सुबोधिन्यां **विषयिणो मुक्ताश्चे**तिपरोक्षवादो; लौकिकभावयुक्ताः सर्वात्मभावयुक्ताश्चेत्यर्थः. **आध्यात्मिका**

लेखः

विशेषाकारेणेति, सामान्यतस्तु प्रथमश्लोकेप्युक्त एवेति भावः. **तन्माधव** इत्यत्र **लक्ष्म्या सहे**ति. **माधव**पदसमभिव्याहाराद् **विहर्तुकाम** इत्यस्य **लक्ष्म्या सह विहर्तुकाम** इत्यर्थो, ऽग्रिमश्लोके 'रन्तुमि'त्यस्य ''सर्वाभिरेव देवताभिः सह रन्तुमि''त्यर्थ इतिविशेष इति भावः. **संवादार्थमि**ति, वेणुनादस्य लीलास्वरूपनिरूपकत्वं **वेणु**पदव्युत्पत्त्या निरूपितं; टिप्पण्युक्तकैमुत्येन लीलायास्तदुभयविस्मारकत्वबोधनेन सर्वोत्तमत्वबोधनाय वेणुवादनमित्यर्थः. **स्वरूपानन्दे**ति मोक्षानन्दस्वर्गाद्यानन्दावित्यर्थः. वेणोस्तादृशत्वं साधयन्ति **तद्वादने** इति, यत इति शेषः; यतो वेणु**वादने** सति **विषयिणो** भोगपरा **मुक्ता** निवृत्तिमार्गीयाः शक्रशर्वपुरोगाः **समायान्ति** तद् विहायैतद्विचारपरा एव भवन्तीत्यर्थः. प्रयोजनान्तरमाहुः **आध्यात्मिका** इति. आत्मानं जीवमधिकृत्य वर्तन्ते ते **आध्यात्मिकाः**, देवं भगवन्तमधिकृत्य वर्तन्ते ते **आधिदैविकाः**; उभयानुगुणकर्तारोपि स्वामिनीः समानीय

---

[1] स्वरूपानुभवा°.

दैविकैरत एव **स्वयशो गृणद्भिः;** भगवद्यशस्तैर्निरन्तरं गीयते. सामर्थ्यार्थं **बलान्वितः**, बलभद्रो हि बलात्मा. क्रियायां पशूनां विनियोग इति **पशून् पुरस्कृत्य** तानादौ क्रियाशक्त्या शुद्धान् कर्तुं **वनमाविशत्.** स्थानमपि **पशव्यं** पशूनां हितं, भगवता पूर्वं तथाकृतत्वात्. **विहर्तुकाम** इति तत्र विहारेच्छया प्रविष्टः, विहारे हि

टिप्पणी

स्वतःपुरुषार्थरूपं फलाविसंवादि च; तेन प्रमाणोत्तमत्वं सूचितम्. तथा चायं मार्गः पुष्टिरूप इति मर्यादामार्गीयप्रमाणाविषयत्वं युक्तमिति भावः. **कुसुमाकरं वनमि**त्यत्र, **रजसैव विहार** इति. रसोद्दीपिका सामग्री **रजः**शब्देनोच्यते. यथा

प्रकाशः

इत्यादि तत्तद्गता धर्मा इत्यर्थः. **रजसैव विहार** इत्यादेरर्थमाहुष्टिप्पण्यां **रसे**त्यादि. अत्रैवं बोध्यं– सर्वस्य मूलं सच्चिदानन्दो भगवान्, गुणाश्च सत्त्वादयो भगवत एवोत्पन्ना इति द्वितीयस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम्. रजसश्च ''काम ईहा'' इत्येकादश वृत्तय उक्तास्तज्जनकत्वं यथा लौकिकस्य रजसस्तथा भगवद्धर्मरूपस्याप्यतो लोकसदृशी रससामग्र्यलौकिकी वाच्या. किञ्च यद् यज्जनकं तत् तदात्मकमितिव्याप्तिः समन्वयसूत्रे दर्शितेतीह ''रसो वै स'' इतिश्रुत्युक्तभगवद्रसात्मिकैव सर्वापि सामग्री **रज**आदिशब्दैराचार्यैरुच्यते रसशास्त्ररीतिकलीलाबोधनायेति न कोपि शङ्कालेशः. **सत्त्वप्रधाने**त्यादेरर्थमाहुः **सत्त्वादि**त्यादि ||२||

लेखः

भगवन्तं प्रतीक्षन्ते नादश्रवणे भगवानागत इतिज्ञानादुद्बुद्धा भवन्ति. तत आधिदैविका आगत्य स्वामिन्यागमनं भगवते सूचयन्ति इति तैर्वृतो भवतीत्यर्थः. सौन्दर्यं वेशः अमर्यादलीला इत्यादिरूपं यशस्तैर्निरन्तरं गीयते. **सामर्थ्यार्थमि**ति प्रतिबन्धकागमनाभावार्थमित्यर्थः. **बलात्मे**ति बलं प्रतिबन्धकनिरसनसामर्थ्यमात्मनि यस्येत्यर्थः. **क्रियायामि**ति गोचारणलीलायामित्यर्थः. **क्रियाशक्त्ये**ति वनप्रवेशनेनेत्यर्थः. **शुद्धानि**ति, यथा वत्सासुरमारणेन वत्सानां कण्टकशर्कराक्षेत्रप्रवेशहेतुभूतं भावं निवर्तितवानित्युक्तं, तथा वनप्रवेशनेन गवां तं भावं निवर्तितवान्. तथा च **शुद्धां**स्तादृशभावरहितानित्यर्थः. वृन्दावनस्य निर्दुष्टतृणादिमत्त्वमनुपदमेव वक्ष्यतेऽतस्तत्सम्बन्धाद् गवामपि निर्दुष्टत्वं भविष्यतीति भावेन **पशव्य**पदमुक्तमित्याहुः **स्थानमपी**ति. **विहारे ही**ति– **क्रिया** अन्तरङ्गलीला **पूर्णा** स्तम्भादिभावावधिका **विहारे हि** सति **भवती**त्यर्थो ज्ञेयः. **रजोविकासानामि**ति

क्रिया पूर्णा भवति. रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उद्रेकमाह **कुसुमाकरमि**ति, **कुसुमा**नां रजोविकासाना**माकरं** स्थानभूतम्. **वनमि**ति, वनलीला सात्त्विकीति सत्त्वप्रधानैव रजोलीला ॥२॥

पश्चाद् भगवांस्तत्र स्थिताभिः सर्वाभिरेव देवताभिरलौकिकीभिः सह रन्तुं मनः कृतवानित्याह **तदि**ति.

तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥३॥

मञ्जुर्घोषो येषामलीनां **मृगाणां द्विजानां** च **कुलैरा**कुलं दृष्ट्वा **रन्तुं मनो दध** इतिसम्बन्धः. यत्र त्रिविधा अपि मञ्जुघोषास्तत्र भूदोषो नास्तीति ज्ञातव्यं;

टिप्पणी

रसशास्त्रसिद्धा लौकिकीरीतिः, तथात्रापीति ज्ञापनाय. अत्रैव **सत्त्वप्रधानैवे**ति, “सत्त्वात् संजायते ज्ञानमि”ति वाक्याद्रसस्वरूपज्ञानपूर्विकैव लीलेत्यर्थः ॥२॥

लेखः

रजोरूप उद्दीपको विकासो येषामित्यर्थः. **सत्त्वप्रधानैवे**ति. स्तम्भादिपर्यन्ता रसस्वरूपज्ञानहेतुत्वात् सात्त्विकी लीला. उद्बोधकोद्बुद्धरसस्य सत्कृतिरूपा लीला रसे लोभजननाद् राजसी. अमर्यादलीला प्रमादमोहनीवीप्रतीतिप्रकारकाज्ञानसम्पादकत्वात् तामसी. इयं त्वधुना वने गृह इव निर्भयतया स्थित्यभावात् न सम्भवतीति **एव**कारेण व्यावर्त्यते. **रजोलीले**ति रसोद्दीपकसामग्रीविशिष्टा लीलेत्यर्थः ॥२॥

तदित्यस्याभासे **पश्चादि**ति तदागमनसूचनानन्तरमित्यर्थः. **सर्वाभिरेवे**ति, पूर्वं त्वेकत्रैव सङ्केतस्य कृतत्वात् तत्रैव रिरंसासीत्, तदुक्तं **लक्ष्म्ये**त्येकवचनेन. सर्वागमनज्ञानानन्तरं तु सर्वत्रैव रिरंसा जातेत्यर्थः. **देवताभिः** क्रीडायोग्याभिः. **अलौकिकीभिः** लोकावेद्यतया स्थिताभिरित्यर्थः. व्याख्याने **तत्र भूदोष** इति नीरसत्वमित्यर्थः. तथा सति तृणपुष्पफलाभावादेते त्रयो न तिष्ठेयुरित्यर्थः. तृणादीनामपि निर्दुष्टत्वात् तदात्मकवनस्य लीलोपयोगित्वमाहुः **तृणे**ति. तत्सम्बन्धिनां वक्ष्यमाणस्वरूपमञ्जुघोषत्वेन तृणपुष्पफलानामप्यास्तरणकुसुमग्रथनफलभोगादिरूपलीलोपयोगित्वमेव. इदमेव निर्दुष्टत्वं, भगवतस्तत्तदाकाङ्क्षायामकालेप्या-

योजना

तन्मञ्जुघोषालीत्यस्याभासे **तत्र स्थिताभिरि**ति वृन्दावनगोवर्धननिकटवर्तिग्रामस्थिताभिरित्यर्थः. **देवताभिरि**ति व्रजवरनितम्बिनीभिरित्यर्थः, परोक्षवादेन

तृणपुष्पफलात्मकं च वनं भवति, तत्सम्बन्धिनश्चेत् निर्दुष्टास्तदा तृणादयोपि निर्दुष्टा एव. अत्राल्यादीनां मञ्जुघोषत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेपि यत् कथनं तेन लोकप्रसिद्धातिरिक्तो भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो मञ्जुत्वविशेषो यः स उच्यतेऽतो नानर्थक्यम्. अत एव मृगाणामप्युक्तिः, अन्यथा रसोद्दीपकत्वं तेषां लोके न सिद्धमिति तदुक्तिरयुक्ता स्यात्. स्वस्थितिदेशे प्रियस्थितिज्ञापकत्वमपि मञ्जुत्वं तेषां ज्ञेयम्. किञ्च न केवलं दोषाभावस्तत्र किन्तु गुणपूर्णतापीत्याह **महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता वातेन जुष्टमि**ति. अन्तरिक्षदैवत्या हि पशवोऽरण्यप्रतिष्ठाः, तत्र वायुरुभयाधिपतिर्गवामरण्यस्य च. स चेत् सर्वथादोषरहितो गुणवांश्च भवति तदैव लीला सङ्गच्छते, श्रमापनोदनार्थं च तस्यापेक्षा लोकसिद्धा. वृन्दावने सामान्यतः सर्वदोषनिवृत्तेरुक्तत्वाद्

प्रकाशः

तन्मञ्ज्वित्यत्रान्तरिक्षदैवत्या इत्यादेरयमाशयः प्रतिभाति– “वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षोन्तरिक्षदैवत्याः खलु वै पशव” [1]इतितैत्तिरीयब्राह्मणश्रुतेस्तादृशाः पशवो यदान्तरिक्षप्रधानेऽरण्ये प्रविष्टास्तत्र वायुरन्तरिक्षाध्यक्षत्वादुभयाधिपतिस्तदीयाश्चेत् तद्देशे यान्ति तदा तदधिष्ठातुरानुगुण्यमावश्यकं, यदि सोन्यथा प्रेरयेद् देशं वा शोषयेत् तदा सा लीला तत्र न सङ्गच्छत, इति तस्य निर्दोषत्वं

लेखः

विर्भावात्, तदाकाङ्क्षाभावे कालेप्यनाविर्भावात्. **प्रियस्थितिज्ञापकत्वमि**ति, तेषां निर्जन एव देशे यथेच्छं क्रीडया घोषसम्भवेन तत्रैव ता इति ज्ञानजनकत्वमित्यर्थः. **गुणपूर्णतापी**ति निर्दुष्टगुणवद्वातसेवितत्वमित्यर्थः. **अन्तरिक्षदैवत्या**[2] इति वायवस्येत्याह “वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः वायव एवैनान् परिददाती”तिश्रुतेः. तथा च गावोन्तरिक्षदैवत्या अन्तरिक्षं च वायुदेवत्यमतो वायुर्गवाधिपतिरित्यर्थः. रुद्रदेवत्यपक्षेपि त्रिदेवतापक्षे रुद्रस्यापि वायुभेदत्वाद् गवाधिपतित्वं वायोः. **तदैव लीले**ति, वायोर्दोषराहित्ये गवाधिपतित्वादरण्यस्थान्तरङ्गनिकुञ्जाधिपतित्वात् चान्तरङ्गनिकुञ्जेषु ता न गमयेदितिभावः. [3](**आगन्तुके**ति,

योजना

“देवता”पदवाच्यत्वात् तासाम्. **अन्तरिक्षदेवत्याः पशव** इति, “वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः अन्तरिक्षदैवत्याः खलु पशवो वायव एवैतान् परिदधाती”तिश्रुतेर्वायुरन्तरिक्षस्याध्यक्षः, अन्तरिक्षं पशुदैवतमतो वायोरुभयाधिपतित्वम्.

---

१. 'त्त'. २. देवत्या इतिसर्वादर्शेषु. ३. एतदधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

वायोरागन्तुकदोष एव परिहर्तव्यः. जलं पुष्पाणि च तत्सम्बन्धीनि शैत्यमान्द्यसौरभ्याणि च गुणाः, तथा सति वायुराधिदैविको भवति. **महतां मनोवद्** यत् **सरः**; सर्वदोषाभावपूर्वकगुणेषु निदर्शनं महतां मनः, ततोपि **प्रकर्षेण ख्यातिर्य**स्य, भगवल्लीलौपयिकत्वात्. एतादृशं **पयस्तद्युक्तं सरो** लयविक्षेपशून्यं शान्तं तरङ्गादिरहितम्, अनेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते. सदादिपदेषु सत्स्वपि **यन्महत्**पददानं तेन सरस्स्वपि नाल्पत्वं महत्परिमाणवत्त्वमेतल्लीलामध्यपात्यतिरिक्ताज्ञातत्वं च ज्ञाप्यते. **शतपत्राणि** कमलानि कुशेशयानि पुष्पविशेषा वा, तेषां **गन्धोस्या**स्तीति सौरभ्यं निरूपितं,

प्रकाशः

गुणवत्त्वं च वाच्यमिति. **तत्तत्सम्बन्धिनी**ति वृन्दावनसम्बन्धिनी, तेन निर्दोषत्वबोधनाद् वायोरागन्तुको दोषः[1] परिहृतो; गुणास्तु स्पष्टाः. निर्दुष्टत्वगुणवत्त्वे सामान्यस्यापि वायोः सम्भवत इत्याधिदैविकत्वं बोधयितुं **महन्मन** इत्यादिविशेषणं व्याकुर्वन्ति **महतामि**त्यादि. **महन्मनसो**पि सकाशात् **प्रकर्षेण ख्यातिर्य**स्य तत् **महन्मनःप्रख्यं** तादृशं यत् **पयस्**तद्युक्तं यत् **सरस्**तदस्यास्तीत्येतत्सम्बन्ध्यस्तीति तादृशो यो वायुः तथा च महन्मनोदृष्टान्तेन लयविक्षेपशून्यताशान्तीनां बोधनादाधिदैविकत्वं बोध्यमित्यर्थः. पुरःस्फूर्तिकं तात्पर्यमाहु**रनेने**त्यादि. अत्र यद्यपि वायोः सरःसम्बन्धि पयःकणयोगेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते भवतस्तथापि तादृशपयोयुक्तसरस एतत्सम्बन्धित्व कथनेन शैत्यमान्द्ययोः कश्चिद् विशेषः सूच्यते; स च लौकिकरीतिभिन्नत्वरूप इति तथा. तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **सदे**त्यादि. **तेनापी**ति वायुना ॥३॥

लेखः

औष्ण्यचण्डतानिकृष्टगन्धश्च वक्ष्यमाणगुणैरेव परिहृतो भवतीति भावः. **जलं पुष्पाणि च** विशेषणान्युक्तानीति शेषः, तेनैते **गुणाः** उक्ता इति शेषः). अग्रे **लयविक्षेपे**ति **लयः** शोषः **विक्षेपः** प्रवाहः; तडागे नद्यां च तत्सम्भवात् **सरः**पदमित्यर्थः **सदादी**ति, पयसि महन्मनःप्रख्यत्वकथनेन पयस्वति सरसि महत्प्रख्यत्वमुक्तं जातमिति भावः. पयसो मनस्त्वं तत्सम्बन्धेन सरसो महत्त्वं च सादृश्येन कल्पनया; यथा ज्योतिषोऽल्पदोग्धृत्वादिसादृश्येनाजात्वं "ज्योतिरुप-क्रमादि"तिसूत्रे व्युत्पादितं तथात्रापि ज्ञेयं, भागवतेपि वेदफलरूपत्वात् तथा व्याख्यानं कर्तव्यमिति भावः **पुष्पविशेषा वे**ति, कुशेशयानां रात्रिविकासित्वादिदमुक्तम्. **गन्धोस्यास्ती**ति अस्तिविवक्षायां मत्वर्थीय इन्. **तेनापी**ति, आभासे **मनो दधे** इत्यत्र धातोर्धारणार्थ

---

[1] १. °कदोषः.

तेनापि चेत् सेवितं तदा **भगवान्** षड्गुणैः सह तत्र रमणार्थं प्रवृत्तः. भृङ्गादिषु त्रयो गुणा वाते च त्रयः, अतो वृन्दावनं षड्गुणैर्युक्तं; स्वसमाने च रमणं भवति ॥३॥

कदाचित् प्राकृतरतिं भगवान् करोतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थं वृक्षाणां भ्रमराणां मृगपक्षिणां भूमेश्च स्वरूपं वक्तव्यम्. वनं हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि यदि दुष्टा भवेयुः स्वरूपतोपि तदापि वनं त्याज्यमिति दोषाभावो

लेखः

मादाय वाक्यार्थ उपक्रान्तः, अत्र पोषणार्थमादाय **प्रवृत्त** इत्यनेनोपसंहृतः– आगमनज्ञानानन्तरं मनः कृतवान्, तादृशवायुसेवितवनदर्शने तूद्बुद्धभावः सन् **प्रवृत्त** एवेत्यर्थः, तथा च (डु!)धाञर्थतावच्छेदकावच्छिन्नो वाक्यार्थ इत्युपक्रमोपसंहाराविरोध इत्याकलनीयम्. तथा च **प्रवृत्त** इत्यस्य मनः पोषितवानित्यर्थः. दर्शनेन प्रवृत्तौ मनःपोषस्यावान्तरव्यापारत्वेपि फलरूपप्रवृत्तिनान्तरीयत्वात् प्रवृत्तित्वेनोक्तः. व्यापारान्तरमाहुः **भृङ्गादिष्वि**ति, साम्यज्ञानं चावान्तरव्यापार इत्यर्थः ॥३॥

"रन्तुं मनो दध" इत्यनन्तर"मेवं वृन्दावने" इत्येव वक्तुमुचितं तथापि मध्ये श्लोकपञ्चकमुपोद्घातार्थमित्याहुः **कदाचिदि**त्यारभ्य **बोधयती**त्यन्तेन. **प्राकृते**ति प्राकृतैः पदार्थैः रतिमित्यर्थः. प्राकृतसामग्र्या रतिं करोतीतिशङ्कायां लीलासामग्री भावनीया न भवेदिति विवरिष्यते. **स्वरूपमि**ति दोषाभावो गुणाश्चेत्यर्थो विवरिष्यते. **भूमेश्चे**ति **च**कारेण तच्छ्लोकोक्तास्तृणवीरुधादयो ज्ञेयाः. भूमिवृक्षयोर्वनस्वरूपत्वमाहुः **वनं ही**ति. **तत्स्था** इति अलयो मृगपक्षिणश्चेत्यर्थः. **स्वरूपतोपी**ति **यदि दुष्टं भवेदि**ति पूर्वेणान्वयः. अलीनां मृगपक्षिणां च दोषस्तत्स्थदोषः भूमेर्वृक्षाणां च दोषः स्वरूपदोषः, एवं चतुर्विधदोषे भावनया त्याज्यं स्यादियमविशेषात् सर्वैव च लीलासामग्री भगवद्भावनायां भावनीया न भवेत्. तथा सति मुक्तिरेव सिध्येत् न तु निरोध इत्यवतारप्रयोजनं विरुध्येतेत्येतन्न्यायेन सर्वस्या अपि निर्दोषत्वेनाप्राकृतत्वं निर्धारितं भविष्यतीतिभावेन भगवता रमणारम्भे **दोषाभावो** वक्तव्य इत्यर्थः. तर्हि गोपैरन्योन्यं वक्तव्यं, किं भगवद्बलभद्रसंवादेनेत्याशङ्क्याहु**स्तानि**ति;

योजना

भृङ्गादिष्विति अलिभृङ्गद्विजादिष्वित्यर्थः. **त्रयो गुणा** इति **मञ्जु**पदवाच्यास्त्रयो गुणास्तत्र निर्दुष्टत्वमेको गुणः भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो द्वितीयः स्वस्थितिदेशे भगवत्स्थितिज्ञापकत्वरूपस्तृतीयः ॥३॥

गुणाश्च वक्तव्याः. तान् भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एव, अतोग्रे प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं बलभद्रं बोधयति **स तत्र तत्रे**ति.

स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।
स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥४॥

यदि वनस्था न स्वभावं प्रकटयेयुस्तूष्णीं वा तिष्ठेयुस्तदा भगवांस्तेषां स्वरूपं न वदेत् किन्तु त एव नम्रा इत्याह **स तत्र तत्र** सर्वत्र वनेऽ**रुणपल्लवानां श्रियो**पलक्षितान् **फलप्रसूनयोरुरुभरेण** स्वपादयोः **स्पृशच्छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्ये**ति. **पल्लवा** अङ्गुलिस्थानीयाः, तेन हस्ताभ्यां नमस्कारः सूच्यते. **फलानि पुष्पाणि** च निवेदयन्ति. साष्टाङ्गश्च नमस्कारः **पादयोः शिखास्पर्शेन** यथासम्भवं सूचितः.

प्रकाशः

स तत्रेत्यत्र **तूष्णीं वे**ति **वा**शब्द एवकारार्थो वाक्यालङ्कारे. **नम्रा इत्याहे**ति, वैकुण्ठस्था इव प्रकटसच्चिदानन्दा **इति** [1]हेतो**राहे**त्यर्थः. नम्रत्वमेव स्फुटीकुर्वन्ति **तत्रे**त्यादि **सूचित** इत्यन्तं, तथा च वैकुण्ठस्थैर्यथा तुलसीतपोबहुमानेन[2] स्वस्मिन् सच्चिदानन्दप्राकट्यं बोध्यते तथैतैर्नम्रतेत्यर्थः. तेभ्योप्येतेष्वाधिक्यं बोधयितुं **तानि-**

लेखः

बलभद्र एव च बुध्यत इत्यन्वयः. **अत** इति यतस्तयोरेव बोध इत्यर्थः. **प्रत्यक्षत** इति, प्रतिबन्धकागमनार्थं बलभद्रं ज्ञापयित्वैव लीलाकरणात् तन्मानसप्रत्यक्षविषयत्वेन **लीलां कर्तुं** बलभद्रबोधनमित्यर्थः. **स तत्रे**त्यस्याभासमाहुः **यदि वनस्था** इति. **इत्याहे**ति **इति** "स तत्र तत्रे"तिश्लोकेन **आहे**त्यन्वयः. **उपलक्षितानि**ति "लक्ष दर्शनाङ्कनयोः"; तादृशश्रियाङ्कितान् तत्सहितानित्यर्थः. तथा च सहार्थे तृतीयेति

योजना

भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एवेति. "स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तमे"तिवाक्याद् भगवत्स्वरूपं भगवानेव जानाति. वृन्दावनं च साक्षात्पुरुषोत्तमात्मकमेवेति तत्रस्थतरुलतालिमृगपक्षिपश्वादिरूपं भगवदितरो न जानात्यतः प्रभुरेव निरूपयति. बलभद्रस्य वेदात्मकत्वात् स एव बुध्यते. अनेन वृन्दावनस्वरूपं वेदेनापि स्वतो न बुध्यते भगवदुपदेशेन ज्ञायते इति सूचितमिति यत्र सर्वज्ञस्य वेदस्यापीयं व्यवस्था तत्रान्यस्य कथं बोध इति कैमुत्यं दर्शितम्. **स्मयन्नि-**

---

१. [1]हेतोरित्यर्थः. २. [2]माननेन.

तानुद्धतान् (ताननुद्धतान्!) दृष्ट्वा भगवतो हर्षः. **स्मयन्निवे**ति, मन्दहासो मुखप्रसादहेतुः, बलभद्रस्य तदज्ञानाद् विस्मयः, आश्चर्याभावा**दिवे**ति. बलभद्रोप्यावेशित्वेन बोधनीयः, अन्यथा देवताचिन्तनाभावे सा देवता नाविष्टा स्यात्. नन्वावेशापेक्षयावतारो मुख्य इति कथं बलभद्रपरत्वेन तेषां निरूपणमित्याशङ्क्या**हाग्रजमि**ति, अग्रे स एवाविर्भूत इति. तर्हि बोधनमनुचित-

टिप्पणी

स्पृशच्छिखान्वीक्ष्येत्यत्र, **तान् उद्धतान्** (ताननुद्धतान्!) **दृष्ट्वे**ति निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थः ॥४॥

प्रकाशः

त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्निरुद्धान् दृष्ट्वेत्यर्थ** इति. तथा च तान् दृष्ट्वा भगवतो न हर्ष एतान् **दृष्ट्वा** तु हर्ष इति महदेवाधिक्यमित्यर्थः. ननु **स्मयन्नि**त्यनेन मायामोहबोधनात् कथं हर्षोवगन्तव्य इत्याकाङ्क्षायां तस्यार्थमाहुः सुबोधिन्यां **स्मयन्निवे**त्यादि. तथा च मन्दहासस्यान्यार्थत्वाद्धर्षो निर्बाधः सुखेनावगन्तव्य इत्यर्थः. ननु भवतु भगवतो हर्षस्तथापि बलभद्रे तेषां स्वरूपबोधनस्य किं प्रयोजनमित्यत आहु**र्बलभद्रोपी**त्यादि. **अन्यथे**त्येवम्भङ्ग्या स्वस्वरूपबोधनाभावे **नाविष्टा स्यादि**ति बलभद्रे तिरोहितैव तिष्ठेन्न तु प्रकटा स्यात्. अत्रायं भावः— एते हि साक्षात्पुरुषोत्तमसेवका एवेति तेषामन्यनमस्कारादिकमनुचितं, तथा चात्र साधारण्येन नमस्कारकृतावनन्यत्वभङ्गशङ्का स्यात्. तन्निवृत्त्यर्थं बलभद्रे प्रविष्टं स्वस्वरूपं तदानीं बलभद्राय बोधनीयं येन तस्यापि स्वाभिमानः पृथक्तया

लेखः

बोध्यम्. बलभद्रे सिद्धं बोधनप्रयोजनमाहुः **आवेशित्वेने**ति, चतुर्व्यूहविशिष्टभगवदावेशवत्त्वेन हेतुनेत्यर्थः; तादृशावेशसिद्ध्यर्थं बोधनमित्यर्थः. **अन्यथे**ति, एवम्बोधनाभावे सदोषत्वेन प्राकृतत्वं मत्वा तच्चिन्तनं न कुर्यात् तदा तदावेशो न भवेदित्यर्थः. बलभद्रपरत्वेन निरूपणे हेतुरधुनैवावेशस्य शैघ्र्यमित्यग्रे वदिष्य"न्त्यावेशिनः सर्वभावेने"त्यादिना. [1](अतस्तत्पराणीमानि वाक्यानि न

योजना

वाहाग्रजमादिपूरुष इत्यस्य विवृतौ **अग्रे स एवाविर्भूत** इति. यद्यप्यावेशावतारयो-

---

१. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

मिति चेत् तत्राह**ादिपूरुष** इति, पुरुषोत्तमः ॥४॥

प्रथमं वनस्पतीनां वैष्णवत्वात् स्वरूपमाह**ाहो** इति.

॥ **श्रीभगवानुवाच** ॥

अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।
नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥५॥

अहो इत्याश्चर्ये, तेषामवान्तरभेददर्शनं स्मृत्वाश्चर्यमाह **हे देववर! अमी** वृक्षा **अमरार्चितं ते पादाम्बुजं शिखाभिर्नमन्ती**ति सम्बन्धः. प्रदर्शनेन तेषां चेतनत्वं सूचितमाधिदैविकत्वं च. यद्यप्येते देवास्तथापि भवान् **देववरः**. तरतमभावेपि देवानां देवभजनं न युक्तमित्याशङ्क्याह**ामरार्चितमि**ति, **अमरा** ये मुख्यदेवास्तैरप्यर्चितम्. स हि सङ्कर्षणो देवकार्यसाधकोतो भूभारहरणार्थं प्रार्थितोतो यथा तेषां खेदं दूरीकरोष्ये(त्ये!)वं वनस्पतीनामपि तमो दूरीकर्तव्यं, दूरीकरणार्थं प्रवृत्तेः, अतो

प्रकाशः

निवर्तेतेत्येतत् प्रयोजनमित्यर्थः. अयं च सर्वोप्यर्थः स्वरूपबोधनान्यथानुपपत्त्या समर्थितो ज्ञेयः. **पुरुषोत्तम** इति, तथा च महत इदमेव कृत्यं यत् स्वसेवार्थमागतमुत्कृष्टं करोति, यथैकादशस्कन्धे "निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शिनमनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यङ्घ्रिरेणुभिरि"ति. तथा च न दोष इत्यर्थः॥४॥

लेखः

त्वावेशाधिकरणशेषपराणीत्यर्थः). तथापि तदपेक्षया अवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वेनैव कथनमुचितमित्याहुः **नन्विति** ॥४॥

अहो इत्यत्र **अवान्तरभेददर्शनमि**ति, दोषाभावार्थं सजातीयत्वात् सङ्कर्षण एव नमस्य इति भगवदंशावतारभेदज्ञानं वृक्षाणामित्यर्थः. **प्रदर्शनेने**ति 'अमी नमन्ती'-तिप्रदर्शनेनेत्यर्थः. **चेतनत्वमि**ति, नमना**च्चेतनत्वम्** 'असौ लोक' इत्यादिष्वदस्-शब्दस्य पारलौकिकपदार्थवाचकत्वेन **अमीपदादाधिदैविकत्वं च सूचितमि**त्यर्थः. **दैवकार्यसाधक** इति यज्ञप्रतिबन्धकासुरनिवारणेन यज्ञसाधक इत्यर्थः. **अत एवे**ति

योजना

र्मध्येऽवतारस्य मुख्यत्वात् तत्परत्वं वृक्षादीनां वक्तव्यं न तु बलदेवपरत्वं, तथापि ज्येष्ठभ्रातुरभ्यर्हितत्वस्य वेदे निरूपितत्वाद् धर्ममार्गसरणिमादाय ज्येष्ठभ्रातुरुत्कर्ष-कथनार्थं तत्परत्वं वृक्षादीनां वर्णितमित्याहुः **अग्रे स एवाविर्भूत इति. तर्हि बोधनमिति** ज्येष्ठभ्रात्रे उपदेशस्यानुचितत्वादाशङ्का. समाधानं तु **आदिपूरुष** इत्यनेन पुरुषोत्तमत्वमादाय, पुरुषोत्तमस्य सर्वगुरुत्वात् ॥४॥

नमन्ति. तमोपहत्या इति, **येन** तमसा **तरुजन्म कृतं;** सजातीयेनैव सजातीयनिराकरणं भवतीत्याधिदैविकतमोनियामकमेव नमस्यन्ति. अत एव भगवता स्वनमस्कारो नोक्तः. मूलभूतं च तमो न कर्मणा ज्ञानेन च गच्छति किन्तु देवतयैव. तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थं त्वां ज्ञापयितुं तरुरूपेणैव नमस्कारं कुर्वन्ति दयासिद्ध्यर्थं च. गुणाधिकारोस्मै दत्त इति मर्यादार्थं तन्निराकरणाय निवेदनं, शिष्टं स्वयमेव करिष्यति. तदर्थं लीला क्रियत एव. यद्वा केनचिद् भगवत्स्थितिमज्ञात्वा तत्प्रश्ने कृते सुज्ञस्तं प्रत्याह– तस्य कदम्बस्य प्रियालस्य पनसस्य वा तले क्रीडतीति. तदा तदज्ञाननिवृत्तिः स्वस्माद् भवत्येतच्च तरुत्व एव सम्भवति नान्यथेति तादृक् **तरुजन्म यत्कृतं, येन** भवता **कृतं, तमोपहत्यै** उक्तरीत्या सर्वेषां तमोज्ञानं तदपहत्यर्थमित्यर्थः. **आत्म**पदस्य **शिखाभिरि**त्यनेन **तरुजन्मे**त्यनेन वा सम्बन्धः. हरौ स्वतले क्रीडत्यन्यदेशीयतरुवन्न मौढ्यं किन्तु तत्सर्वपरिज्ञानमानन्दश्च भवती-

---

टिप्पणी

अत्रैव **तमोपहत्यै तरुजन्मे**त्यत्र, **तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थमि**ति. अत्रायं भावः– तमसोऽज्ञानहेतुत्वेन ज्ञानविरोधित्वाच्च कदाचित् स्वसमीपे भगवत्यागते स्वसम्बन्धिपत्रपुष्पफलाद्यपेक्षायां च सत्यां पूर्वोक्तदोषेणेदमज्ञात्वा न प्रकटयेयुः स्वजातिस्वभावेन स्वस्वकाले एव च प्रकटयेयुस्तदापराधः स्यात् अत्र तादृक्तरुजन्मवैयर्थ्यं च. अतस्तमोनिवृत्तावज्ञानस्यापि निवृत्तेर्यथोचिता सेवा भवतीति तन्निवृत्तिः प्रार्थनीया, न तु तरुत्वस्यापि, परमेष्टत्वादिति ॥५॥

प्रकाशः

अहो इत्य**त्रावान्तरभेददर्शनमि**ति, गोपालेषु सत्स्वप्यस्मच्चरणयोरनि-(योर्नि!)पातेनावेशावतारादिविषयकभेददर्शनम्. **तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थमि**ति तरुत्वसमानाधिकरणदोषनिवृत्त्यर्थम्. तं दोषं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **तमस** इत्यादि **परमेष्टत्वादि**त्यन्तम्. सुबोधिन्यां **गुणाधिकार** इत्यादि, तमो**गुणाधिकारोऽस्मै** सङ्कर्षणाय भगवता **दत्त** इति मर्यादारक्षणार्थं तमोनिराकरणाय बलभद्रे कथनमित्यर्थः. **तदर्थमि**ति तरुकृतसेवार्थम्. प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वे**त्यादि,

लेखः

तमोपहत्यर्थं नमनकथनादित्यर्थः. **नोक्त** इति, कृतस्तु चतुर्व्यूहविशिष्टपुरुषोत्तम-नमस्कारः, तन्मध्ये सङ्कर्षणमात्रनमस्कारोत्र भगवता उक्त इत्यर्थः. **मूलभूतं चे**ति, देहकारणीभूतं तमो यावद्देहं न गच्छतीत्यर्थः. **शिष्टमि**ति रसानुभावनमित्यर्थः.

त्यात्मनस्तमोपहत्या इत्यत्रैव सम्बन्धः, अतस्तमुपकारं स्मृत्वा **नमन्ती**ति वार्थः. यद्वा **यद्** यस्माद्धेतो**रात्मन** आत्मीयं, स्वीयत्वेन परिगृहीतमिति यावत्, तादृक् **तरुजन्म कृतम**र्थात् त्वयैवातो **नमन्ती**ति सम्बन्धः. वृन्दावनभूमावुत्पत्तिमात्रेणैव हरिरात्मीयत्वं मनुत इति तथा. यत्रोत्पत्त्यादिरूपधर्माणामेतादृशत्वं तत्र धर्मिणां किं वाच्यमिति भावः. वक्ष्यति चाग्रे " न नः पुरो जनपदा" इत्यारभ्य "नित्यं वनौकस" इति "तस्मात् मच्छरणं गोष्ठमि"त्यादि. **तमः**पदं गुणत्रयोपलक्षकं, विशेषाकथनात् सम्बन्धमात्रेण सर्वेषां तथात्वायेति ज्ञेयं, "मन्निकेतं तु निर्गुणमि"तिवाक्यात् ॥५॥

एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्त्वा भ्रमराणां विज्ञापनमा**हैतेलिन** इति.

एतेलिनस्तव यशोखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते ।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥६॥

लोकप्रतीत्या यद्यप्येते झङ्कारमिव कुर्वन्ति तथापि वस्तुत**स्ते यश** एव **गायन्ति.** एतेपि तामसाः परं वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीनाः– ते तु फलपुष्पाढ्या

टिप्पणी

एतेऽलिन इत्यत्र, **वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीना** इति, देवापेक्षया मुनीनां तथात्वं स्पष्टम्. वाचनिकं भजनमनुपथं च भजनं रसविशेषोद्दीपकत्वं चाधिकमेतेषु, तेन तथा ॥६॥

प्रकाशः

पुनस्ततोपि प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति **यद्वा यदि**त्यादि –एतेषां पक्षाणां समुच्चय एवेति ज्ञेयम्. **तमः**पदस्य गुणत्रयोपलक्षकत्वे मानमाहु**र्विशेषे**त्यादि, तथा च गुणदूरीकरणे प्रकारविशेषप्रार्थनाभावाद् यथाकथञ्चित् [1]स्वसम्बन्धसम्पादनेन **तथात्वाय** सम्पादितस्वकीयत्वसाफल्याय च नतिरिति ज्ञेयमिति भावः[2] ॥५॥

एतेलिन इत्यत्र **परं** **वृक्षापेक्षये**त्यादेस्तात्पर्यं टिप्पण्यामाहु**र्देवापेक्षये**त्यादिना.

लेखः

तदर्थमिति रसानुभावनार्थमित्यर्थः. **वृन्दावने**ति, मूले जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं तदनेन साधितम्– उत्पत्तिमत आत्मीयत्वे उत्पत्तेर्हेतुत्वात् जन्मन आत्मीयत्वमुक्तं, तथा च वृन्दावनस्वरूपभूतानामात्मीयत्वे किं वाच्यमितिभाव इत्यर्थः. **वक्ष्यति चे**ति, भगवदीयत्वमत्र सूचितम् अग्रिमवाक्याभ्यां वक्ष्यति चेत्यर्थः ॥५॥

एतेलिन इत्यस्याभासे **विज्ञापनमि**ति, भगवते स्वदोषाभावगुणविज्ञापन-

---

[1] सम्ब°. [2] नतिर्ज्ञेयेतिभावः.

इति **सुमनांसि फलानि चार्हणरूपाणि** पूजारूपाण्यग्रे स्थापयित्वा कायिकं नमनं कृतवन्तः, एते तु राजसा इति फलाद्यभावान्न वाचनिकीमेव सेवां कुर्वन्ति. ते सङ्गे मुखामोदार्थमायान्तीति न मन्तव्यं यतो **यश एव गायन्तोनुपथं भजन्ति.** प्रार्थना त्वेतेषां नापेक्ष्यते यतोऽ**खिललोकतीर्थं यशो गायन्ति.** सर्वेषामेव यत् शोधकं तदात्मानं शोधयत्येवेत्यविवादम्. प्रभूणां गायका अपि सेवका भवन्ति. कदा वा कृपां करिष्यतीत्य**नुपथं** भजनम्. नन्वेते भ्रमरा हीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्तीत्याशङ्क्याह **प्राय** इति, **अमी** सर्वे **मुनिगणा** एव **भवदीयेषु** भवत्सेवकेषु **मुख्याः.** ननु ब्रह्मविदो भक्ताः कथं नीचयोनिं प्राप्तवन्त इत्याह **गूढं वनेपि न जहत्यनघात्मदैवमि**ति– भवान् गूढस्तेपि गूढाः, यथा भवान् मनुष्यभावं प्राप्त एवमेतेपि भ्रमरभावं, भवदीयमुख्यत्वादनुपथं भजनं, मुनिगणत्वाद् गानम्. ननु किमिति गूढं भजन्ते? प्रकटमेव देवान्तरं महादेवादिरूपं कथं न भजन्ति? तत्रा**हानघात्मदैवमि**ति, **अनघ**श्चासा**वात्मा दैवं** च. निर्दोषो हि त्यक्तुं न शक्यः, तत्राप्यात्मनः, तत्रापि दैवं, तामसा एव हि सेव्याः. तत्र महादेवादयः स्वसम्बन्धिनोपि देवता अपि भूतगणावृता इति न

प्रकाशः

सुबोधिन्या**मेते राजसा** इति विक्षेपधर्मकत्वाद् राजसाः. यत् पुनः पूर्वं तामसत्वमुक्तं तत् तामसराजसत्वमभिप्रेत्येति न विरोधः. प्रार्थनानपेक्षायां हेतुमाहु**र्यत** इत्याद्य**विवादमि**त्यन्तम्. अनुपथभजनप्रयोजनमाहुः **प्रभूणामि**त्यादि. **एवमेतेपि भ्रमरभावमि**ति, तथा च "न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानां च युज्यते विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिण" इतिगारुडवाक्यान्नैषां कर्मबन्धनत्वं भ्रमरत्वं किन्तूक्तहेतुकमिति न दोष इत्यर्थः. **गूढमि**ति "मनुष्यभावेन गूढं मां", **तामसा एव ही**त्यादि, अत्रैवं भाति– "यजन्ते सात्त्विका देवानि"तिगीतावाक्ये तत्तद्गुणवतां तत्तद्गुणकदेवभजनमुक्तं, पञ्चमस्कन्धे च शिवस्य सङ्कर्षणभजनमेवं सति यद्यपि महादेवादिभजनं प्राप्नोति तथापि त एतत्समा इति दुःसङ्गविशिष्टा इति नैतेषां सेव्या ब्रह्मादयस्तु विजातीयत्वान्न सेव्या अन्ये सजातीयास्तु निकृष्टा; अतो मुनित्वात् सर्वमिदमवग-

लेखः

मित्यर्थः. व्याख्याने **तामसा** इति, वृक्षवदेतेषामपि स्वरूपाज्ञानसम्भवादितिभावः. **राजसा** इति रसोद्दीपका इत्यर्थः. **प्रार्थना त्वि**ति, स एव तमोपहतिरूपो दोषाभावो गुणश्च सेवारूपः सर्वत्रानुसन्धेयः, परन्त्वत्र यशसः स्वत एव दोषनिवारकत्वात् प्रार्थना नापेक्ष्यत इत्यर्थः. गानस्य सेवारूपगुणत्वं विवृण्वन्ति **प्रभूणामि**ति. अग्रे **वने**

सेवितुं शक्याः. ब्रह्मादयस्तु स्वसम्बन्धिन एव न भवन्ति, अन्ये तामसा देवता एव न. अत एवानन्यगत्या **गूढमपि भजन्ते, वने** वा गूढं यथा भवति तथा, अन्यथा भगवान् रोषं वा कुर्यात्. अत एतेष्वप्यनुग्रहः कर्तव्य इति ॥६॥

मृगपक्षिणां विज्ञापनामाह **नृत्यन्तीति**.

नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः ।
कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन ॥
सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय ।
धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥७॥

हे **ईड्य, अमी शिखिन**स्त्वामागतं ज्ञात्वा नृत्यन्ति, ईड्येति सम्बोधनादन्ये गायन्ति स्वयं नृत्यन्ति. शिखिनां नृत्यमेव प्रशस्तम् आगमने यो नृत्यति स महान् भक्तः, आगमनमेव तस्याभीष्टं, यतो **हरिण्योपि त ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति.** कथञ्चित् प्रीतिरुत्पादनीया, ता अपि **मुदा** भवन्तं पश्यन्ति स्वस्य च चक्षूंषि भवते प्रदर्शयन्त्यो गोपिकादिस्मारकत्वेन सुखं जनयन्ति. **गोप्य इवे**ति, गोप्यो यथा स्वरूपतः सुखजनिका एवं तत्स्मारिका अपि, नाट्यकाव्येषु तथानिरूपणात्. **कोकिलगणास्तु सूक्तैः** स्तोत्ररूपैः **प्रियं कुर्वन्ति**, तासां शब्देन च महानानन्दो भवति. एते वनस्था गृहस्था इव **धन्याः**, यत **इयानेव सतां निसर्गः** स्वभावः –

आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम् ।
वाक्यैः स्तुतिश्च परमा महत्येतावदेव हि ॥(७)॥

प्रकाशः

त्यानन्यगत्या गूढमपि त्वामेव भजन्त इत्यर्थः. पक्षान्तरमाहु**रन्यथे**त्यादि, **अन्यथे**ति योग्यत्वेपि भजनाकरणे[१] ॥६॥

लेखः

वेति सात्त्विकभावहेतौ रहःस्थले इत्यर्थः. **अन्यथे**ति उच्चैः शब्दे सर्वेषां ज्ञानसम्भवादिति भावः. **अनुग्रह** इति, आत्मीयत्वं माननीयमित्यर्थः ॥६॥

नृत्यन्तीत्यत्र तासां शब्देन चेति, हरिणीनां स्वरूपेण तासां शब्देन च महानानन्द इत्यर्थः ॥७॥

कारिकार्थः

नृत्यन्त्यमीत्यत्र **आगत** इति. अत्र शिखिनां हरिणीनां कोकिलानां च क्रमेण तोषः प्रियार्थनिवेदनं स्तुतिश्चोक्ता (७).

---

[१] °का°.

तृणानि भूमिरुदकं सामान्ये गृहमागते॥

अत आहे**यानेव सतां निसर्ग** इति ॥७॥

वृन्दावनभूम्यादीन् स्तौति **धन्ये**ति.

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ।
नद्योद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥८॥

इयं धरणी भूमि**र्धन्या,** तव पादस्पर्शात्, **तृणवीरुधोपि धन्याः. त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता अपि धन्याः. करजैर्नखैरभिमृष्टा नद्योद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः. दयासहितावलोकनैर्गोप्योपि धन्यास्त**व **भुजयोरन्तरेण** कृत्वा तत्रालिङ्गनं प्राप्य. ननु कथमस्य दुर्लभत्वम्? तत्राह **यस्पृहा श्रीरि**ति. भूम्यादीनां विज्ञापनं न किञ्चित् कर्तव्यं यतस्त्वया यथाकथञ्चित् सर्व एव तत्तत्प्रकारेण प्रीणिताः. आवेशिनः सर्वभावेन निरूपणे आवेशाधिकरणभूतः सम्यग् भावयति, ततः शीघ्रमेवाविष्टा सा देवता भवति. अन्यथोभयेषामप्यनिष्टं स्यात् वृन्दावनस्थानां सङ्कर्षणस्य च भजनेऽभजनेपि– देवतान्तरभजनेन तेषां नाशो भगवद्भोग्यानां स्वीकारेणेतरस्य चाभजने तु सर्वदैवाभजनेऽतिक्रमः स्यादन्यस्य च क्रोधः. अतो नित्यस्वावेशसिद्ध्यर्थं बलभद्रस्य प्रबोधनम् ॥८॥

प्रकाशः

धन्येयमित्यत्र. नन्वन्यनिरूपणं बलभद्रबोधनाय भवतु नाम तथापि "गोप्योन्तरेणे"त्यादि त्वसम्भावितमेवेति तत् किमिति वदतीत्याशङ्क्य तन्निरूपणतात्पर्यमाहु**रावेशिन** इत्यादि. **सम्यग् भावयती**त्यात्मानं तत्त्वेन भावयति. **तेषामि**ति भजनकर्तॄणाम्. **भगवद्भोग्यानामि**ति गोप्यतिरिक्तानामिति ज्ञातव्यम्, "अक्षण्वतामि"त्याद्यग्रिमेण "कृष्णो रेमे" इत्यत्र भगवत एव कर्तृत्वोक्त्या चान्यथा विरोधः स्यात्. **भगवद्भोग्या**पदेन तदतिरिक्ताः सुखेन स्वीकरोतु. भगवदावेशाच्च पुष्पादिग्रहणदोषः परिहृत इति न काप्यनुपपत्तिरत एवाग्रिमाभासे **तत्रत्याना-**

लेखः

धन्येत्यस्याभासे **स्तौती**ति, स्तुतिरुत्कर्षाधायकगुणवर्णनं, तथा चोत्कर्षार्थं दोषाभावं गुणांश्च वर्णयतीत्यर्थः. व्याख्याने, धनं भगवांस्तत्सम्बन्धो यथाधिकारं सर्वत्र ज्ञेयः. **ननु कथमस्ये**ति, आलिङ्गनस्यापि शब्दसूचितं दुर्लभत्वं कथमित्यर्थः. **प्रीणिता** इति, धनयोग्यताकथने तत्सम्बन्धेन धनधर्मप्रीतिजननं सूचितमिति भावः. **अन्यथे**ति अधुनावेशाभावे इत्यर्थः ॥८॥

एवं वृन्दावनस्वरूपं निरूप्यात्रत्यानां च स्वरूपमर्थाद् बलभद्रबोधनं च कृत्वा तादृशे वृन्दावने भगवान् क्रीडां कृतवानित्या**हैवम**िति दशभिः.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।
रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥९॥

पौगण्डवयसः पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालरूपत्वादादौ पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनं क्रमेण, ततो दशरसोद्भावनेन क्रीडा, परमानन्दस्य दशधा रसो लोकेऽनुभूयत इति ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्योत्तमत्त्वप्रतिपादनार्थम्. तथा प्रथमं धर्ममावि-

टिप्पणी

एवं वृन्दावन इत्यस्यावतारिकायां, **तत्र प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्नि**ति. अत्र हि

प्रकाशः

माधिदैविकवृन्दावनस्थानां **स्वरूपं** मदुपभोग्यमेवेदमितिरूप**मर्थान्निरूप्य तादृशे** स्वयं **क्रीडां कृतवानि**त्युक्तम्. अन्यथा वृन्दावनस्वरूपनिरूपण एव तत्प्राप्तेरस्य निरूपितत्वात् पुनस्तदुक्तिरार्थिकत्वोक्तिश्च निरर्था स्यात्. नित्यस्वावेशेन चान्यभावोत्पत्त्यभावात् तदस्वीकारेणापराधसम्भव[1] इति तथा. "क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमि"त्यत्र या क्रीडा सा तु मल्लयुद्धरूपा तथैव विवृतौ दृश्यमानत्वादिति सर्वमवदातम् ॥८॥

एवं वृन्दावनमित्यत्र श्लोकचतुष्टये पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनमुक्तं तत्र धर्मः

लेखः

अर्थादिति 'आवेशिनः सर्वभावेने'त्यादिनोक्तप्रयोजनाद्धेतोस्तत्सिद्ध्यर्थमित्यर्थः, **बलभद्रबोधनं** बलभद्रपरत्वेन बोधनमित्यर्थः. **इत्याहे**ति, इदं निरूप्य इदं कृत्वा क्रीडां कृतवा**निति**हेतोस्तदनन्तरं रमण**माहे**त्यर्थः. तथा च व्याख्याने अध्याहारनिषेधेप्यार्थिकमानन्तर्यमिति भावः.

योजना

एवंवृन्दावने इत्यस्य विवरणे **दशधा रस** इति, शृङ्गारादिभक्त्यन्तै रसै**र्दशधा रस इति** स्वरूपानन्दो **लोके** लीलासृष्टौ **अनुभूयते** इत्यर्थः. **ब्रह्मानन्दापेक्षये**त्यादि-ब्रह्मानन्दे हि एकरूपत्वेन सुखानुभवः भजनानन्दे दशधा रसानुभव इत्याधिक्यम्.

---

१. °सम्भाव, °सम्भावनाभाव.

ष्कुर्वन् रतिं कृतवानित्या**हैवं**रूपे **वृन्दावने कृष्णः पशून् सञ्चारयन् रेम** इति सम्बन्धः. वृन्दावनगुणनिरूपणार्थमेव वचनानामुपयोगा**देवमि**त्यनेनैव सम्बध्यते, अतो निरूप्योक्त्वेत्यादिक्रिया नाध्याहर्तव्या, शाब्दी च सङ्गति**रेवमि**त्यत्रैव योजनीया. यत्र **रन्तुं मनो दधे** यत्र **चोवाच रेमे**न्यानि च कृतवानिति महावाक्ये सर्वेषां सम्बन्धः. यदा पुनस्तत्तदभिमानिदेवताभिः सह रतिं कर्तुमारम्भं कृतवांस्तदा

टिप्पणी

भगवद्दास्यमेव मुख्यो धर्मः, स च वृक्षाणां भगवता निरूपितः. तथा "चैवं वृन्दावने पशून्संचारयन् रेम" इति वाक्येन पूर्ववाक्यानां सम्बन्ध इति तादृशधर्मप्रकटनपूर्वकं रमणं महावाक्यार्थो भवति. स्वयं पशुचारणे क्रीडायां प्रतिबन्धः स्यादिति तदभावाय भगवत्कार्यं स्वयं गोपाः कुर्वन्तीति पशुचारणमपि सेवैवेति स्वधर्म एव. वैश्यानां चायं धर्मो भवत्येवेत्यर्थः समाज इति भावः ॥९॥

प्रकाशः

को वेत्याकाङ्क्षायां तत्र **प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन्नि**त्यनेन यो धर्मोभिसंहितस्तं टिप्पण्यां स्फुटीकुर्व**न्त्यत्र ही**त्यादिना. तथा च भगवद्दास्यरूपो वृक्षधर्मः सेवारूपो गोपधर्मो गोचारणरूपो वैश्यधर्म इति त्रयमप्यभिसंहितमित्यर्थः. सुबोधिन्यां ननु पूर्वं वृन्दावने प्रवेशस्य रन्तुकामताया वृन्दावनवर्णनस्य चोक्तत्वात् प्रकारवाचिन **एवं**पदस्य पूर्वोक्तक्रियाभिः सम्बन्धे वाक्यभेदप्रसङ्गाद् **रेम** इत्यनेन सम्बन्धाङ्गीकारे च क्रीडानामनुक्तत्वेन तदनन्वयात् तदन्वयाय सन्निहितपरामशार्थं 'निरूप्ये'त्यादि-क्रियाध्याहार्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं तद्योजनप्रकारमाहु**र्वृन्दावने**त्यादि, **एवमित्यनेनैवे**ति. **एवमि**तिपदं **वृन्दावन**पदेनैव सम्बध्यतेतो नाध्याहार इत्यर्थः. तर्हि कथं शाब्दी सङ्गतिरित्यत आहुः **शाब्दी चे**त्यादि. **एवमित्यत्रे**त्यस्मिन् श्लोके, **अन्यानि चे**ति श्लोकान्तरे वक्ष्यमाणानि. **महावाक्य** इति "रेमे रमालालितपादपल्लव" [1]इत्यन्ते वाक्ये. **रेमे-सञ्चारयन्नि**तिसमभिव्याहारसूचितमर्थमाहू **रमणमि**त्यादि. **उभयो-**

लेखः

एवं वृन्दावन इत्यत्र **स्वत एव समागते**ति, आज्ञामनपेक्ष्येच्छामेव ज्ञात्वा सर्वास्वाविष्टेत्यर्थः. **अत** इति, **श्रीम**त्पदसूचितलक्ष्म्यावेशाद्धेतोरालम्बनवाचकैस्ताभिरित्यादिपदैरनुक्तमपि ताभिः सह **रमणं सिद्धमेवेति** हेतोस्त्रयोपि **निरूप्यन्ते** इत्यन्वयः. **अनुभावा** इति, गवां स्मरणे तासामागमनसम्भावनया रसे शङ्का भवती-

---

१. भा. १०।१२।१९.

लक्ष्मीः स्वत एव समागतातो रमणमनुक्तसिद्धमेवेत्यनुभावा उद्दीपनविभावा व्यभिचारिणश्च निरूप्यन्ते. आलम्बनं तु लक्ष्मीरेव. नायकोत्कर्षमाह **कृष्ण** इति, सदानन्दो हि पुरुषोत्तमो. मनश्च करणं, तस्यापि दोषनिवृत्तिपूर्वकं गुणा वक्तव्याः. तदाह **प्रीतमना** इति– **प्रीतं** निर्दुष्टं सन्तुष्टं **मनो** यस्य. **पशून् सञ्चारयन्नि**ति धर्मः. **सम्यक् चारणं** देशविशेषे गह्वरादिवने वक्तव्ये स्वरमणं बाध्येतेत्युभयोरुपयोगार्थं देशविशेषान् निर्दिशत्य**द्रेः सरिद्रोधस्स्व**ति– पर्वतसम्बन्धिन्यो याः **सरित**स्तासां **रोधस्सु** कूलेषु. तत्र हि हरिततृणानि भवन्ति प्ररूढानि च. पर्वते स्थित्वाधस्तात् स्थित्वा वा तासामन्यत्र गमनशङ्काभावाच्चारयन्नेव रमणं सम्भवति, अत एव सम्यक्

प्रकाशः

रिति भगवतो गवां च. **अनुभाव** इत्यादि, तत्र ये रसाननुभावयन्त्यनुभवगोचरतां नयन्तीतियावत् तेऽनुभावा, ये रसमुद्दीपयन्त्युत्पादयन्तीतियावद् ये बाह्यास्त उद्दीपनविभावा, य इतस्ततो रसेषु सञ्चरन्त्यनेकरसव्याप्त्या भवन्तीतियावत् ते व्यभिचारिणस्तेऽत्र निरूप्यन्त इत्यर्थः. ते रसतरङ्गिण्यादिभ्योवगन्तव्याः ॥९॥

लेखः

ति शङ्कारूपव्यभिचारिभावहेतुत्वाद् धर्मस्य व्यभिचारित्वं, तथा चैते त्रयो मनोदेशधर्मा इति ज्ञेयम्. आलम्बनाकथने हेतुमाहुः **लक्ष्मीरेवे**ति, अनाविष्टाः नालम्बनमि**त्येव**कारः, सा तु **श्रीम**त्पदेन सूचितैवेति भावः. **तस्यापी**ति, नायकेपि **कृष्ण**पदेन सत्त्वं दोषाभाव आनन्दो गुण उक्त **इत्यपि**शब्दः. **कृष्ण**पदसमभिव्याहारात् मनस्यपि सत्त्वं सूचितमित्याशयेनाहुः **निर्दुष्टमि**ति. **उभयोरि**ति चारणरमणयोरित्यर्थः. **रमणमि**ति करोतीति शेषः ॥९॥

योजना

आलम्बनं तु लक्ष्म्येवेति **लक्ष्म्ये**ति तृतीया; **लक्ष्म्या इव** गोपिकाभिः सह क्रीडां कुर्वाणो भगवानेवालम्बनविभावरूप इत्यर्थः, यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बनविभाव इति रसशास्त्रराद्धान्तात्. **अन्यत्र गमनशङ्काभावात् चारयन्नेव रमणं सम्भवती**ति. इह **चारयन्नेवे**त्यन्तं भिन्ना फक्किका, तथा च **चारयन्नेव रेमे** इति मूले विद्यमानेन **रेमे** इतिपदेनान्वयो बोधितः. ततो **रमणं सम्भवती**तिभिन्ना फक्किका, यत एवं रमणं सम्भवति ततो रेमे इत्यर्थः. न ह्यत्र गोचारणक्रियाव्यापृतस्य भगवतः आनन्दतिरोभावः किन्तु गोचारणं कुर्वत एव रमणसम्भवात् परमानन्दानुभव

चारणम्. धर्मरतौ रक्षायां स्वाभिनिवेशे धर्मरमणयोर्हीनता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **सानुग** इति– अनु पश्चाद्गच्छन्तीत्यनुगाः सेवकास्तैः सहितः ॥९॥

एवं धर्मोद्भावनेन क्रीडामुक्त्वार्थोद्भावनेनापि क्रीडामाह **क्वचिदि**ति.

क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।
उपगीयमानचरितः सखिसङ्कर्षणान्वितः ॥१०॥

मदान्धालिषु गायत्सु क्वचिद् भगवानपि **गायति, अनुव्रतै**र्निजभक्तै**रुपगीयमानचरित**श्च **सखिसङ्कर्षणाभ्यां चान्वितः.** "यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" इतिश्रुतेर्वीणानुरणनस्थानीया भ्रमरा भवन्ति. अर्थभोगेनैव गीतमपि गायति, अन्यथा तद्रसोद्रेको न ज्ञापितः स्यात्. सर्वतश्च स एव स्तूयमानोपि

प्रकाशः

क्वचिद् गायतीत्य**त्रैवं धर्मोद्भावनेने**त्यादि– धर्मस्य स्वदास्यरूपस्य गोचारणादेश्चोच्चैः प्रकटीकरणेन लीलामुक्त्वार्थस्य स्वस्वरूपस्य स्वप्रसादरूपस्य स्रक्पुष्पफलान्नादेश्च दानादुच्चैः प्रकटीकरणेनेत्यर्थः. **चरितश्चे**ति[1] भवतीतिशेषः. ननु कथमत्रार्थोद्भावनमित्याकाङ्क्षायां तदुपपादयन्ति **यदे**त्यादि **युक्तश्चे**त्यन्तम्. **अर्थभोगेने**ति, मातृप्रभृतिप्रेषितवस्तूनां भोगेन वन्यवस्तूनां भोगेन च मदान्धालिसाधर्म्यात् तेषां च मधुगन्धग्राहित्वादिति. किञ्चा**त्रार्थ**पदेन श्रीरपि ज्ञातव्योक्तश्रुत्युपन्यासात्. **स एवे**ति

लेखः

क्वचिदित्यत्र **निजभक्तैरि**ति वेण्वादिकं सङ्गे नयन्ति तादृशैरित्यर्थः. **स**

योजना

इति हार्दम्, अत एतत्सूचनार्थं **सानुग**पदं मूले. अनुगा गाश्चारयन्ति स्वयं तु रमत इति भावः ॥९॥

क्वचिद् गायतीत्यस्याभासे **एवं धर्मोद्भावनेने**ति, "रेमे सञ्चारयन्नद्रेरि"त्यनेन गोचारणाख्यक्रीडानिरूपणेन धर्मोद्भावनमुक्त्वेत्यर्थः. निबन्धे "मोक्षः कामश्चेतिसाक्षात्पुरुषार्थद्वयं मतं तत्साधकत्वं धर्मस्ये"ति व्यवस्थापितं, प्रकृतेपि व्रजसीमन्तिनीभिः सह तृतीयपुरुषार्थरूपरमणस्य साधकं गोचारणमिति धर्मत्वं ज्ञेयम्. साक्षात्पुरुषार्थत्वं शृङ्गाररमणस्य, तत्साधकत्वं गोचारणस्य –एवं व्रजसुन्दरीविचारेपि धर्मत्वं; तासामपि शृङ्गाररमणरूपपुरुषार्थं गोचारणलीलैव साधयति ॥१०॥

---

१. 'त्यन्तं.

भवति परिकरयुक्तश्च. परिकरो द्विविध इति **सखिसङ्कर्षणौ** निरूपितौ स्वसम्बन्धिनः कुलसम्बन्धिनश्चेति. "बन्धुभिर्या न भुज्यत" इत्यर्थे तेषां सहभाव आवश्यकः. समीपे गानं स्तोत्रं वार्थभोग एव; मुनीनां भ्रमरत्वनिरूपणात् समीपे धाष्टर्याद् गानं न भविष्यतीति **मदान्ध**ता निरूपिता. मदोऽत्र भगवत्सान्निध्यानन्दो भक्तिरसोन्मादो वा, वृन्दावने पुष्पेषु मकरन्दश्चरणसमर्पितेषु भक्तिरूप एवेति. **अनु व्रतं** येषामिति तेषामपि स्वसाम्यकरणम्. सर्वे सखायः सङ्कर्षणश्च सम्यगन्वयस्तेषामप्यर्थभोगः सम्यक् सम्पाद्यत इति. **एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमना** इति पञ्चपदानि सर्वत्रानुवर्तन्ते ॥१०॥

एवमर्थलीलामुक्त्वा कामलीलामाह **क्वचिच्चेति**.

क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् ।
अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ॥११॥

प्रकाशः

श्रीयुक्त एव. कोत्र परिकर इत्याकाङ्क्षायां तं स्फुटीकुर्वन्ति **परिकर** इत्यादि. **स्तोत्रं वार्थभोग एवे**त्यर्थस्य प्रसादस्य प्राप्तावेव, अन्यथा गानस्तोत्रयोः स्फूर्तिरिव न स्यात्. मदान्ध्ये तूष्णींस्थितिरेव स्यान्न तु गानमित्याशङ्क्य मदस्वरूपमाहुर्**मदोत्रे**त्यादि. **स्वसाम्यकरणमि**ति स्रगादिदानेन [1]मुख्यभक्ततुल्यभावसम्पादनम्. **अनुव्रत**पदेन भक्ता ग्राह्या, **अनुव्रत**पदव्याख्यानरूपत्वात्, स्वतुल्यभोगसम्पादनं वा. सङ्कर्षणाय तु स्रगादिकमनुच्छिष्टमेव ददातीति ज्ञातव्यम्. एवमर्थोद्भावनमुपपाद्यैतच्छ्लोकोक्तपदानां सर्वत्रावश्यकत्वं बोधय**न्त्येवमि**त्यादि. **सर्वत्रे**त्यग्रिमश्लोकेषु ॥१०॥

लेखः

एवेति अर्थभोगवानेवेत्यर्थः. भक्तेष्वर्थोद्भावनमाहुः **तेषामप्यर्थभोग** इति ॥१०॥

कामलीलामाहेति, भगवत्कूजितबन्धस्वरूपज्ञाने भगवत्कामो भवतीति भावः.

क्वचिच्चेत्यत्र **रसार्थमि**ति कूजितोद्गतरसानुभवार्थमित्यर्थः. **सम्बद्धस्ये**ति

योजना

क्वचिच्चेत्यस्याभासे **एवमर्थलीलामुक्त्वे**ति "क्वचिद् गायति गायत्स्वि"ति पूर्वश्लोकेनेत्यर्थः. भगवत्कर्तृको गानादिसम्पत्तिभोगो भगवतोर्थलीला. तादृगर्थलीलामनुभवन् भगवानेवार्थरूपपुरुषार्थस्वरूपो भक्तानाम् ॥११॥

---

[1] मुख°.

कलहंसानां कूजितमनुकूजति, कामे हि द्वयं कर्तव्यं– कूजितं रसोद्गमनार्थं बन्धाश्च रसार्थम्. तत्र मयूरस्य मयूर्या सह सम्बद्धस्यैव मत्तस्य गात्रविक्षेपे सर्वतो रस एकीभूय नेत्राभ्यां निर्गतो मयूर्या मुखे प्रविशत्यूर्ध्वं च रेतो निर्गच्छति ज्ञानद्वारा च. अन्ये सर्वे कामे प्राकृता एव रसाः, अत एव विचित्रं तत्र कार्यमुत्पद्यते. शब्दो हि मनःपूर्वक इति रसारसयोर्भेदकस्य हंसस्य मानसैकशरणस्य तादृशं भवति **कूजितम्**, अत एव सर्वविलक्षणत्वं हंसे वक्तुं **कलहंस** उक्तः, स हि कलानां हंसः,

प्रकाशः

क्वचिच्च कलहंसेत्यत्र. भगवान् स्वकामलीलामलौकिकीं ज्ञापयितुं तद्धेतुभूतं रसमलौकिकमेव प्रकटयति तादृशं च मयूर इति तमभिनृत्यतीति शुकाशयं प्रकटीकर्तुमाहु**स्तत्र मयूरस्ये**त्यादि **द्वारा चे**त्यन्तं, तथा चात्र **गात्रविक्षेप** एव बन्धस्थानीय इत्यर्थः, केवले रसे तथैव सिद्धत्वादिति. ननु तथापि बन्धाभावान्न्यूनतेवेत्यत आहु**रन्य** इत्यादि, बन्धवन्तः. **प्राकृत** इति सप्तमी उपयोगिन इत्यर्थात्. अप्राकृतत्वे गमकमाहु**रत एवे**त्यादि, तथा चात्र नृत्यमात्रेणैव सा लीलेत्यर्थः, तेनात्र "हरेर्दिदृक्षैव काम" इति स्फुटीभविष्यति. यथाऽलौकिके रसे मयूरस्तथाऽलौकिके कूजिते कलहंस इत्याशयेनाहुः **शब्दो ही**त्यादि. **कलानां हंस**

लेखः

सहितस्येत्यर्थः. **अन्ये सर्वे** इति जीवनिष्ठा आश्लेषादय [1](स्तत्स्वभावाद् जायन्ते मुख्यो भोगस्तु रसनिर्गमनमेवातोनुकरणं तस्यैव) इत्यर्थः. **अत एवे**ति कामस्य विलक्षणत्वादेवेत्यर्थः. **शब्द** इति, शब्दस्य मनःपूर्वकत्वात् तज्जनकं मनःसम्बन्ध्येव किञ्चिद् वाच्यमतो **मानसैकशरणस्यै**व **कूजितं** [2]**तादृशं** भगवत्कूजितजनकं **भवती**त्यर्थः. **मानस**पदे श्लेषो ज्ञेयः– कूजितस्य भगवदीयत्वात् तज्जनककूजितवति रसारसयोर्भेदकत्वमुक्तं, तथा च तदनुकरणेन भगवता स्वकूजितस्य यत्र यथोचितं तत्र तथा श्रवणमश्रवणमन्यथाश्रवणं वा भवतीति रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितं स्वस्य मानसैकशरणत्वं च; **मानसमेवैकं शरणं** गृहं यस्य तत्त्वम्, अन्तःकरणसम्बन्धित्वमित्यर्थः. उपलक्षणेन सर्वस्यैवेन्द्रियकार्यस्य रसारसभेदपूर्वकत्वं बोधितमिति भावः. **अत एवे**ति भगवत्कूजितजनककूजितवत्त्वादेवेत्यर्थः. **सर्वे**ति जीवान्तरविलक्षणत्वमित्यर्थः. **कलानामि**ति अव्यक्तमधुरशब्दानां **हंसः** प्रकाशक इत्यर्थः. **हंसानां कूजितमि**ति बहुवचनैकवचन-

---

[1] इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे. [2] '**तादृशमि**ति भगवत्कूजितरूपशब्दजनकमित्यर्थ' इत्येकस्मिन्नादर्शे.

बहूनामेकविधप्रतिपादकत्वे तदर्थनिष्णातत्वं भवति. भगवांस्तु सर्वेषामेव **कूजितं** रसावान्तरभेदाविर्भावार्थ**मनुकूजति. अमितश्च नृत्यन्तं बर्हिणं नृत्यति** यदि मयूरो मयूर्या सह रसेन नृत्यति, अन्यथा मेघादिदर्शनेन स्वभावतो वा यदि नृत्यति, तदापि भगवान् नृत्यति रसाभासभावाभासनिरूपणार्थेऽन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्. तदाह **हासयन् क्वचिदि**ति, कदाचिद् **बर्हिणं हासयन् नृत्यति**— बाला बर्हिणं हसन्ति नायं सम्यक् नृत्यतीति. सर्वदैवमिति निषेधार्थमाह पुनः **क्वचिदि**ति ॥११॥

मोक्षलीलामाह **मेघगम्भीरये**ति.

मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।
क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥१२॥

वाचा दूरगान् पशून् नामभिर्भगवान् **क्वचिदाह्वयती**ति सम्बन्धः. भगव-

प्रकाशः

इत्यव्यक्तमधुरशब्दानां विवेचको **भवती**ति ज्ञापितं भवति. एवं रसं निश्चित्य **क्वचिच्चे**तिमूलस्थपदद्वयस्यार्थमाहु**र्भगवांस्त्वि**त्यादि ॥११॥

मेघगम्भीरेत्यत्र मोक्षलीलां व्युत्पादयन्ति **भगवत्सायुज्यमि**त्यादि. मोक्षस्य मार्गद्वयभेदभिन्नत्वादुभयपरत्वेन व्याख्येति ज्ञेयम्. तत्र सह युनक्तीति सयुक् तस्य भावः सायुज्यं, तथा च भगवता सह प्राथमिकसंयोग इति फलति. मुक्तिश्च दुःखाभावरूपा. मार्गान्तरे तु सायुज्यं स्वरूपप्रवेशात्मकं मुक्तिश्च स्वरूपेण व्यवस्थानम्.

लेखः

योस्तात्पर्यमाहुः **बहूनामि**ति, बहुप्रतिपादितस्यैकस्य श्रवणे श्रोता तन्निष्णातो भवतीति भगवति कूजितनिष्णातत्वं सूचितमित्यर्थः. **भगवांस्त्वि**ति, हंसस्त्वेकं एकविधं कूजितं करोति भगवांस्तु सर्वेषामेवेति **तु**शब्दः. [1](**हासयन् क्वचिदि**त्यस्याभासमाहु**रन्यथा मेघादी**ति. क्रीडायामेतद् द्वयमप्यस्तीति ज्ञापयितुमेवं नृत्यन्तमभिनृत्यतीत्यर्थः. आद्यनृत्यपक्षे तु रस एवास्तीति तत्र **रसेने**त्युक्तम्.) **तदाहे**ति रसपोषकोभयनिरूपणार्थमिदं नृत्यमिति शृङ्गारोद्बोधकनृत्ययुक्तस्य हासविषयत्वकथनेन भावस्य पक्षिनिष्ठत्वकथनेन चाहेत्यर्थः ॥११॥

मेघगम्भीरयेत्यत्र **मुक्तिश्चे**ति संसारात् मोचनमित्यर्थः. अत्रापि स्वस्य सहयोगस्तृणादिविषयात् मोचनं च सम्पादनीयमिति भावः. **तत्तद्धर्मे**ति— श्रवण-

---

[1] इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

त्सायुज्यं मुक्तिश्च भगवद्दत्तैव भवति, सर्वशास्त्रनिरूपितानां साधनानां भगवति तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकानां ततः प्रतिफलितानां भगवत्कृतानामेव साधकत्वमिति सिद्धान्तः, "यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्या भद्ररन्धन येनोपशान्तिर्भूतानामि"त्यत्र विशेषतो निरूपणात्. अतो भगवन्नामस्मरणं कीर्तनं च भगवता नामग्रहणार्थम्. तदपि ग्रहणं सर्वेषां तापनिवर्तकरूपेण, तदपि कृपयावसरे, यदा ते दूरं गता भवन्ति.

प्रकाशः

सोभयविधापि **भगवद्दत्तैव भवति,** "मोक्षमिच्छेत् जनार्दनादि"तिवाक्यात्. ननु तयोर्भगवद्दानैकप्राप्यत्वे शास्त्रोक्तसाधनानां का गतिरित्याकाङ्क्षायां तेषां गतिमुपपादयन्ति **सर्वे**त्यादि. **सर्वेषु शास्त्रेषु** मोक्षप्रतिपादकेषु श्रुतिपुराणयोगसाङ्ख्यादिषु **निरूपितानां साधनानां** ज्ञानोपासनाचित्तनिरोधसन्न्यासादीनां स्वनुष्ठितत्वे सति साधनस्योत्कृष्टतासम्पादको यो मनोधर्मस्तदेकतानतारूपस्तेन स्वस्य भगव**त्सम्बन्धजनकानां ततो** भगवद्बुद्धौ **प्रतिफलितानां** ततो भगवानपि तानि करोति. यथा शरतल्पे गते भीष्मे भगवन्तं ध्यायति भगवानपि तं ध्यातवानिति राजधर्म उक्तं "शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनो मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मन" इत्यादिभिः कतिपयैः श्लोकैर्यथा च ध्रुवे भगवति सङ्गतात्मनि सति भगवांस्तत्र गत्वा तस्मा आत्मानं प्रदर्शितवानिति चतुर्थस्कन्ध उक्तं तथा **भगवत्कृतानामेव** मोक्षसाधकत्वमिति सिद्धान्तः. तथा चैवं शास्त्रोक्तसाधनानां गतिरित्यर्थः. ननु निदर्शनस्य क्वाचित्कत्वेन सर्वत्रैवं शास्त्रार्थाङ्गीकारे किं मानमत आहु**र्यदन्वि**त्यादि. इदं हि चतुर्थस्कन्धे प्रचेतोभिर्भगवन्तं प्रत्युक्तम्. एतस्य पूर्व"मेतावदेव प्रभुभिर्भाव्यं दीनेषु वत्सलैरि"त्यर्धमस्ति, एतस्याग्रे "क्षुल्लकानामपीहतामि"तिचतुर्थः पादोस्ति. तथा चात्रैवं विशेषतो निरूपणादिदमेव मानमतो महतां क्षुल्लकानां च भगवता तदनुस्मरणे कृत एव कार्यसिद्धिरिति निर्विवादमित्यर्थः. एवं साधनगतिमुपपाद्य सिद्धमाहु**रत** इत्यादि. एवं प्रकृतोपयोगशास्त्रार्थं निरूप्य **मेघगम्भीरये**त्यादि व्याकुर्वन्ति **तदपि ग्रहणमि**त्यादि, **ग्रहणमि**ति नामग्रहणम्. दूरगतावेवाह्वाने हेतु-

लेखः

कीर्तनादि**धर्मद्वारा सम्बन्धजनकानां** श्रवणादीनामित्यर्थः. **भगवत्कृतानामि**ति, "श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयमि"तिवाक्योक्तानां त्रयाणां **भगवत्कृतानामेव साधकत्वम्.** भक्ता एतत्साधनं भगवते विज्ञापयन्तीति श्रवणम्, अयं मोचनीय इतिचिन्तनं स्मरणम्, आतिवाहिकेभ्यस्तादृशाज्ञादानं च कीर्तनमित्यर्थः.

यथा ते साक्षात्कृतस्य भगवतो नाम न गृह्णन्ति तथा भगवानपि **दूरगानेवाह्वयति.** पशवः सर्वथा गत्यन्तररहिताः स्वतो बुद्धिरहिताश्च. तदपि नामग्रहणं **प्रीत्यैव**, अन्यथान्यस्य विषयनिवारकत्वं न सम्भवति, प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्. सापि चेद् वाण्यलौकिकी न भवेत् तदाऽलौकिकं फलं न प्रयच्छेदिति ज्ञापयितुं **गोगोपालमनोज्ञये**त्युक्तं, गवां गोपालानां च मनोज्ञा भवति साक्षाद्वाणी. गोपाला गुरव इव, गावोऽधिकारिण्य इव, उभयेषां मनोज्ञता पूर्वं ततः फलानुभवात्. इमामेव हि लीलां भगवान् मुक्तौ करोति. केवलवाचा समाह्वाने स्वाधिकारो न भात इति

प्रकाशः

यथेत्यादि. **त** इति भक्ताः, **न गृह्णन्ती**ति युष्मदस्मद्भ्यामेव व्यवहारसम्भवान्न गृह्णन्ति. **तथे**ति वैधर्म्ये दृष्टान्तः. साधर्म्येपि वा, तथा चोपानीतभोजनसामग्र्यादिसहिता दूरत एव भगवन्तमाह्वयन्ति, न तु निकट आगत्य, तथा भगवानपि दूरगत एवाह्वयतीत्यर्थः. **पशु**पदसूचितमर्थमाहुः **पशव** इत्यादि, तथा चानन्यचित्ता भीरवो रसानभिज्ञाश्च सङ्गृहीताः. **प्रीत्ये**तिपदकृत्यमाहु**रन्यथे**त्यादि. **विषयो** लज्जादिर्भयं वा. अवशिष्टविशेषणकृत्यमाहुः **सापी**त्यादि. **अलौकिकी**ति गुप्ता. **गोपाला गुरव** इति शिक्षका इत्यर्थः. **पूर्वं ततः फलानुभावा**दिति– वाणीतः **फलानुभावात् पूर्व**मित्यन्वयः. पुष्टिमुक्तिप्रकारं विवृत्य मर्यादायामतिदिश**न्तीमामि**ति. अस्मिन् पक्षे स्वतो बुद्धिराहित्यज्ञानस्य स्वदत्तत्वाभिप्रायेणालौकिकत्वं च मुक्तिदानेच्छया प्रकटितत्वम्, अन्यद् यथायथं योज्यम्.

लेखः

यथा ते इति भक्ता इत्यर्थः. साक्षात्कारानन्तरं तु पादसेवनादिकमेव भवतीतिभावः. तथा चासाक्षात्कृतस्य नाम गृह्णन्तीति पर्यवसितं, **दूरगाने**वेति असाक्षात्कृतानित्यर्थः. **पशव** इति, पूर्वोत्तरकाण्डसाधनाभावोऽनेन विवृतः पशुत्वेनायोग्यत्वाद् बुद्धिविरहाच्च. **गोपाला गुरव इवे**ति, गा भगवत्समीपमानयन्तीति भगवत्प्रापकत्वाद् गुरुत्वम्. **पूर्वं तत** इति, दर्शनात् पूर्वमेव **ततो** वाणीत एव रसानुभवस्तथा च साधनदशायामेव फलानुभव इत्यर्थः – इदमेवालौकिकत्वम्. **इमामेवे**ति, अयं मां प्रापणीय इत्यातिवाहिकमाज्ञापयतीत्यर्थः; श्रवणस्मरणे तु तस्यापि पूर्वाङ्गे इत्ये**व**कारः. अत्र तु साक्षादेव मोक्षदानार्थं प्रकट इति नातिवाहिकापेक्षेति भावः. **तदवान्तरे**ति कीर्तनस्यावान्तरसाधनानि रूपध्यानादीनीत्यर्थः. अत्र तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकमपि साधनं नास्ति तथापि मुक्तिदाने हेतुमाहुः **प्रथमत एवेति** ॥१२॥

न निवर्तेतातो भिन्नभिन्नाधिकारिनिरूपणार्थं **नामभिरि**ति बहुवचनं तदवान्तरसाधनपरिग्रहार्थं च. प्रथमत एव पशवस्ततोपि दूरगास्ते चेद् भगवता स्वतो न मुच्यन्तेऽमुक्ता एव तिष्ठन्ति ॥१२॥

एवं पुरुषार्थचतुष्टयलीलामुपपाद्य दशरसप्रकारेण भगवतो लीलां वदन् प्रथमं षड्रसलीलामाह **चकोरे**ति.

चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ।
अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः ॥१३॥

चकोरा हि चन्द्रकिरणभोक्तारोऽलौकिकभोगाः, न ह्यन्येन चन्द्रकिरणा भूमौ स्थिता भोक्तुं शक्यन्ते. त एव परं भोक्तारः सूर्यकिरणा इव, अन्यथा ततः शैत्यादिकं न स्यात्. तथैव सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्ते तद्दास्यं चानुभवन्ति, तथैव लोकप्रतीतिः.

प्रकाशः

केवलेत्याद्युभयत्र योज्यं, **बहुवचनमि**ति **चे**त्येवं योज्यम्. **अवान्तरसाधनं** योगमाया. नन्वेतावत्करणे को हेतुस्तत्राहुः **प्रथममि**[१]त्यादि. पश्यतोन्वेषयत[२]श्चातोपि **दूरगा**स्तत्स्थानाज्ञातारः. **मुच्यन्त** इत्यन्तर्भावितण्यर्थः ॥१२॥

चकोरेत्यत्रान्येन न भोक्तुं शक्यन्त इत्यत्र दृष्टान्तः **सूर्यकिरणा इवे**ति. चन्द्रकिरणानां भोज्यत्वे युक्तिमाहु**रन्यथे**त्यादि, तथा च तत्स्पर्शस्य त्वचा बहिरनुभवेपि तद्द्वारा ते शरीरान्तर्न प्रविशेयुस्तदान्तः शैत्यादिकं नानुभूयेतातः कार्यबलात् तेषां भोज्यत्वं, श्रुतिश्च "तेजोशितं त्रेधा भवती"ति. चकोरेषु तु भूमिष्ठभोक्तृत्वं विशेषः. ननु पुरुषेषु भोग्यत्वं नोपपन्नं तेषां भोक्तृत्वेनैव प्रसिद्धेरित्याकाङ्क्षायां किरणदृष्टान्तेन तेषामपि तथात्वं व्युत्पादयन्ति **तथैवे**त्यादि. **अनुभवन्ती**ति स्त्रिय

लेखः

चकोरेत्यत्र चकोरभोगं दृष्टान्तेन साधयन्ति **सूर्यकिरणा इवे**ति. आप्यमण्डलजलांशाश्चन्द्रकिरणास्तद्भोक्तारः सूर्यकिरणाः, अन्यथा किरणद्वारा जलाग्रहणे पर्जन्यो न वर्षेत्, "याभिरादित्य" इतिश्रुतेः. तथा चकोरा अपि. ननु तादृशकिरणदर्शनेनास्मदादेरिव नेत्रयोस्तापो निवर्तत इत्येव वाच्यं, न तु भोक्तृत्वमित्यत आहु**रन्यथे**ति, भोगाभावे अन्तःशैत्याभावेनाङ्गारभक्षणजनिततापनिवृत्तिर्न स्यादित्यर्थः. **तथैवे**ति चन्द्रकिरणवदित्यर्थः. **स्त्रीभिर्भुज्यन्त** इति गतसाराः क्रियन्त इत्यर्थः. स्त्रीभिः पुरुषा भुज्यन्ते पुरुषाश्च दास्यमेवानुभवन्ति न तु रसमिति. ननु

---

[१] **प्रथमत**इत्यादि. [२] °श्च ततोपि.

तद्वदयं भगवान् न रसानुभवं करोतीति ज्ञापयितुं शृङ्गाररसे चकोरवद् भगवतो वाग्व्यापारो निरूप्यते; **क्रौञ्चो** वीरे, चक्रवाकः करुणायां, स हि वियुक्त**श्चक्र**पद आवर्तनेन मारणमभिप्रेतमिति **तेनाह्व** आह्वानं यस्येति तस्यावश्यं करुणा युक्तैव.

प्रकाशः

इतिशेषः. प्रकृतेऽतिदिशन्ति **तद्वदि**त्यादि. रसान्तरमाहुः **क्रौञ्चो वीर** इति. क्रौञ्चा हि काश्मीरादौ महाहिमसंहतिदेशेऽण्डानि दत्वा तानि हिमसंहतिपिहितान्यपि स्वयं देशान्तरे वर्तमाना अप्याकाशे उड्डीयमाना वाण्या सेवन्ते तेनाण्डानि जीवन्तीति तेषां वीर्यं प्रसिद्धं तद्वदत्रापि बोध्यम्. कि"ञ्चोत्साहवर्धनो वीर" इति हेमन्ते क्रौञ्चरुतमेव रसोद्बोधकत्वेन वर्ण्यत इत्यतोपि तथा. तृतीयं रसमाहु**श्चक्रवाक** इत्यादि. शोकस्य करुणास्थायित्वाच्चक्रवाके तदभावमाशङ्क्य तत्र स्थायिनं सङ्गमयन्ति **चक्रपदे**

लेखः

प्रतीयते भोक्तृत्वमित्यत आहु**स्तथैवे**ति, प्रतीतिस्तथैव. वस्तुतस्तूक्तहेतोस्तथैव क्रियन्ते परन्तु गतविवेकत्वाद् भोक्तृत्वं मन्यन्त इत्यर्थः. इदं "कामिनां दर्शयन् दैन्यमि"त्यत्र विवरिष्यते. तथा च चन्द्रकिरणस्थानीयाः पुरुषाः चकोरस्थानीयाः स्त्रिय इति पर्यवसन्नम्. भगवति वैलक्षण्यमाहु**स्तद्वदयमि**ति– चन्द्रकिरणस्थानीयाः

योजना

चकोरक्रौञ्चेत्यस्य व्याख्याने **सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्त** इति. कामशास्त्रोक्तलक्षणानां कस्मिन्नपि पुरुषेऽसम्भवात् पुरुषस्य भोक्तृत्वं भाक्तं, वस्तुतः कामिन्य एव भोक्त्र्यः. भगवति तु तच्छास्त्रोक्तलक्षणानां सर्वेषां सत्त्वात् जागरुकं भोक्तृत्वमित्याहुः **तद्वदयं भगवान् ने**त्यारभ्य **वाग्व्यापारो निरूप्यत** इत्यन्तेन. चकोरो हि परमरसिकोत्यन्तालौकिकप्रकारेण चन्द्रकिरणान् भुङ्क्ते तदेकरतश्च, तद्वद् भगवानपि दूरस्थितचन्द्रमुखीमुखचन्द्रिकां भुङ्क्ते तन्मात्रासक्तश्च. अतिदुरापनायिकाभोगस्त्वतिचातुर्येण भवतीति तादृक्चातुर्यचमत्कारसूचनाय चकोरवद् वक्तीति शृङ्गाररसोऽनेन निरूपितः. **क्रौञ्चो वीर** इति, क्रौञ्चस्य युद्धाद्युत्साहवत्त्वात् उत्साहस्य वीररसस्थायिभावत्वाद् वीररसः क्रौञ्चवद् वाग्व्यापारेणोक्तः. **चक्रवाकः करुणायामि**ति. करुणारसो दुःखिते भवति, शोकस्थायिभावकत्वात्. चक्रवाको ह्यत्यन्तं दुःखितः चक्रवाकीवियोगव्याकुलः, अतस्तत्र करुणारसः स्फुट एवेति तदेतदाहुः **स हि वियुक्त** इति. **चक्रपदेन मारणमभिप्रेतमिती**ति. **चक्रे** जलचक्रे पतितः परमकष्टं प्राप्नोति; चक्रपतितपुरुषमारणाय चक्रं बहुप्रकारेण यतते. एवं चक्रवाको विरहचक्रे पतितः

भारद्वाजोऽद्भुते, क्रमस्य नियामकत्वाद्. **भारद्वाज** इत्याख्या यस्य, स हि द्विजन्मा, तन्नामसम्बन्धख्यापनमद्भुतरसेऽनुगुणं भवति. **बर्ही** हास्ये, तस्य तथात्वं पूर्वमेव निरूपितम्. एते पञ्चविधा नात्यन्तं विरुद्धा इत्येकीकृत्य निरूपिताः. भयानकरसस्तु सर्वोपमर्दकइति पृथङ् निरूपयति– **सत्त्वानां** मध्ये **व्याघ्रसिंहयोर्भीतवच्चानुरौती**ति.

प्रकाशः

त्यादिना. चतुर्थं रसमाहु**र्भारद्वाज** इत्यादि, तत्राद्भुतस्याङ्गीकारे नियामकमाहुः **क्रमस्ये**त्यादि. **व्याघ्रसिंहयो**रितीवेत्युन्नेयमत एव **भीतवच्चे**त्यत्र **च**कार उक्तः. **अनु**पदात् स्वयं पश्चाद् व्याघ्रवद् रौति भक्तभयोपस्थितौ भक्तानां स्वरूपज्ञाने पश्चात्

लेखः

स्त्रियः, स्वयं **चकोरवत्** तद्भोक्तेति तथा **अनुरौती**त्यर्थः. यस्य यस्य स्थायिभावो यत्र यत्र प्रसिद्धः स स तत्तद्रसेऽनुक्रियते. तत्र चन्द्रविषयिणी रतिश्चकोरे प्रसिद्धा, क्रौञ्चे युद्धोत्साहः, अग्रेप्यूह्यं; तत्तदनुकरणे तत्तद्धर्मस्मृत्या स्वस्य तत्तद्रसास्वादे तत्तद्रसाविष्टा भक्ताः सेवितुं शक्ता भवन्तीत्यर्थः. चक्रवाके करुणास्थायिभावं शोकमाहुः **स ही**ति. करुणाप्यस्तीत्याहुः **चक्रे**ति– **चक्र**पदश्रवणे प्रायेण कश्चित् मारयिष्यतीतिज्ञानेन मार्योपरि करुणा चक्रवाकस्य भवतीत्यर्थः. **सत्त्वसम्बन्धि-**

योजना

परमपीडामनुभवति. तद्वद् वाग्व्यापारकरणात् स्वस्मिन् व्रजवामलोचनाविरहव्याकुलत्वं चक्रभ्रमणगतपुरुषवद् दुःखितत्वं भगवान् सूचयतीति युक्तः करुणारसः. अत एव गीतगोविन्दे उक्तं "प्रहरन् हरभ्रान्त्यानङ्ग मुधा किमु धावसी"ति "सद्वृत्तः स्तनमण्डलः सखि कथं प्राणैर्मम क्रीडती"ति च. एवं करुणारसो विप्रलम्भशृङ्गारे स्पष्ट इति शृङ्गाररससम्बन्धित्वाद् रसत्वं करुणारसस्य. यत्र तु करुणायाः शृङ्गारसम्बन्धो नास्ति तत्र करुणामात्रत्वं न तु रसत्वम्; एवमेव हास्यादीनामपि शृङ्गाररसमध्यपातित्वे रसत्वं न त्वन्यथा, शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तात्. ननु वियोगेनैतादृशी व्याकुलतास्ति; चकोरवद् दुःप्रापपदार्थभोगचातुर्यं चास्ति तर्हि भगवान् किमिति वियोगमनुभवतीत्याकाङ्क्षायां भयस्य प्रतिबन्धकत्वबोधनाय भयानकरसं निरूपयन् **व्याघ्रसिंहयोर्भीतवदनुरौति.** भयानकरसोपि शृङ्गाररसेऽनुकूलः, अन्यथा निर्भीततया प्रवृत्तौ तु सर्वत्र प्रसिद्ध्यापत्त्या रसत्वमेव भज्येत, गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इतिराद्धान्तात्. अत एव शृङ्गाररससम्बन्धित्वाद् भयानकरसस्य रसत्वम्, अन्यथा तु भयमात्रत्वमिति ॥१३॥

एवं रसाविर्भावे प्रमाणं प्रसिद्धमिति **स्मे**त्याह. भयं द्विविधं– स्वरूपनाशादभिमानादिधर्मनाशाद् वा. तत्र स्वरूपे व्याघ्रो ऽभिमानादिधर्मे सिंहः. बहुप्रकारं च भयं, प्रतीकारासमर्थानां सम्भावनायामप्यन्यथा अन्येषां चान्यथेति. तत्र **सत्त्वानि** शशादीनि प्रतीकारसम्भावनारहितानि; भये परमा काष्ठा सत्त्वसम्बन्धिन्यवस्था. रसाभिनये चेष्टापेक्षया वचनमतिसुन्दरमिति तदेव निरूपितम् ॥१३॥

बीभत्सरसलीलामाह **क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमि**ति.

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥१४॥

आर्यं बलभद्रं **स्वयं क्वचिद् विश्रमयति** विगतश्रमयुक्तं करोति **पादसंवाहनादिभिः.** पादे हि चलतः श्रमो भवति, अङ्गमर्दनं च तदुक्तकरणं च शय्या-

प्रकाशः

सिंहवत्. **एवमि**त्यनुकरणेन, **प्रसिद्धमि**ति रसशास्त्रे प्रसिद्धं; तेन विशेषतो नोच्यत इत्यर्थः. ननु व्याघ्रस्य सिंहस्य च भीतिजनकत्वाविशेषादेकेनापि भयोत्पत्तौ द्वयोः कथनस्य किं प्रयोजनमत आहुर्**भयं द्विविधमि**त्यादि. **स्वरूपनाशा**दिति स्वरूपनाशहेतुभूतम्, एवमग्रेपि. **स्वरूपे व्याघ्र** इति स्वरूपनाशहेतुभूतभयोद्दीपने व्याघ्रः, एवमग्रेपि. तथात्वं चात्र विप्रयोगाधैर्याभ्यां भक्तेषु प्रकटयत्यत एवोक्तं "सापि त्वद्विरहेण हन्त हरिणीरूपायते हा कथं कन्दर्पोपि यमायते विरचयन् शार्दूलविक्रीडितं", तथा च दशाविशेषे तद्वदपि करोतीत्यर्थः. तदेतदाहुर्**बहुप्रकारमि**त्यादिना **निरूपितमि**त्यन्तेन. **एवं वृन्दावन** इतिश्लोकेऽनुभावोद्दीपनविभावव्यभिचारिणां निरूपणस्योक्तत्वादत्र चकोरादिकथनेन षण्णां रसानामनुभावा अनुरावरूप उद्दीपनविभावो यथासम्भवं व्यभिचारिणश्च निरूपिता बोध्याः– एवमत्र षड् रसा निरूपिताः॥१३॥

क्वचित् क्रीडेत्यत्र **बीभत्सरसलीलामि**ति तद्रसानुभाविकां तद्रसोद्दीपिकां च लीलाम्. कथमत्र बीभत्सरसः प्रत्येतुं योग्य इत्यत आहुर्**हीनादि**त्यारभ्य **भक्ताना-**

लेखः

न्यवस्थेति शशादिसम्बन्धिनीत्यर्थः. अत्र **परन्त्व**तिशेषः– मौनेन स्थितिरूपा शशाद्यवस्था **भये परमा काष्ठा** भवति **परन्तु** वचनस्यातिसुन्दरत्वात् **तदेव निरूपितमि**त्यर्थः ॥१३॥

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यत्र **विगतश्रमे**ति. **युक्तमि**ति भावे क्तः, योग इत्यर्थः, तथा च **विगतं श्रमयुक्तं** श्रमयोगो यस्मात् तादृशं करोतीत्यर्थः. अङ्गान्तरं विहाय पादयोरेव संवाहे हेतुमाहुः **पादे ही**ति. **बीभत्सो भवती**ति द्रष्टुर्जुगुप्साजनको

स्तरणादिकं **चा**दिशब्देनोच्यते. हीनाद्धीनभावः उत्तमस्य बीभत्सो भवति. भक्तिमतामेव स बीभत्स इतिप्रतीतेरत्यन्तानुचितप्रतीतिस्तेषामेवेति. यथा "स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ती"ति न पिशाचानां तादृशदर्शनेन बीभत्सरस उदेति किन्त्वस्मदादीनामेव तथेदमपि भक्तानाम्. एते हि सर्वे रसा भगवद्भजने

प्रकाशः

मित्यन्तम्. अत्र बीभत्सरसनिरूपणं परोक्षवादरूपं, वस्तुतस्त्वत्र भगवत एवाविष्टत्वान्न दोषरूपं किन्त्वापातत एव तथेति. एवं सप्तरसान् निरूप्य तदभिनयप्रयोजनमाहु**रेते ही**त्यादि **प्राप्नुवन्ती**त्यन्तम्. **तत्तदधिकारनिरूपका** इति दश-

योजना

क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तमित्यस्याभासे **बीभत्सरसलीलामाहे**ति– अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धं लब्ध्वैव रसतां प्राप्नोति, अन्यथा तु बीभत्सत्वमेव न तु रसत्वं, "स्युः शृङ्गारसंवलिता रसा हास्यादयो यदी"तिवाक्यात्. शृङ्गाररसे एतस्याप्यपेक्षास्ति, अन्यथा उभयोः आलम्बनविभावयोः परस्परात्यन्ताकाङ्क्षावशवर्तित्वात् मानखण्डितादिभावा नोद्भवेयुः. बीभत्सरसस्तु जुगुप्सास्थायिभावकत्वात् मनसः परावृत्तिमात्रजन्मा स्वल्पाया अपि स्नेहन्यूनताया दर्शनाद् भ्रमात्मकज्ञानाद् वा अयोग्यतादिदर्शनेन वा परमानन्दाकाङ्क्षां निवारयन् मानखण्डितादिभावसम्पादको भवति. अत एव शृङ्गाररसं पोषयन् रसत्वमाप्नोति. अत एव "वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकमि"त्यादौ नायकेऽधमत्वोक्तिर्युज्यते, दूतिकासम्भोगवज्ज्ञानान्नायकतो मनसः परावृत्त्या बीभत्सरसोदयात्. श्रीगीतगोविन्देपि "याहि माधव याहि केशव मा वद कैतववादमि"त्यत्र "याही"त्युक्त्या बीभत्सरसोदयो दृश्यते. प्रकृते बलदेवपादसंवाहनं निरीक्ष्य किमयं भगवान् शृङ्गाररमणोद्योगं विहाय वृथाव्यापारं करोतीति सुदृशां मनसि बीभत्सरस उदेति. एतावदेव बीभत्सरसत्वं, यत्र तु कुत्सितपदार्थसत्तानिरूपणं तत्र बीभत्सरसो नास्तीतिज्ञेयं, रसस्वरूपाभावात्. रसत्वं ह्युत्तमजनोपादेयत्वं सुखजनकत्वं च. कुत्सितवस्तुनिरूपणे तूत्तमानां वमनाद्युत्पत्त्या दुःखजनकत्वेन सुखसंसर्गाभावात् न रसत्वम्, अत एव नोपादेयत्वम् अपि तु हेयत्वमेवेति तत्र रसतानिरूपणमाग्रहमात्रम्, अत एव श्रीमदाचार्यैर्भगवत्ययं रसो निरूपितः. एवं सति वीरकरुणाहास्यादिरसाः शृङ्गाररसस्यावयवास्तैः पुष्टः शृङ्गाररसो भवतीति "रसो वै स" इत्युपनिषत्सिद्धः शृङ्गाररसात्मा श्रीवृन्दावनविधुः श्रीकृष्णो निरूपित इति भाग्यभाजो विभावयन्तु ॥१४॥

तत्तदधिकारनिरूपकाः, सर्वरसाविष्टा अपि भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति. पादसंवाहनादिकरणे हेतुः **क्रीडापरिश्रान्तमि**ति. **क्रीडा** मल्लक्रीडा; भगवतैव सह बलिष्ठेन सह कृतश्रमो बलाधिक्यजनको भवति परं प्रथमं पीडां प्राप्नोति. तत्प्रतीकारं नान्यो जानाति, भगवद्बलेनैवातिमात्रं व्यापृतत्वात्, तदाह **परितः श्रान्तमि**ति. अतिविह्वलतासूचनार्थं **गोपस्यैव** कस्यचि**दुत्सङ्ग उपबर्हणं** यस्य. अत एव विकलत्वात् स्वामिकृतमुपचारमपि सहते. **आर्य**त्वादेव भगवतस्तथाकरणम् ॥१४॥

रौद्ररसमाह **नृत्यत** इति.

नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यतो मिथः ।
गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥१५॥

मल्लानामिव हि वीररसो रौद्रः. स चान्यत्रोत्पन्नोपि भगवतोपनिबध्यत इति भगवतो रसयुक्तलीला–

कायवाङ्मनोभिर्यद्युक्तमयुक्तं पीडकं च तत् ॥(८)॥
चतुर्विधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा॥

प्रकाशः

श्लोकोक्तानां पशुपक्ष्यादीनां तत्तद्रसालम्बनानां चेत्यर्थः. **सर्वरसाविष्टा** इति तत्तद्रसाविष्टाः, तथा चैतज्ज्ञापनार्थं तत्तदभिनय इत्यर्थः ॥१४॥

नृत्यत इत्यत्र **रौद्ररसमाहे**ति गोपैरुद्दीपितमनुभावितं च तमाहेत्यर्थः. ननु

लेखः

भवतीत्यर्थः. अग्रे **अत एव विकलत्वादि**ति, अधुना क्रियामात्रव्यापृतत्वेन स्वामित्वस्फूर्तिरूपज्ञानकलारहितत्वादित्यर्थः ॥१४॥

उपनिबध्यत इति, तेषूत्पन्नो रसो भगवतानूद्यत इत्यर्थः.

योजना

नृत्यतो गायत इत्यस्याभासे **रौद्ररसमाहे**ति, अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धी. प्रकृतेपि मल्लयुद्धदर्शनासक्तिं दृष्ट्वा वृथाकालक्षेपकर्तरि नन्दनन्दने शृङ्गाररससम्बन्धिक्रोधजन्मा रौद्ररस उदेति वधूनां, अत एव रसत्वम्, अयं रौद्ररसः क्रोधस्थायिभावको मानिनीनां विप्रलब्धानां च बहुधा बोभवीति ॥१५॥

कारिकार्थः

नृत्यतो गायतः क्वापीत्यत्र **कायवाङ्मनोभिरि**ति. **नृत्यतो गायतो वल्गत** इतिपदत्रयेणोक्तं कायवाङ्मनोभिर्यद्युद्धं **युक्तं** पीडारहितं, **युध्यत** इतिपदोक्तं **पीडकम्** अत एव **अयुक्तं** युद्धम्– एवं **चतुर्विधापि मल्ललीला हरिणा मुदा स्तूयते** (८$\frac{१}{२}$).

साधारणत्वादत्रोभयोर्ग्रहणम्, उभावुभौ मल्लयुद्धे, अन्यत्र बहवः. तत्र कायिकं नृत्यं गानं वाचिकंवल्गनं मानसं, स्वप्रौढिख्यापकत्वात्. **मिथश्च युध्यत** इति पीडारूपक्रिया कायिकीव. कांश्चि**द्धसन्तौ** कांश्चित् **प्रशशंसतुः. गृहीतहस्तावि**ति न पक्षपातेन कस्यचित् क्रियाभिनिवेशः केनचित् कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः. सापि लीला लोकप्रसिद्धा मुख्यत्वख्यापिका. **हसन्तावि**ति प्रथमं सन्तोषः पश्चात् **प्रशंशसतु**रिति वा ॥१५॥

शान्तरसलीलामाह **क्वचित् पल्लवतल्पेष्वि**ति.

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥१६॥

शयानो हि शान्त इव भवति. **नियुद्धं** बाहुयुद्धं तत्र यः **श्रमः** स **कर्षितो** येन, जितश्रम इत्यर्थः. शान्तरसः प्रत्येकपर्यवसायीति निरूपयन् भगवाननेकरूपः सर्वत्र

प्रकाशः

भगवान् मल्ललीलां स्वयं कुतो न कृतवानुपनिबन्धनमात्रमेव कुतः कृतवानित्यत्र हेतुमाहुः **कायवागि**त्यादिकारिकया. **कायवाङ्मनोभिर्य**न्नर्तनादिकं **तत्** सर्वं **युक्तमयुक्तं पीडकं च** भ्रमेणेत्युत्कृष्टत्वाभावात् **तत्** सा लीला **स्तूयत** एव न तु क्रियत इत्यर्थः. युक्तापीडिके तु मुख्यभक्तैः सह क्रियेत एवेति भावः. **तदि**ति नपुंसकप्रयोगेणैतस्याः फलपर्यवसायित्वं द्योत्यते ॥१५॥

क्वचित् पल्लवेत्यत्र **शान्तरसलीलामि**ति शान्तरसानुभाविकां लीलाम्. **वृक्ष-**

लेखः

क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यत्र **शान्त इवे**ति, निर्वेदः प्रयत्नशैथिल्यं तेन युक्त इवेत्यर्थः. यद्यप्यष्टावेव रसा मुख्यास्तथापि शृङ्गारव्यभिचारित्वेन निर्वेदस्य स्वीकृतत्वात् तस्यैव च शान्तस्थायिभावत्वात् शान्तरसोप्युक्तो जात इति **इव भवती**त्युक्तम्. मूले शृङ्गाराङ्गत्वेनायं रस उक्तस्तत्तात्पर्यमिदमुक्तमिति ज्ञेयम्. **प्रत्येकपर्य-**

योजना

क्वचित् पल्लवतल्पेष्वित्यस्याभासे **शान्तरसलीलामाहे**ति, अयमपि शृङ्गाररससम्बन्धीति भवत्येतस्य रसत्वम्. शृङ्गाररससम्बन्धस्तु सुबोधिन्यां परोक्षवादेनोक्तः टिप्पण्यां तु स्फुट एव. एवं नवरसाः शृङ्गाररससम्बन्धिनो भूत्वा रसतां लभन्ते. भक्तिरसस्तु शृङ्गाररसाङ्गभूतः कुत्रचित् स्वतन्त्रोपीति नास्मिन्नङ्गभावेनैव रसत्वमित्याग्रहो विदुषाम्. "शृङ्गार एव सर्वे रसा" इत्यत्र तु नवानामेवाङ्गत्वोक्तिः, भक्तिरसस्य तत्राप्रसिद्धत्वात् ॥१६॥

वृक्षमूलेषु सर्वैरेव गोपालैरहमहमिकतयास्तृता बहव एव तल्पास्तेषां सर्वेषामेव युगपत्सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव **तल्पेषु** भगवान् शयानो जातः, तदाह बहुवचनम्. ननु तथापि भगवान् किमिति तत्र शयनं कृतवानित्याह **वृक्षमूलाश्रय** इति, वृक्षस्य मूलमेवाश्रयत्वेन येषां ते वृक्षमूलाः परमहंसास्तानाश्रयतेऽतस्तत्र तत्रातीन्द्रियत्वेन स्थितान् परमर्षीन् कृतार्थीकर्तुं तथा करोतीत्यर्थः. लोकानामेव प्रतीतिस्तल्पे शेत

टिप्पणी

वृक्षमूलाश्रय इत्यत्र, **वृक्षस्य मूलमेवे**त्यारभ्या**तस्तेषु शेत** इत्यन्तम्. गोपोत्सङ्गोपबर्हणस्य तल्पेषु शयानस्य वृक्षमूलाश्रयत्वमनुपपन्नमित्येवं व्याख्या. न च तत्र तल्पस्थित्या तथात्वमुक्तमिति वाच्यं, भगवद्विशेषणत्वानुपपत्तेः. एवं सति विवक्षितार्थस्यातिगोप्यत्वेन परोक्षवादेनैवोक्तिरियं श्रीशुकस्येत्याचार्यैरपि तथैवोच्यते. तथा हि– इमानि वृक्षमूलानि स्वप्रियाभ्यः सङ्केतितानि, गोपाश्चान्तरङ्गा प्राप्तसख्या इत्युभयानुगुणकार्यकर्तारोऽत उक्तमूलेष्वेव तद्रचनां कृतवन्तः. तथा च सङ्केतानन्तरं नायिकान्तःकरणानि तत्रैव सन्तीति तेषु तथात्वेनोक्तिः. गुप्ततया स्थितिरि**त्यतीन्द्रिय**त्वम्, सर्वपरित्यागेन मानसोत्कटभावप्राधान्येन च **परमहंस**त्वम्. रहःसन्देशवाक्यानामतिगोप्यानामुक्त्या **चर्षि**त्वम्, अत एव **परम**त्वमुक्तम्. प्रिययोगवत्त्वेन **योगि**त्वम्. शयन उपबर्हणस्य प्राथमिकत्वेन तथैव वक्तुमुचितत्वेपि यदन्ते कथनं तेन रतिश्रान्त्या पश्चाद्यच्छयनं तदत्रोच्यत इति ज्ञायते, अन्यथोपबर्हणस्य तल्पान्तर्गतत्वेन तेनैव तत्प्राप्तेर्गोपोत्संगो नोच्येत. एवं सति तदुक्त्या तल्पान्तर्गततदभावः सूचितो भवति. स च विविधबन्धैरेव भवतीति तदन्ते श्रमापनोद-

लेखः

वसायीति, समुदाये निर्वेदावधिरमणासम्भवात् पूर्वोक्तरसवत् समुदाये पर्यवसन्नो न भव**तीत्यर्थः निरूपयन्. बहुवचनं तत्** तस्मा**दाहे**त्यन्वयः. **भगवानि**ति, अनेकरूपत्वे हेतुत्वार्थमुक्तम् अग्रे स्वरूपकथनार्थमुक्तमिति विभागः, तथा च भगवत्त्वा**दनेकरूपः** सन् **भगवां**स्तत्र **शयानो जात** इत्यन्वयः. **ननु तथापी**ति, तल्पेषु स्थातव्यमेव शयनं किमर्थमित्यर्थः. **तानाश्रयत** इति तेषु पदकमलं स्थापयतीत्यर्थः. **कृतार्थीकर्तुमि**ति, स्मरयुद्धानन्तरमपि तल्पे शयानो भवतु तदा वयं चरणसेवां कुर्म इति तासां मनोरथं पूरयितुमित्यर्थः. **लोकानामेवे**ति, श्रान्तत्वादतिकोमल**तल्पे शेत इत्य**न्तरङ्गगोपानां **प्रतीति**र्भगवांस्तु योगिमनोरथपूरणार्थमेव शेते न तु श्रान्त इत्यर्थः. **स्वधर्मख्यापकमि**ति, स्वकारणजातीयैः स्वावयवैः सेवा स्वधर्मः. मुखेनोपदेशेन सेवा ब्राह्मणधर्मः बाहुभ्यां रक्षया

इति; वस्तुतस्तानि योगिनामन्तःकरणान्यतस्तेषु शेते. **गोपानामुत्सङ्ग एवोपबर्हणं** यस्येति तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमृषिष्वप्राधान्यस्थापनमिति ज्ञापयति. ते हि वैश्या अतः स्वधर्मख्यापक**मुत्सङ्ग**पदम्. **उपबर्हणं** शिरस उपधानम् ॥१६॥

भक्तिरसमाह **पादसंवाहनं चक्रु**रिति.

पादसंवाहनं चक्रुः केचिदस्य महात्मनः ।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥१७॥

केचिदिति दुर्लभाः. **अस्ये**ति शान्तरसाभिनयकर्तुः सर्वरसास्वादकस्य वा. **महात्मन** इति ततोप्यधिकस्य रसान्तरमुत्पादयितुं समर्थस्य. **पादसंवाहनमत्र**

टिप्पणी

नार्थमन्तरङ्गगोपास्तथा कृतवन्तः. तदा तेषामेव प्राधान्यम्, न नायिकानाम्. इदमेवाभिसन्धाय **तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमि**त्याद्युक्तमाचार्यैः परोक्षवाद इति. स्मरयुद्धं **नियुद्ध**पदेनोक्तवान्, अन्यथा पूर्वोक्तरीत्या शान्तरसो नोक्तः स्यात् ॥१६॥

प्रकाशः

स्य मूलमित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्गोपोत्सङ्गे**त्यादि **स्यादि**त्यन्तम्. सुबोधिन्यां ननूत्सङ्गे कुतः प्राधान्यस्थापनमत आहु**स्ते हि वैश्या** इत्यादि– **ते हि वैश्या** भगवदूरुतो जाता **अतः स्वस्य** यो **धर्म** ऊरुजत्वं त**त्स्थापकमुत्सङ्गपदमि**त्यर्थः. शेषं स्फुटम् ॥१६॥

पादसंवाहनमित्यत्र **भक्तिरसमि**ति गोपानां भक्तिरसम्. **ततोप्यधिकस्ये**ति नवरसास्वादकापेक्षयाप्यधिकरसास्वादकस्य. कथं तदित्यत आहू **रसान्तरमि**त्यादि– नवभ्यो रसेभ्योन्यो रसो **रसान्तरं** भक्तिरसमन्य**त्रोत्पादयितुं समर्थस्य. दास्यम**त्र सख्यानन्तरभावि ज्ञेयम् ॥१७॥

लेखः

सेवा क्षत्रियधर्मः तथोरुभ्यां सेवैतेषां स्वधर्म इति तत्ख्यापकमित्यर्थः ॥१६॥

पादसंवाहनमित्यत्र **अत्र दास्यमि**ति. पूर्वश्लोकोक्तं चरणसंवाहनं योगिकृत-

योजना

प्रकृते तु **पादसंवाहनं चक्रु**रित्यनेनोक्तस्य पादसंवाहनरूपभजनस्य दर्शनात् व्रजरमणीनामपि भक्तिरस उदेति– अयं भगवान् न लौकिकनायक इत्यस्माभिरप्येतस्य भजनमेव कार्यं भक्तिलभ्यत्वात् पुरुषोत्तमस्येति. एवमत्र भक्तिरसोपि शृङ्गाररसाङ्गभूत एव. मातृचरणानां तु स्वतन्त्र एव पुत्रभावरूपो भक्तिरसः, "ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दन" इतिवाक्यात् ॥१७॥

दास्यम्; अन्ये पुनः कर्ममार्गानुसारेणापि भक्तिं कुर्वाणा **हतपाप्मानो** निष्कल्मषाः. कर्मिणां पापसम्भावना वर्तत इति तन्निराकरणार्थमुक्तं **हतपाप्मान** इति. ते ह्यासन्योपासकाः पूर्वं तेनैव तथाकृताः, अतो वायोः साम्यात् तदभिव्यक्तिहेतुभि**र्व्यजनैः सम्यगवीजयन्**. एवमुभयविधा अपि भगवत्सेवालक्षणं भक्तिरसं भगवत्सन्निधानाल्लभन्त इति भक्तिरससहिता भगवत एव लीला ॥१७॥

एवं रूपप्रपञ्चानुसारेण लीलामुक्त्वा नामप्रपञ्चानुसारेणापि तां लीलामा**हान्य** इति.

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥१८॥

भगवतो**ऽनुरूपाणि** योग्यानि न त्वननुरूपाणि. निरोधार्थं केवलं कृतानि **मनोज्ञानि** मनोहराणि भगवतो भक्तानां च. यद् भगवता गोप्यं तत्प्राकट्यं भगवतोऽमनोहरं भवति, भक्तानां तु भक्तिमार्गविरुद्धम्. **महात्मन** इति, भगवति सर्वं

टिप्पणी

अन्ये तदनुरूपाणीत्यत्र **भगवति सर्वं सम्भवती**ति. भक्तिमार्गे विरोधलीलाया अभावात्तत्कृतो मनोज्ञत्वपरिहारोनुपपन्न इत्यत आहुः **महात्मन** इत्यस्य तात्पर्यं **भगवती**त्यादिना. यथा रोदनं यथा वाग्रे सर्वज्ञत्वेन जानन्नपि भक्तपरीक्षार्थमसन्तमपि भक्तदुःखहेतुं कालीयह्रदे प्रदर्शितवान् तथाविधा लीला न गीतेत्यर्थः ॥१८॥

लेखः

त्वादात्मनिवेदनरूपम्, अत्रोक्तं गोपकृतत्वाद् योगिषु गतेषु गोपैः कृतं यद् दास्यं तादृशदास्यरूपम्. न त्विदं द्वयमपि पादसेवनभक्तिरूपं, तथा सत्यङ्गान्तरमर्दनादिकं न प्राप्येत. अत एव [1]'लक्ष्मीकृतजानुसंलालने 'करपल्लवरोचिषे'तिपदे तस्याः सभयत्वमेव व्याख्यातम्. **एवमुभयविधा** इति– हरिसेवयैव देहादीनां ब्रह्मभावं सम्पाद्य सायुज्यं प्राप्ता आसन्यस्य सेवया इन्द्रियाणां देवतात्वं सम्पाद्य हरिसेवया [2](ब्रह्मभावरूपं) सायुज्यं प्राप्ताश्चेत्यर्थः ॥१७॥

अन्य इत्यस्याभासे **तां लीलामाहे**ति भक्तिरसलीलामित्यर्थः. **अन्य** इत्यत्र **भक्तानां त्वि**ति, भक्तानां भक्तिमार्गविरुद्धं चरित्रममनोहरमित्यर्थः. तथा च **यत्प्राकट्यं** भगवतोनभीष्टं **तदन्तरङ्ग**चरित्रं भगवतोऽमनोहरं भक्तानाममनोहरं रोदनादिचरित्रं च न गीतमित्यर्थः. **अनुरूपाणी**त्यनेन बालभावाननुरूपपूतनामार-

---

[1] भा. ३।२८।२३. [2] इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

सम्भवति, अतो भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवान् कीर्तनीय इतिज्ञापनार्थं **महात्मन** इत्युक्तम्. **गानं** रागानुसारेण भगवद्गुणोपनिबन्धयुक्तानां कीर्तनम्. **स्मे**ति प्रसिद्धिः प्रमाणम्. **महाराजे**तिसम्बोधनं राजलीलात्वज्ञापनाय. तेषामपि प्रेमोद्गमो भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्च जात इति सर्वलीलान्ते तेषां प्रेमोच्यते **स्नेहक्लिन्नधियः शनैरि**ति, स्नेहेन क्लिन्ना धीर्येषाम्. आर्द्रवाससा स्पृष्टं सर्वमार्द्रमिव भवतीति ज्ञापयितुं तेषां गानमपि तथा जातमित्याह **शनैरि**ति. एतदन्तैव भगवल्लीला ॥१८॥

अतः परं जीवा सायुज्यमेव प्राप्स्यन्तीति कैः सह लीला कर्तव्या स्यादत उपसंहर**त्येवमि**ति.

एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।
रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥१९॥

एता एव दशविधलीला यत्र क्वचिद् भगवत उच्यन्ते. अग्रे भगवतो राजसीं सात्त्विकीं च लीलां वक्ष्यन् तामसीयं गोकुले **ग्राम्यैः** सह कृतेत्याह. ननु ज्ञानरूपे

प्रकाशः

अन्य इत्यत्र **भगवति सर्वं सम्भवती**त्येतस्यार्थं टिप्पण्यामाहु**र्भक्तिमार्गे**त्यादि. सुबोधिन्या**मभीष्टगुणा**दित्यभीष्टगुणप्राप्तेरित्यर्थः. **एतदन्तैवे**ति स्नेहान्तैव. **क्वचित् पल्लवे**त्यादिचतुर्षु पुष्टिप्रवाहमर्यादायां "पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञा" इतिकारिकोक्ताः पुष्टिमार्गीयाश्चतुर्विधा ज्ञातव्याः ॥१८॥

एवमित्यत्राभासे**ऽतःपरमि**ति लीलाजन्यस्नेहोत्तरं पुनर्लीलाकरणे.

लेखः

णादिचरित्रव्युदासो ज्ञेयः. **भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्चे**ति रूपलीलातो नामलीलातश्च प्रेमोद्गमः **स्नेहक्लिन्नधियः शनैरि**तिपदद्वयेनोक्त इत्यर्थः. गानस्य शनैष्ट्वे हेतुमाहुः **आर्द्रवाससे**ति, इति दृष्टान्तेन क्लिन्नधीकृतगानस्यापि क्लेदात् शनैष्ट्वमित्यर्थः ॥१८॥

सायुज्यमिति नित्यलीलास्थितिमित्यर्थः. **कैः सहे**ति नित्यलीलास्थितावेतेषां तु निवर्तनीयदेहाद्यध्यासाभावाद् धेनुकवधादिलीला कैः सह स्यादित्यर्थः.

एवमित्यत्र **तामसी**ति, यत्र भगवानपि स्वस्वरूपं धर्मांश्च विस्मृत्य रन्तुं प्रवृत्तस्तादृशीत्यर्थः. **ज्ञानस्ये**ति तद्धर्मरूपस्येति शेषः, तमो विरुणद्धि तादृशत्वात्

योजना

एवं **निगूढात्मगतिरि**त्यस्य व्याख्याने **एता एव लीला यत्र क्वचिदि**ति. एतासु दशविधलीलास्वेव सर्वशृङ्गाररससम्बन्धिलीलानामन्तर्भाव इति हार्दम्.

भगवति कथमियं लीला सम्भवति, ज्ञानस्य तमोविरोधित्वात्, तत्राह **निगूढात्मगतिरि**ति, नितरां गूढा आत्मनो गतिर्ज्ञानलीला यस्य. **स्वमायये**त्युभयत्र सम्बध्यते, स्वाधीनमायया **गोपात्मजत्वम**पि **चरितैः** कृत्वा **विडम्बयत्य**नुकरोत्युपहसति वा. न हि गोपा एतादृशा भवन्ति, अतो महानल्पस्य नाम स्वस्मिन् स्थापयंस्तानुपहसत्येव. चरितान्यलौकिकानि, विडम्बनं चालौकिकचरित्रैर्न भवतीति माया तेषु सहकारिणी क्रियते. बहूनामेव चरित्राणां बहुधा प्रदर्शितानां विडम्बनं सिध्यति, अतः स्वरूपं गोपयन् गोपानुकरणं चोपहसन् **रेमे.** लीलादावुक्ताया लक्ष्म्या उपसंहारे विनियोगमाह **रमालालितपादपल्लव** इति. क्रीडान्ते पादसंवाहनं पतिव्रताया धर्मः, अन्यथा समतया गता भक्तिर्न पुनरागच्छेत्. अतः प्रत्यापत्त्यर्थमन्तेऽवश्यं पादसंवाहनं कर्तव्यम्. एतादृशोपि **ग्राम्यैः समं** ग्राम्यरसानुभवार्थं **ग्राम्यवदेव रेमे**, अन्यथा विजातीये रसो नोत्पद्येत. **ईशचेष्टित** इति भगवतोप्यन्ते प्रत्यापत्तिः.

टिप्पणी

एवं निगूढात्मगतिरित्यत्र स्वकार्याकरणमेवात्र निगूढत्वम्. तेन तद्विपरीतकार्यसम्भवोपि. अत एव पूर्णशृङ्गाररसात्मत्वं संगच्छत इति दिक् ॥१९॥

प्रकाशः

इत्याहेतीति हेतोः प्रकारभेदोपसंहार**माहे**त्यर्थः. नितरां गूढेति **निगूढ**पदतात्पर्यं टिप्पण्यामाहुः **स्वकार्याकरणमि**त्यादि. सुबोधिन्यां **सहकारिणी क्रियत** इति, तथा चालौकिकेष्वेव सा तथा प्रदर्शयतीति भावः ॥१९॥

लेखः

तस्येत्यर्थः. **ज्ञानलीले**ति धर्मरूपं ज्ञानमित्यर्थः. टिप्पण्यां **स्वकार्ये**ति, **स्वस्य** धर्मरूपज्ञानस्य **कार्यं** तमसो विरोधः कार्यप्रतिबन्धस्त**दकरणमि**त्यर्थः. **तेने**ति प्रतिबन्धाभावेन हेतुना **तद्विपरीतस्य** तमसः **कार्यसम्भव** इत्यर्थः. सुबोधिन्यां **चरितानी**ति, गवाह्वानादि**चरितान्यलौकिकानि** तेषु मोक्षदानरूपाणि. तथात्वज्ञानं मायया प्रतिबध्यते इति गोपात्मजत्वादेव करोतीत्येव ज्ञानं भवतीत्यर्थः. **चरितैरि**ति बहुवचनस्यार्थमाहुः **बहूनामेवे**ति ॥१९॥

योजना

रमालालितपादपल्लव इत्यत्र **समतया गते**ति. रमणे हि समत्वमपेक्षितं, तुल्यतायां तु न भक्तिरसोऽतो रमणसमये तुल्यतां कृत्वापि पुनर्भक्तिलाभार्थं श्रीलक्ष्मीः पादसंवाहनं करोति स्मेत्यर्थः ॥१९॥

ईशस्येव चेष्टितं यस्येति "लोकवत् तु लीलाकैवल्यमि"तिन्याय उपदर्शितः– ईश्वरा अप्याखेटकादिरूपां व्याधवल्लीलां कुर्वन्ति तथैतदपि भगवता कृतमिति ॥१९॥

एवं गोपानां संस्कारार्थं लीलां प्रदर्श्य तेषां दोषनिराकरणार्थं धेनुकवधलीलां प्रस्तावयति **श्रीदामा नामे**ति विंशत्या.

श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।
सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥२०॥

श्रीदाम यस्य, लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चित् तद्भ्रातेव. सोपि **गोपालो** नन्दवंशोद्भवो **रामकेशवयोः सखा** साधारणः सख्यपर्यन्तमागतः स्त्रीसम्बन्धी लीलासम्बन्धी भक्तिसम्बन्धी च. तादृशानन्यानपि गणयति **सुबले**ति. **स्तोको** भिन्नः, **कृष्णो** भिन्नः, **स्तोककृष्ण**श्चापरः. सुबलो बलभद्रानुसारी स्तोककृष्णो भगवदनुसारी. **सुबलस्तोककृष्णावेवाद्यौ** येषां ते सर्वे सम्भूय **प्रेम्णा** स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रार्थयन्ति ॥२०॥

तदाहुः.

राम राम महासत्त्व कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।

प्रकाशः

श्रीदामेत्यत्राभासे **संस्कारार्थमि**त्यलौकिकभावसिद्ध्यर्थम् ॥२०॥

लेखः

श्रीदामेत्यस्याभासे **संस्कारार्थमि**ति नित्यलीलायोग्यतार्थमित्यर्थः. **दोषनिराकरणार्थमि**ति तनुनवत्वसिद्ध्यर्थमित्यर्थः. **श्रीदाम यस्ये**ति सा सूत्रं यस्य; तत्सन्देशादिद्वारा सेवाकर्तेत्यर्थः ॥२०॥

तदाहुरिति, **तत्** तस्मात् प्रार्थनार्थ**माहुः** प्रथमश्लोकेन वनस्वरूपमिति शेषः ॥२१॥

योजना

श्रीदामा नामेत्यस्य विवृतौ **लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चिद् तद्भ्रातेवे**ति. इह **लक्ष्मी**पदेन मुख्यस्वामिनी श्रीवृषभानुनन्दिनी ग्राह्या, "वैष्णवास्तां लक्ष्मीं परां राधां प्रचक्षते" इतिब्रह्मवैवर्ते 'लक्ष्मी'पदवाच्यतोक्तेः. तस्याः श्रीदामा भ्राता भवत्येवेति स्फुटं ब्रह्मवैवर्तादौ प्रसिद्धिश्च. **भ्रातेवे**त्यत्र **इव**पदोपादानं तु श्रीस्वामिन्या भगवद्रूपत्वादयोनिजनुस्त्वख्यापनार्थम्. **सोपि गोपालः नन्दवंशोद्भव** इति, श्रीनन्दस्य सम्बन्धी यो वंशः यदुवंशः तत्रोद्भवो यस्येत्यर्थः, पुराणे श्रीनन्दस्य श्रीवृषभानोश्च यदुवंशोद्भवत्वकथनात् ॥२०॥

इतोविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥२१॥

सुबलः प्रथमं निरूपित इति **रामरामे**ति सम्बोधनं प्रथमं, कायिकश्चायं दोषस्तेनैव दूरीकर्तव्यः. **महासत्त्वे**ति तस्य स्तुतिः प्रकृतोपयोगिनी, मल्लयुद्धादिना च महाबलत्वं ज्ञातं, भगवतस्तु तद्रूपं माहात्म्यजनकं न भवतीति. धेनुकवधस्यावश्यकत्वाय **दुष्टनिबर्हणे**तिस्तुतिः. **इतः** क्रीडास्थानाद**विदूर** एव निकट एव **सुमहद**स्मादपि महत् **तालालिभि**स्तालपङ्क्तिभिर्व्याप्तमस्ति ॥२१॥

ततः किमत आह **फलानी**ति.

फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।
सन्ति किन्त्ववरुद्धानि धेनुकेन दुरात्मना ॥२२॥

पातनप्रयासोपि नास्ति; **पतितानि सन्ति.** चिरपतितानां तथारसो न भवतीति **पतन्ति चे**त्युक्तम्. न च तानि पतितानि केनचित् नीयन्ते **किन्तु सन्त्ये**व, तत्र हेतु**र्धेनुकेनावरुद्धानि.** तर्हि प्रार्थनायां दास्यतीत्याशङ्क्याहु**र्दुरात्मने**ति, स हि दुष्टः प्रार्थितोपि न प्रयच्छति ॥२२॥

किञ्च न तं कोपि प्रार्थयत इत्याह **सोतिवीर्य** इति.

सोतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खररूपधृक् ।
आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥२३॥

अतिवीर्यत्वात् न कमपि गणयति, हीनभावाश्रये तु भक्षयत्येव यतोय**मसुरः** तर्ह्यस्माकमप्यशक्य इतिशङ्कां वारयितुं पुनर्नाम गृह्णन्ति **राम हे कृष्णे**ति. स कथं परिज्ञातव्य इत्याशङ्क्याहुः **खररूपधृगि**ति. न चैकः सः बहवश्च भवन्तः अतः सम्भूय मारणीय इतिशङ्कां वारयन्ति **आत्मतुल्यबलै**रिति. बहूनां तादृशबलवत्त्वे कुलमेव हेतुरिति ज्ञापयितुमाहु**र्ज्ञातिभि**रिति. **अन्यै**रपि **बहुभिर्वृतः**, तेप्यन्ये सङ्घशो बहव एव सजातीयाः ॥२३॥

एवं तस्य वीर्यं प्रशस्तं यदर्थं तदाह **तस्मादि**ति.

तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥२४॥

प्रकाशः

राम रामेत्यत्र प्रथमरामसम्बोधने हेतुमाहुः **कायिकश्चे**त्यादि, अयमाध्यात्मिकः कायिकदोषो बलदेवेनैव दूरीकर्तव्य इतिभगवदिच्छाज्ञानात् तथेत्यर्थः. **तद्रूपमि**ति भावप्रधानः ॥२१॥

कृतो नर एवाहारो येन, स हि मनुष्यानेव विशेषतो भक्षयत्यत एव **तस्माद् भीतैर्नृभिर्न सेव्यते** तद् वनम्. तर्ह्यस्माभिरपि न गन्तव्यमित्याशङ्क्याहु**रमित्रहन्नि**ति, हे कृष्ण भवानमित्रहन्ता सोप्यमित्र इति तद्धननं तव शक्यं कर्तव्यं च. अयं धर्मो भगवन्निष्ठो जागरुक एतेषां हृदि स्फुरतीत्युक्तदोषवतोपि स्थाने गमनं प्रार्थयन्ति, अन्यथैवम्प्रेरणस्य प्रेमविरुद्धत्वेन "प्रेम्णेदमब्रुवन्नि"तिवचनं विरुद्धं स्यात् प्रियस्यामित्रे च न स्थापयितुमुचितमिति च. किञ्च तद् वनं सर्वेषामेवासेव्यं ये भूचरा ये चान्तरिक्षचराः, अतः **पशुगणैः पक्षिसङ्घै**श्च **विशेषेण वर्जितम्.** अतो ये पशुपालका ये वा देवपरिपालकास्तैः सोऽवश्यं वध्यः ॥२४॥

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।
एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोवगृह्यते ॥२५॥

किञ्च तत्र**ाभुक्तपूर्वाणि फलानि** दिव्यानि सन्ति. केचिद् **भुक्तपूर्वाणी**त्याहुरन्यथा कथं तेषां कामनेति. रक्षायां यद्यपि भोगो बाध्यते तथापि चौर्येण भक्षणं सम्भवति. तानि **च फलान्यत्यन्तसुरभीणि,** सौरभ्यं तु तेषां प्रत्यक्षसिद्धमेव, तदा**हैष वै सुरभिर्गन्ध** इति. **विषूचीनः** परितः प्रसरद्रूपः, अत एव सर्वतो **गृह्यते** ॥२५॥

एवं दुर्लभतां फलोत्तमत्वं चोक्त्वा तानि प्रार्थयन्ते **प्रयच्छे**ति.

प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।
वाञ्छासीत् महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥२६॥

दाने भगवानेव समर्थ इति **कृष्णे**त्युक्तं, तस्यैव सर्वत्र स्वत्वाद्, अन्येन

टिप्पणी

विद्यन्तेऽभुक्तपूर्वाणीत्यत्र **केचिदि**त्यस्वरसोद्भावनम्. तद्बीजं तु गन्धविशेषेणेष्टरसानुमानात्कामः सम्भवति, अत एव **गन्धलोभितचेतसामि**ति वक्ष्यन्ति. उक्ततद्धर्मैश्चौर्यसम्भावनापि नेति ॥२५॥

प्रकाशः

विद्यन्त इत्यत्र मतान्तरमनूद्य दूषयन्ति **केचिदि**त्यादि. तत् टिप्पण्यां स्फुटीकुर्वन्ति **केचिदि**त्यादि. ननु चौर्येण भक्षणसम्भवान्न दोष इत्यतस्तद् दूषय**न्त्युक्ते**त्यादि ॥२५॥

लेखः

तस्मादित्यत्र **हे कृष्णे**ति, **अमित्रहन्नि**त्येकवचनात् कृष्णे दुष्टनिबर्हणत्वस्य पूर्वमुक्तत्वाच्च **कृष्णे**त्यनेनैव सम्बध्यते इतिभावः ॥२४॥

प्रतिबन्धनिवृत्तावपि परस्वं न ग्रहीतुं शक्यम्. तत्र कामनायां हेतुर्**गन्धलोभितचेतसामिति**– गन्धेन लोभितं चेतो येषाम्. न केवलमिदानीमेव चित्तलोभः किन्तु पूर्वमपि **वाञ्छासीत् महती.** उत्सुको राम इति **राम गम्यतामित्युक्तम्.** अतिनिर्बन्धे कदाचित् कोपं कुर्याद् गते चानिष्टं भवेदित्याशङ्क्याहु**र्यदि रोचत** इति, यदि गन्तुं रोचते ॥२६॥

ततो गतावित्याहै**वमिति**.

एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।
प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥२७॥

सुहृदां स्वभावत एव हितं कर्तव्यं, तत्रापि तेषां वचनं श्रुतम्, अतः **सुहृदामेव प्रियचिकीर्षया** तत्र गतौ, अन्यथाऽक्लिष्टकर्मा भगवान् निरपराधिनं कथं मारयेत्? अत एव भगवता न मारितोपि. मित्रहितं च कर्तव्यमतः **प्रहस्य**, तेषामाग्रहं दृष्ट्वा दोषनिवृत्तिं वाञ्छन्तीति वा. सामान्यकार्यमित्युभौ **जग्मतुः. गोपैर्वृताविति** कर्तव्यार्थनिर्धारः, अन्यथा तैः सह न गच्छेताम्. शङ्काभावार्थमाह **प्रभू** इति ॥२७॥

तत्र गत्वा यत् कृतवन्तौ तदाह **बल** इति.

बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् ।
फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥२८॥

अक्लिष्टकर्मा भगवान् बहिरेव स्थितो **बलस्त्वन्तः प्रविश्य बाहुभ्यां तालानि सम्परिकम्पयन् फलानि पातयामास.** यानि सुपक्वानि तानि चालनेन पतन्ति. ननु विद्यमानेषु फलेषु किमिति बहूनि पातयामास? **मतङ्गज इवेति**– मतङ्गज सर्वाण्येवानुपयुक्तान्यपि पातयति बलजनितकण्डूनिवृत्त्यर्थम्. उपायेनापि पातनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाहौ**जसेति**, स्वबाहुबलेनैव ॥२८॥

ततो यद् जातं तदाह.

फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।
अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥२९॥

पततां फलानां शब्दं श्रुत्वासुरेष्वपि रासभोऽधमः; असुरापेक्षया- सुरपशवोऽधमास्तत्रापि गर्दभाः. तस्य निर्भयागमने हेतुमिव सामर्थ्यमाह **सनगं परिकम्पयन्निति**– गोवर्धनसहितं सर्वमेव भूतलं परिकम्पयन् ॥२९॥

आगत्य बलभद्रं ताडितवानित्याह **समेत्येति**.

समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।
निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः ॥३०॥

समेत्य मिलित्वा निकटे समागत्य **तरसा प्रत्यग्**भूतो जातो विपरीतमुखस्ततो **द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं** बलभद्र**मुरसि निहत्य** ताडयित्वा **काशब्दं** रासभशब्दं **मुञ्चन्नु**च्चारयन् **पर्यसरत्** परितो वेष्टनमिव प्रदक्षिणां कृतवान्– जातिस्वभावोऽयम्. ननु महान् फलार्थी स्वस्थाने समागतः स्वयमेव फलान्युत्पाट्य गृह्णाति तत्र कथमागत्य ताडनमनुचितं कृतवान्? तत्राह **खल** इति ॥३०॥

बलभद्रोपि स्वयमेवागतस्तत्स्थान इति सकृदपराधः सोढः, तावतापि स न निवृत्त इत्याह **पुनरासाद्येति**.

पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ।
चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् रुषा ॥३१॥

पुनर्निकटे गत्वा क्रोध**संरब्ध उपक्रोष्टा** सृगालतुल्यो गर्दभः **पराक् स्थितः** पुनर्विमुखो भूत्वा**ऽपरौ चरणौ** पुन**र्बलाय प्राक्षिपत्.** समागत्य प्रक्षेपपर्यन्तं क्रोधोऽनुवृत्त इति ज्ञापयितुमन्ते **रुषेत्युक्तम्.** सम्बोधनं स्नेहादप्रतारणाय ॥३१॥

तदा द्वितीयापराधे बलभद्रो मारितवानित्याह **स तमिति**.

स तं गृहीत्वा प्रपदोर्भ्रामयित्वैकपाणिना ।
चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥३२॥

प्रपदोः पादाग्रयो**र्गृहीत्वैकपाणि**नैव **तं भ्रामयित्वा तृणराजस्य** तालवृक्षस्योपरि प्राहिणोद्, यथा वत्सो भगवता. अयमप्यन्तरिक्ष एव मृत इत्याह **त्यक्तजीवितमिति**, त्यक्तं जीवितं येन ॥३२॥

पूर्वं तु फलान्येव पतन्तीदानीं तु वृक्षाः स्वयमपि पतिता इत्याह **तेनाहत** इति.

तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।
पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोपि चापरम् ॥३३॥

तेन बलभद्रेण रासभदेहेन वा **आसमन्ताद्धतो महातालोपि वेपमानो**

प्रकाशः

स तमित्यत्र मूले धेनुकवधमात्रमुक्तं, पाद्मोत्तरखण्डे तु दिनमप्युक्तं "कार्त्तिक्यां पूर्णमास्यां तु धेनुकानां वधः कृत" इति. अत्र बहुवचनो 'धेनुक'शब्दो जातिवाचीति ज्ञायते ॥३२॥

लेखः

पुनरासाद्येत्यस्याभासे **बलभद्रोपी**ति. **इती**त्यस्याग्रे **बलेने**ति शेषः; **इति** हेतो**र्बलेनापराधः सोढ** इत्यर्थः ॥३१॥

जातस्ततो **बृहच्छिराः** स्थूलाग्रिमभागः कम्पने स्थिरीभवितुमशक्तः स्व**पार्श्वस्थं** वृक्षं **कम्पयन्नेव** मध्ये **भग्नः, सोपि** पूर्ववद् वेपमानः पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः, सोप्येव**मपरः** –एवं सा पङ्क्तिः सर्वापि पतितेत्यर्थः ॥३३॥

किञ्च न केवलमेका पङ्क्तिः पातिता किन्तु **सर्व** एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह **बलस्ये**ति.

बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।
तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥३४॥

साक्षाद्बलरूप एवायमतस्तेन **लीलयाप्युत्सृष्टखरदेहेन हतेन** वृक्षेण आ सर्वतो **हतास्ताला महावातेरिता इव चकम्पिरे.** अस्य क्रियाशक्तिरनेकपरम्परायामपि न शान्ता. सर्वात्मकत्वादस्य यत्रैवास्य क्रियाशक्तिर्व्याप्नोति तत्सम्बन्धात् तत्र स्थितापि क्रियाशक्तिरुद्गच्छति तया चान्यत्र स्पर्शे पुनरन्यत्र स्थिताप्युद्गच्छति, यथा काष्ठेषु वह्निः. वह्निराधारमपि न स्थापयतीति वह्निसमानधर्मा वायुरत्र दृष्टान्तीकृतः. महावातेन स्पृष्टो गुप्तोपि वायुरुद्गतो महानेव भूत्वान्यमप्येवमुद्बोधयतीत्यन्तं(न्ते!) महानेव भवति ॥३४॥

इदं बलभद्रचरित्रमाश्चर्यमिव मत्वा समाधत्ते **नैतच्चित्र**मिति.

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥३५॥

नेदं कर्म बलभद्रस्य किन्त्वाविष्टस्य भगवतः, तदाह **भगवति नैतच्चित्र**मिति. किञ्चाय**मनन्तः** सर्वसंहर्ता सङ्कर्षणस्तस्य तालवृक्षमात्रकम्पनं किमाश्चर्यं यं कालं स्मृत्वा जगदेव कम्पते? किञ्च **जगदीश्वरः** अयं जगतो नियन्ता. ईश्वरस्याज्ञयैव सर्वे कम्पन्ते, "यद्भयाद् वाति वातोयमि"त्यादिवाक्यात्. प्रथमप्रहारपर्यन्तं बलभद्रः, ततो व्यथाप्रतीकारार्थमुपायान्वेषणे भगवदुपदेशे स्मृते सहसैवाविष्टो भगवांस्तथा कृतवान्, अन्यथा बाहुभ्यां कम्पन एव वृक्षभङ्गो भवेत्. किञ्च **यस्मिन्** सङ्कर्षणेऽहम्ममाभिमानाधिष्ठातरि सर्वमेव जग**दोतं प्रोतं** च, समवायरूपत्वान्निमित्तरूपत्वाच्च. **तन्तुभिः पट** ओतः प्रोतश्च; दीर्घतन्तव ओतास्तिर्यकृतन्तवः प्रोतास्तथा सर्वमेव जगद् भगवति समवेतत्वेन ग्रथितत्वेन च स्थितम्, अतो हस्तचालनेनापि सर्वजगत्कम्प उचितः, किमाश्चर्यं वृक्षाणां महाव्यापारे! ॥३५॥

एवं धेनुकवधं भगवत्सामर्थ्यं चोक्त्वा प्रसङ्गात् तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां वधमाह **तत** इति.

ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।
क्रोष्टारोभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥३६॥

ते तु बहवो मूर्खाः **कृष्णं रामं च धेनुकस्य ज्ञातयो ये** धेनुकवधेन क्लिष्टा **हतबान्धवाः** क्रोध**संरब्धाः** सन्तः **क्रोष्टारो** गर्दभा आक्रोशयुक्ता **अभ्यद्रवन्. च**कारद्वयेन गोपान**प्यभ्यद्रवन्** तदा प्रतिगोपं कृष्णो रामश्चोपस्थितौ भवतः, अतो बहुधा कृष्णं बहुधा राममिति ज्ञापयति ॥३६॥

तदनु भक्तरक्षार्थं सर्वानेव मारितवन्तावित्याह **तांस्तानि**ति.

तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।
गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत् तृणराजसु ॥३७॥

य एवाग्र आगतास्त एवाग्रे मारिताः. **कृष्णो रामश्चे**ति यस्यैवाग्रे पतन्ति. **नृपे**ति सम्बोधनं पूर्ववत्. तेषां वधे न कोपि प्रयास इत्याह **लीलये**ति. **गृहीतौ पश्चाच्चरणौ** येषां, सर्वेषामेवान्तरिक्षमारणार्थं दुष्टारोपिततालवनदूरीकरणार्थं च **तृणराजस्वेव प्राहिणोत्. रामः कृष्णश्चै**क एवेत्येकवचनम् ॥३७॥

फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।
रराज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥३८॥

ततो यद् जातं तदाह– **फलप्रकरैः** फलसमूहैः **सङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिश्च सङ्कीर्णं** ध्वस्ता भग्ना ये **तालाग्रा**स्तालशिरांसि तैरपि **सङ्कीर्णं तलं** भूतलं **रराज** शोभामेव प्राप्तवत्, न तु भूशोभा काचिन्नष्टा. तत्र दृष्टान्तो **घनैर्नभ इवे**ति– निर्मलं नभः सूर्यसहितं चन्द्रनक्षत्रसहितं यथा शोभते तथा घनैरपि सम्बद्धं शोभते, घनानां सर्वजनापेक्षाविषयत्वात्. त्रीण्यप्येतानि नीलावान्तरजातियुक्तानि– अतिनीलानि फलानि रासभास्तु धूसरास्तालाग्राश्च श्यामा; मेघा अपि तथैव ॥३८॥

तत् कर्म तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धं जातमिति ज्ञापकमाह **तयोरि**ति.

तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशम्य विबुधादयः ।

प्रकाशः

ततः कृष्णं च रामं चेत्यत्र **चकारद्वयेनेतीति ज्ञापयती**त्यनेन योज्यम् ॥३६॥

फलप्रकरेत्यत्र **सर्वजनापेक्षाविषयत्वादि**ति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र योज्यं दृष्टान्तस्यांशिकत्वाभावाय ॥३८॥

लेखः

तांस्तानित्यत्र **तृणराजस्वि**ति समासान्तस्यानित्यत्वात् न टच् ॥३७॥

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥३९॥

सुमहत् कर्म धेनुकवधलक्षणम्. **विबुधादयो** गन्धर्वादयः **पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्वाद्यानि चक्रुस्तुष्टुवुश्च**. त्रिविधानां त्रयं हर्षनिधानम्, अनेन देवानां हितार्थं वध उक्तः ॥३९॥

एवं सपरिकरो धेनुकवधो निरूपितः. भगवता तु तालफलानि न दत्तानि परं स्वेच्छयैव सर्वैर्भक्षितमित्याह**ाथे**ति भिन्नप्रक्रमेण.

अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः ।
तृणं च पशवश्चेरुर्हतधेनुककानने ॥४०॥

तालफलान्यादन् सर्व एव **मनुष्या गतसाध्वसाश्च** जाताः, **तृणं च पशवश्चेरुः, हतो धेनुको** यत्र तादृशे **कानने**, तत्र छायया तृणं न शुष्कं भवतीति. **च**कारात् पक्षिणोपि सुखिनो जाताः ॥४०॥

एवं वनलीलामुक्त्वा पुनर्व्रजे भगवतः समागमनमाह **कृष्णः कमलपत्राक्ष** इति.

कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो व्रजमाव्रजत् ॥४१॥

कृष्णो व्रजमाव्रजदिति व्रजस्थानां महानानन्दहेतुरुक्तः. तदेतावत्कालं विरहतप्तानां कथं तापं दूरीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह **कमलपत्राक्ष** इति– कमलपत्रवदायतेऽतिविशाले परतापापनोदके अक्षिणी यस्य. अनेन दृष्ट्यैव तापहारित्वमुक्तम्. ननु कारणभूत आध्यात्मिके पापे विद्यमाने कथं तापनिवृत्तिः? तत्राह **पुण्यश्रवणकीर्तन** इति, पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य. अनेन पापं जलपूरेणेव नाश्यत इति

लेखः

कृष्ण इत्यत्र **तद**िति, कृष्णस्य व्रजागमनमागन्तुः कमलपत्राक्षत्वात् तापहारकमित्यर्थः, दृष्ट्यैव सङ्केतसूचनाद् भाव्यर्थनिश्चयेन तापनिवृत्तिरिति भावः. अग्रिमश्लोके तापान्तरस्य वक्ष्यमाणत्वादत्र **विरह**पदम्. **नन्व**िति. **अध्यात्मम**न्तःकरणं तत्सम्बन्धिनि विरहकारणभूते मदमानादिरूपे इत्यर्थः. **अनेने**ति एतयोः पुण्यत्वकथनेनेत्यर्थः. पुण्यं हि प्रायश्चित्तं तात्कालिकपापभोगनिवर्तकं न तु स्वरूपतो नाशकमिति निबन्धे निरूपितं तत्सूचनाय जलपूरदृष्टान्तः. पूरो हि वस्तु देशान्तरे प्रक्षिपति न तु स्वरूपतो नाशयति, तथात्रापि तात्कालिकमदमाननिवृत्तिः, कालान्तरे तु रसोद्रेकाद् भविष्यत एवेति भावः. **श्रवणे** इति सतीति शेषः. **कथापूर** इति सुधासंवलितकथापूर इत्यर्थः. **शुद्ध** इति पूर्वोक्तपापरहित इत्यर्थः.

निरूपितं– श्रवणे प्रविशति कथापूरो हृदयं ततः सर्वमेव दोषमालोड्य मुखतो निःसरति, एवं कियत्कालपर्यावृत्त्या सर्वथैव शुद्धो भवति. नन्वेवमपि सति भगवत्कीर्तिः कथं प्राप्यते? तत्राह **स्तूयमानोनुगैरि**ति, **अनुगा** भक्ता गोपाश्च. तेन भगवच्चरित्रं सर्वथैव सुलभमुक्तम् अलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेण. **साग्रज** इति– धेनुकवधस्तेन कृत इति तं पुरस्कृत्य सहैवागतो भगवान् न तु पृथक्पृथग् यथायथम् ॥४१॥

आगच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति **तं गोरजश्छुरितकुन्तले**ति.

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम् ।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोभ्यगमन् समेताः ॥४२॥

तं भगवन्तं **गोप्योभ्यगमन्न**िति सम्बन्धः. पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता. सा गोपिकाभिर्न दृष्टेति गोपिकानां भवति तापोऽतस्तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते. तत्र **गोरजोभिश्छुरितानि** व्याप्तानि **कुन्तलानि** यस्येति पुरुषार्थलीला प्रतिपादिता– गावोत्र धर्मो रजोर्थो

टिप्पणी

तं गोरज इत्यत्र, **गावोत्र धर्म** इत्यादि. धर्मस्य वृषरूपत्वेन गोजातीयत्वाद्गो-

लेखः

नन्वेवमपीति, श्रवणकीर्तनाभ्यामाध्यात्मिकपापनिवृत्तावपि भगवत्यनित्यरतित्वादिदोषदर्शनलक्षणस्याधिदैविकपापस्य विद्यमानत्वात् तन्निवर्तकोत्कर्षाधायकगुणवर्णनरूपा **कीर्तिः कथं प्राप्यते** इत्यर्थः. **अनुगा** इति अन्तरङ्गा इत्यर्थः. **अलौकिकेने**ति, लोकावेद्येनेहैव भगवान् रतो यथापूर्वमेवेत्यादितद्वर्णनप्रकारेण भक्तस्तुत्या सुलभत्वमुक्तं, लोकवेद्येन प्रकारेण गोपस्तुत्या सुलभत्वमित्यर्थः ॥४१॥

तमित्यत्र **न दृष्टे**ति नानुभूतेत्यर्थः; तत्तद्धर्मदर्शनेन तत्तत्स्थायिभावोऽनुभूतो भवतीति ज्ञेयम्. **अत्र धर्म** इति पुरुषार्थपरत्वव्याख्याने इत्यर्थः, शृङ्गाररसपरत्वे

योजना

स्तूयमानोनुगैरित्यत्र **अलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेणे**ति. रहस्यलीलाकथनं हि सर्वेषां लोकानां सन्निधौ न भवति किन्तु तादृशभक्तनिकटे रहस्येव भवति, तस्य वक्तारोपि विरला अतस्तेषां लोकावेद्यत्वादलौकिकप्रकारेणैव तेभ्यो लीलास्वरूपं लभ्यते. प्रकटलीलास्तु गोपैः सर्वसमक्षं गीयते, तल्लाभोपि सर्वप्रसिद्धलौकिकप्रकारेणैव भवतीत्यर्थः ॥४१॥

व्याप्तिः कामो अलका मोक्षस्थानीयाः सत्यावलम्बिनः; धर्मादिसहितानामेव मोक्ष इति चतुर्णामेकवाक्यता. कुन्तलाश्च कामरूपा रजो रजोगुण एव गावोत्रानुभावाः,

टिप्पणी

शब्देन **धर्मोत्रोक्तः**, धर्महेतुत्वेन वा. अर्थस्य धर्मसाध्यत्वेन तत्सम्बन्धित्वाद्विक्षेपहेतुत्वेन च रजोरूपत्वान्मदहेतुत्वाच्च **रजःपदेनार्थ** उक्तः. निष्कामस्यान्यसम्बन्धासम्भवात्कामे सत्येव तथात्वाद्**व्याप्तिः कामः**. "स नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत्स हैतावानासे"ति श्रुतेः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदि"ति श्रुतेश्च कामेनैव सर्वरूपेणाविर्भूय सर्वं व्याप्तवानिति च तथा. केशाः सदाः बद्धास्तिष्ठन्ति, अलकाः सदैव मुक्ता एवेति तथा. दूरमिव गतानां मानिनीमनसां स्वशोभातिशयेनाकार्येव स्वरूपानन्ददातार इति च मोक्षस्थानीया इति भावः. तत्तद्दर्शनेन सा सा लीला साक्षादनुभूतेव भवतीति निगर्वः. अत्रैव **कुन्तलाश्च कामरूपा** इत्यादि. उत्तमरसभोक्तृदर्शने स्वस्यापि तद्भोगेच्छा लोकसिद्धा. प्रकृते च भ्रमरतुल्या एते मुखाम्बुजस्य परितश्चकासत इति तद्द्रष्टुर्भावोद्दीपका इति कामरूपाः. गवां सदा भगवत्संगतत्वेन प्रियस्मारकत्वात् कदाचित् तासामन्यादर्शनसम्पादकत्वेन रसानुभवहेतुत्वाच्चानुभावकत्वम् ॥४२॥

प्रकाशः

तं गोरज इत्यत्र **गावोत्र धर्म** इत्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्धर्मस्ये**त्यादि. **व्याप्तिरिति**च्छुरितपदोक्ता व्याप्तिः. **तथे**ति मोक्षस्थानीयाः. **सत्यावलम्बिन** इत्यस्यार्थं विवृण्वन्ति **दूरमिवे**त्यादि **भाव** इत्यन्तं, तथा च **सत्यं** वास्तवरूप**मवलम्बन्ते** दयया प्रकटीकुर्वन्ति तच्छीला इत्यर्थः सिध्यति. **सत्त्वावलम्बिन** इतिपाठे तु **सत्त्वं** ज्ञानजनकं त**दवलम्बिनो**ऽर्थात् तादृगिन्द्रियावलम्बिन इत्यर्थो बोध्यः. नन्वेतद्विशेषणकभगवद्दर्शनेन कथं गोपिकानां तापनिवृत्तिरित्यत आहु**स्तत्तदि**त्यादि. एतदेव **धर्मादिसहिते**ति फक्किकया सुबोधिन्यां सूचितम्. **कुन्तलाश्चे**त्यादिनोक्तं प्रकारान्तरं विवृण्व**न्त्युत्तमे**त्यादि. **कामरूपा** इति कामनिरूपकाः. [१]**वीराद्भुतरसौ बोधयतीत्यु**-

लेखः

त्वनुभावत्वं वक्ष्यत इतिभावः. रजोदर्शनेन परम्परया तत्सम्बन्धिगोसम्बन्धिनी सर्वापि धर्मादि(विभावानुभाव)[२]लीला नित्यत्वाद् हृद्यनुभूता भवति साक्षात्त्वर्थलीलानुभूता भवतीत्यर्थः –एवं सर्वत्र ज्ञेयम्. **मोक्षस्थानीया** इति, टिप्पण्युक्तदिशा

---

१. °लीला°. २. इत्यधिकमेकस्मिन्नादर्शे.

तेन पुष्टः शृङ्गाररसो निरूपितः. **बद्धो बर्हः**, बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयति. **वनोद्भवानां प्रसूना**नां सम्बन्धो भयानकहास्ये जनयति, **रुचिरेक्षणं**

प्रकाशः

त्साहजनकत्वात् कथं बद्धमिति विस्मयजनकत्वाच्च तौ बोधयति. **भयहास्ये जनयती**ति दुर्गभूमौ दृष्टत्वात् कथञ्चिद् विकृतिरूपया भङ्ग्या स्थापितत्वाच्च ते

लेखः

अलकेषु सर्वापि मोक्षलीला अन्यत्र त्वंशतो धर्मादिलीलेति विशेषः. [१]**एकवाक्यते**ति, **गोरजश्छुरितकुन्तले**त्यस्य छुरणक्रियावत्त्वाद् वाक्यत्वं, तथा चैकस्मिन्नवान्तरवाक्ये सम्बन्ध इत्यर्थः. **कामरूपा** इति कामनिरूपकास्तदुद्बोधका इत्यर्थः. **रजोगुण** इति, रजसः कामदातृत्वस्य फलप्रकरणे "दिनपरिक्षये" इतिश्लोके वक्ष्यमाणत्वाद् रसोद्दीपका इत्यर्थः. **अत्रानुभावा** इति, पूर्वं व्यभिचारित्वेनोक्ता अप्यत्रानुभावा इत्यर्थः. टिप्पण्युक्तदिशा परिरम्भादिरूपानुभावसम्पादनेन प्रियस्मारणेन च रसं बहिरन्तश्चानुभावयन्तीति यौगिकोर्थो ज्ञेयः. **तेने**ति उद्दीपनानुभावसाहित्येनेत्यर्थः. शृङ्गारे चकोरदृष्टान्तस्योक्तत्वात् चन्द्रे चकोर इव भवतीष्वहं रत इति ज्ञापनेन भगवन्निष्ठा शृङ्गारस्थायिरूपा रतिः कुन्तलदर्शनादिना भावोद्बोधनादेताभिरनुभूतैतासामपि तेन रतिर्जातेति पर्यवसन्नोर्थः **निरूपित** इति भगवतैतासु स्थापित इत्यर्थः. **बर्हस्ये**ति, अनेन समयविशेषे स्वकृतबर्हबन्धस्मरणेन भगवतो

योजना

तं गोरजश्छुरितमित्यस्य विवृतौ **बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीराद्भुतरसौ बोधयती**ति. वीरा हि स्ववीरताख्यापकं लक्ष्मविशेषं बिभ्रति, भगवानपीह शृङ्गाररससम्बन्धिस्ववीरताबोधनार्थं उद्बुद्धशृङ्गाररसस्य मयूरस्य चिह्नं बर्हं धारयत्यतस्तद्दर्शने वीररसोनुभूयते. बर्हदर्शने मयूरस्य लोकविलक्षणायाः कामलीलायाः स्मरणे आश्चर्यं भवति. प्रकृते भगवानप्यप्राकृतीं लोकविलक्षणामेव कामलीलां करोतीति तस्या अनुभवादद्भुतरसो बोभूयते. **वनोद्भवानां प्रसूनानामि**ति. बद्धबर्हतादर्शनेनाविर्भूतयोर्वीराद्भुतरसयोः प्राबल्यादस्मदर्थं भगवानेतावत् करोत्यस्मदेकरत इतिज्ञानादेतादृश्यार्तिरभूद् यया व्रीडादिपरित्यागेन बलात्कारेणायं ग्राह्यो यथास्मन्निकट एव तिष्ठेद् इति त्वरिता बभूवुः. परं वन्यप्रसूनदर्शने पुनरपि

---

१. "एवं व्याप्तिदर्शनेन साक्षात्कामलीलानुभवः परम्परया तदवान्तरानुभव इति ज्ञेयमि"त्येकस्मिन्नादर्शे अधिकम्.

करुणाख्यं, **चारुहासो** रौद्ररसं, महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयति. **वेणुं क्वणन्तमि**ति शान्तरसः, ब्रह्मामृतं प्रकटीकुर्वन्. **अनुगैरनुगीता**

प्रकाशः

जनयति. **रुचिरेक्षणं** [1]**करुणामि**ति हा वयमेतावत्पर्यन्त[2]स्थिता इतिशोकमूलानुकरुणां, **रौद्ररसमि**ति क्वचिदधिकारिविशेषे, **अवशिष्टरसं** बीभत्सं क्वचिद् [3]भक्तविशेषे जनयतीत्यर्थः ॥४२॥

लेखः

लीलान्तरोत्साह आश्चर्यं चैताभिरनुभूतं भवतीत्यर्थः. एते त्रयो भगवन्निष्ठा एताभिरनुभूताः, अग्रिमास्त्वेतास्वेव जाता इति **जनयती**ति तत्रोक्तम्. वनसम्बन्धिपुष्पधारणेन वने रुचिज्ञापनाद् भगवान् पुनर्वनं गच्छेदिति भयं, रसक्षमा अस्मान् विहाय प्रकृष्टा सूना येषां तैरक्षमैर्दिनं नीतवानिति हासः, एतादृशोस्मान् पूर्वोक्तपापवशात् त्यजतीति शोकः, त्यक्त्वा गत इति वयमेवं तप्ताः स्वयं च हसतीति क्रोधः, पूर्वार्धसमुदितधर्मदर्शनेन तत्रापि नयनसमर्थस्तदकृत्वा अनुनयनार्थं किमित्येवं करोतीत्याकारिका जुगुप्सा. **नाट्यावशिष्टे**ति नाट्येष्ववशिष्ट इत्यर्थो ज्ञेयः. वेणुनादेन शान्तिरूपो निर्वेदो जनितः प्रयत्नशैथिल्यलक्षणः, येनान्तरेव नादरसानुभवो भवति. एतदेवोक्तं **ब्रह्मामृतमि**ति, नादब्रह्मरसम् इत्यर्थः. अनुगत्वेन रूपात्मकभगवत्सेवालक्षणो गानेन नामात्मकभगवत्सेवालक्षणश्च भक्तिरसो जनितः. **बद्धबर्हो वन्यप्रसूनानि रुचिरेक्षणं** चेति द्वन्द्वः, ततस्तैः सहित**श्चारुहासो** यस्येति बहुव्रीहिस्ततो **गोरजश्छुरिते**त्यनेन कर्मधारयः. **दिदृक्षितदृष्टय** इति दिदृक्षा सञ्जाता आसामिति

योजना

वने गमिष्यतीति भयमुत्पद्यते ततश्च लज्जापरित्यागो न कर्तव्य इतिमतिरुदेति. युक्तं चैतत्, यदि भयानकरसो नोत्पद्येत तदा लज्जात्यागे रसप्राकट्याद् गुप्तो हि रसो रसत्वमापद्यत इति रसमर्यादाया अभावात् रसत्वमेव न स्यात्. अतो भयरसोपि शृङ्गाररसपोषक इति सिद्धं भयस्य रसत्वम्. किञ्च वन्यप्रसूनदर्शने भगवति चातुर्याभावमवगच्छन्ति– एतादृशीः सौन्दर्यचातुर्यस्नेहादिवतीरस्मान् विहाय "वनं तु सात्त्विको वास" इतिवाक्यात् कामलीलाप्रतिबन्धके वने पशुपालान् गृहीत्वा पशूनां पृष्ठभागे परिभ्रमतीति हास्यरसमुदयते. **रुचिरेक्षणं करुणारसमि**ति. वन्यप्रसूनदर्शनेन प्रकटीभूतयोर्भयानकहास्यरसयोः प्राबल्येनोत्पन्नाया उदासीनतायाः

---

१. °ख्य°, °ख्यरस°. २. °न्ततमः°, °न्तमव°. ३. °क्ति°.

कीर्तिर्यस्येति भक्तिरसः. एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योपि **दिदृक्षितदृष्टय** एव

योजना

प्रशमनाय करुणारस उत्पादनीयः, स च रुचिरेक्षणदर्शनेन उत्पद्यते इत्याशयः. रुचिरेक्षणावलोकनेन एतादृशे मध्यनिविष्टरसनिमग्नचञ्चरीकसरसिजसदृशे ईक्षणे एतावत्कालमस्माभिः कुतो नानुभूते इतिशोकस्थायिभावकः करुणारस उद्भवति. तथा च येन केनापि प्रकारेण सरसिरुहनयने सततमवलोकनीये इति पुनरभिलाषसङ्गः परिस्फुरति –एवं शृङ्गाररसाङ्गता करुणारसस्य. एवं करुणारसे उत्पन्ने मानादिकं नोत्पत्स्यत इति तदुत्पत्त्यर्थं पुनर्मानादिबीजमुद्बोधयितुं क्रोध आवश्यक इति तं प्रकटयितुं **चारुहासं** करोति. ततश्च वयमेतादृशानुरागवत्यः एतावत्कालपर्यन्तमेतादृग् दुःखमनुबभूविम भगवांस्तु दुःखितानप्यवलोक्य हसतीति नायमस्मद्विषयकस्नेहवानतः क्रोधस्थायिभावको रौद्ररसः आविर्भवति, सोयमित्थं शृङ्गाररसपोषक इति बोद्धव्यम्. इत्थं कदाचिदुत्साहः कदाचिद् विस्मयः कदाचिद् भयं कदाचिद् हास्यं कदाचित् तापः कदाचित् क्रोध इति नानाविधपुरुषोत्तमभूषणावयवाद्यवलोकनैर्नानाप्रकारका भावाः समुज्जृम्भन्ते. एवं विविधभावोत्पत्त्या विलक्षणः कश्चिदास्वादः शृङ्गाररसे सर्वरसानामङ्गिभूते समुल्लसति, परं क्रमेण भवति, क्रमेणावलोकनात् क्रमेण तत्तत्तात्पर्यावधारणात्. यदा तु समूहावलम्बनवत् युगपदेव सर्वे धर्मा गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हादयः परिस्फुरन्ति तदा बीभत्सरस उदेतीत्याहुः **महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयती**ति. नाट्ये अवशिष्टं नाट्यावशिष्टं बीभत्सरसं जनयतीत्यर्थः. "बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता" इतिवाक्यादष्टौ रसा नाट्ये. तत्र शृङ्गारादिरौद्रान्ता रसा इह निरूपिता अतो बीभत्सरसोऽवशिष्टः, स तु गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हादिसर्वधर्मविशिष्टवेशावलोकने सम्भवति– अयं तु भगवाननेकचरित्रचमत्कारयुक्तोस्त्यतः कुत्र कुत्रास्य स्नेहः कुत्र कुत्रास्य रमणं किं किं न कामकापट्यं करोतीतिबुद्धौ जुगुप्सास्थायिभावको बीभत्सरस उदेति. सोयं मनसः परावर्तको रसः शान्तरसेन शमनीय इति शान्तमुत्पादयितुं वेणुनादं करोतीत्याहुः **वेणुं क्वणन्तमि**ति. **शान्तरस** इति, वश्च इश्च वयौ ब्रह्मानन्दविषयानन्दौ अणू यस्मादितिव्युत्पत्तिसिद्धो वेणुस्तत्क्वणने परमानन्दोत्पत्तौ घोषकामिनीनां भगवदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसो जायते. तदा सर्वप्रयत्नराहित्येऽग्रिमलीला न सम्भवतीति तदुत्पादनाय स्वस्य शृङ्गाररसोपयोगिकीर्तिश्रवणं कारयित्वा भक्तिमुत्पादयतीत्याहुः **अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति भक्तिरस** इति. **अनुगा** अन्तरङ्गगोपास्तैर्गीयमानां

स्थिताः. न हि साधारण्येन दृष्टो भगवान् स्वस्य परमरसमुत्पादयति. एकान्ते समागतं भगवन्तं सर्वरससहितं द्रक्ष्याम इति दिदृक्षैव स्थिता, अत एव प्रथमं दर्शनं नोक्तं समागम एवोक्तः. समागमार्थं यद् दर्शनं तदन्यशेषभूतमिति न पृथङ्निरूपणमपेक्षते. **अभितः** समागता इति भगवतस्ताभिरेव वेष्टनं निरूपितम्. एकस्यास्तत्कार्यं न भवतीति **समेताः.** अग्रे गावो बलभद्रप्रमुखाश्च गताः पश्चादागच्छन्तो गोपिकाभिरेव व्यवहिताः, मध्ये गोपिकाभिर्भगवान् वेष्टित इत्यर्थः ॥४२॥

ततस्ता यत् कृतवत्यस्तदुक्त्वा पश्चाद् भगवतो व्रजे समागमनं निरूपयति **पीत्वे**ति.

लेखः

तद्धितान्तं ज्ञेयं, निष्ठान्तत्वे कर्मवाचकं 'दिदृक्षित'पदं स्याद्. **न ही**त्यादि रसानुभवे विशेषः, दर्शने तु सर्वसाधारण्यमेव. असाधारणं दर्शनमाहुः **एकान्त** इति. **अभि**पदार्थमाहुः **ताभिरेवे**ति. **एव**कारेण व्यावर्त्यानाहुः **अग्रे** इति, तथा च व्यावर्त्या गवादय इत्यर्थः. गोपिकागमनेनापि वेष्टनमेव निरूपितमिति भगवद्वर्णनलक्षण एव वाक्यार्थ आभासे उपक्रान्तोऽत्र **वेष्टित इत्यर्थः** इत्यनेनोपसंहृतः ॥४२॥

योजना

कामकीर्तिं भगवतः श्रुत्वा अयं भगवान् सर्वोत्तमः सकलरसिकशिरोमणिरित्येतस्मादानन्दानुभवः सर्वथा कर्तव्यो न मानादिकं कर्तव्यमित्यभिलाषेण दास्यादिरूपो भक्तिरसः प्रकटीभवति. सोयं शृङ्गाररसानुसंसृष्ट इति ज्ञेयम्. **एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तमि**ति. इदमत्र ज्ञेयम्. अस्मिन् श्लोके ये दशरसा उक्तास्तेषु केचन भगवति जाताः शृङ्गारादयः, केचन भयादयो व्रजवामलोचनास्वेव जाता इति कथं सर्वरसयुक्तत्वं भगवतीति चेद्, इत्थं– यथा यशोदानन्दने वन्यप्रसूनाद्यासक्तिं दृष्ट्वा व्रजनारीणां भयहास्यादिरस उत्पद्यते एवमेतास्वपि गुरुजनपरतन्त्रतादिज्ञानेन तादृक्चातुर्याभावज्ञानेन च भयहास्यादयो रसा भगवत्यपि प्रादुर्भवन्ति, अतिमाने च क्रोधश्च. कदाचिदत्याग्रहेण भगवत्प्रार्थिताकरणे जुगुप्सास्थायिभावको रसोपि सम्भवति. रतिरम्भादिमदहरस्मितावलोकनमधुरभाषणादिसौष्ठवं व्रजवधूटीनामवलोक्य तदितरविषयकनिर्वेदस्थायिभावकः शान्तरसः प्रभावप्युदेति. मानापनोदनादौ भक्तिरसस्तु व्रजसुन्दरे स्फुट एव, अत एव दशमस्कन्धे बहुलाश्वश्रुतदेवप्रसङ्गे उक्तं "भगवान् भक्तभक्तिमानि"ति, "अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विजे"त्यादि भगवताप्युक्तम्. अतः सर्वरसयुक्तो भगवान् गोवर्धनधर इति **सर्वरसयुक्तं भगवन्तमित्युक्तिर्युक्तैव** ॥४२॥

पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोह्नि ।
तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहाससविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥४३॥

आदौ तापापनोदनार्थं गोपीजनवल्लभसरसः करुणावीचियुक्ताल्लावण्यामृतं पातव्यम्, अन्यथान्तस्तापो न गच्छेत्. गते हि तापे रसास्वादनम्. बहिस्तापो मिलनादेव गतः. स पेपीयमानो रसो यदि तापहारको मिष्टश्च भवति तदैव भूयान् पातुं शक्यः. तच्च लोके नास्ति, दुग्धादीनां तृषादिजनकत्वात्. जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते. उभयात्मकमपि यदि परिणामे सुखदं न भवति तदापि न समीचीनम्, अतो भगवल्लावण्यामृतं सर्वगुणविशिष्टमित्याह– **मुकुन्दो** मोक्षदाता ज्ञानरूपः शान्तः, अतो नाग्रे दोषजनकः प्रत्युत मोक्षपर्यवसायी. **मुखं** हि भक्त्यात्मकं भवति, अतः स्नेहाद् बहुपानं सम्भवति. तत्र **सारघं– सरघा** मधुमक्षिका, तया सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु क्रियते तत् कोटरादिषु तिष्ठति. अन्यजातीयं तु मधु न द्रवीभूतं भवति, घनीभूतं च पातुं न शक्यम्. ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः

लेखः

पीत्वेत्यस्याभासे **तत** इति, तत्कृतिकथनपूर्वकव्रजागमननिरूपणं वाक्यार्थ इत्यर्थः. व्याख्याने. **आदावि**ति– पानं तापत्यागः सत्कृतिश्च तत्कृतिः, तत्रादावित्यर्थः. **करुणे**ति, करुणया वीचियुक्तादित्यर्थः. **पेपीयमान** इति यङ्लुगन्तात् कर्मणि शानच्. **तच्चे**ति तादृशं वस्त्वित्यर्थः. दोषत्रयेण बहुपानासम्भवस्तत्र **दुग्धस्य** मिष्टत्वेपि **तृषाजनकत्वं** न तु तापहारकत्वम्, **आदि**पदाभ्यां निम्बादेस्तापहारकत्वेपि तिक्तत्वेन वैरस्य जनकत्वं न तु मिष्टत्वमित्यर्थः. जलं तादृशमपि बहु पातुं न शक्यते तत्र हेतुमाहु**र्यदी**ति, विकारजनकमित्यर्थः. **नीहारवदि**ति हिमवदित्यर्थः. **सर्वगुणे**ति– मुकुन्दसम्बन्धाद् दोषाजनकत्वं, मुखसम्बन्धात् तापहारकत्वं, मुखस्य दर्शनमात्रेणैव तापहारकत्वात्, सारघत्वात् मिष्टत्वम्; एभिस्त्रिभिर्गुणैर्बहु पानं सम्भवतीत्यर्थः. **भक्त्यात्मकमि**ति तापहारकमित्यर्थः. **तत्रे**ति मुखे इत्यर्थः. **मधु क्रियत** इति, यथा कुसुमजलमानीय सारो निष्काश्यते तथेत्यर्थः. दृष्टान्ते स्थापनमुक्तमित्यत्र

योजना

पीत्वा मुकुन्देत्यत्र **जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते** इति बहु पातुं न शक्यत इत्यर्थः. तत्र दृष्टान्तः **नीहारवद्** इति– हिमं यथा बहु पातुं न शक्यते तथा तापहारकमपि जलं बहु पातुं न शक्यते, विकारोत्पादकत्वात्. मुकुन्दमुखसारघं तु तापहारकत्वात् मिष्टत्वात् तृषादिदोषाजनकत्वात् परिणामसुखदत्वाच्च भूयो भूयः

सरघास्थानीयाः; तैः सर्वैरेव सर्वप्रकरणेभ्यः परमानन्दं समुद्धृत्यैकत्रानन्दनिधिर्बोधितः. सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित आनन्द एकीभूयात्र स्थित इत्यर्थः. ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च प्रार्थनया भगवानत्रानीतः, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः. त एव हि रसं जानन्ति ये तदेकोपजीविनो भवन्ति, ते भृङ्गाः. न तेषामन्यद्देहनिर्वाहकमप्यस्तीति

प्रकाशः

पीत्वेत्यत्र गोपिकाभिरेव भुक्त इत्यत्र हेतुमाहु**स्त एवे**त्यादि. **अनेने**त्यक्ष्णां

लेखः

बोधनस्य स्थापनत्वमाहुः **सर्वप्रकरणेष्वि**ति. सरघाभिः पुष्पेभ्यो रसः समानीयते, रसनिष्ठो यः सारः यथा कुसुमजलात् निष्काश्यते तन्मधुसारघं तथात्र सरघास्थानीयाः श्रुतयः रसस्थानीयो भगवान् सारघस्थानीयं लावण्यमिति ज्ञेयम्. **रसस्त्वि**ति लावण्यरूप इत्यर्थः. सरघाभिः पुष्परसो भुज्यते रसनिष्ठो रसस्त्वन्यैरेव भुज्यते तथात्र **गोपिकाभिरेव भुक्तः.** तत्र हेतुः **त एवे**ति. **हि** यत इत्यर्थः. रसो हि ज्ञात्वा भोक्तव्यः, ज्ञानं तु भृङ्गत्वादेतच्चक्षुषामेव, तथा च रसज्ञचक्षुर्युक्तत्वादेताभिरेव ज्ञात्वा रसो भुक्तः. भृङ्गनिष्ठं रसज्ञानमेव दृष्टान्तार्थः, अत एव **जानन्ती-**

योजना.

पातुं शक्यत इति भावः. **ब्रह्मादयोत्र सर्वे श्रुतयश्च सर्वाः सरघास्थानीया** इति. सरघा यथा पुष्पेभ्यो रसं समानीय मधु करोति तथा ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च भगवानानन्दनिधिरत्र व्रजे समानीत इति सरघास्थानीयत्वं ब्रह्मादीनां श्रुतीनां चेत्यर्थः. तथापि सरघा तु बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु करोति भगवांस्त्वेक एवात्रानीत इति न दृष्टान्तस्वारस्यमतो दृष्टान्तस्वारस्यायाहुः **तैः सर्वैरेवे**त्यारभ्य **बोधित** इत्यन्तेन. यथा सरघया बहुभ्यः पुष्पेभ्यो रसम् आनीय मधु क्रियते तथा ब्रह्मादिभिरपि निखिलवेदेषु उक्तो यः परमानन्दो भगवान् स श्रीकृष्ण एवेति बोधितं "वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः" इत्यादिवाक्यैरित्यर्थः. श्रुतिभिरपि सर्वत्र प्रकरणेषु उक्तो यः परमात्मानन्दनिधिः स "रसौ वै सः" "आनन्दमयमात्मानमुपसङ्क्रामति" "सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे" "कृषिर्भूवाचकः शब्दः णश्च निर्वृतिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते" इत्यादिभिः श्रीकृष्ण एव परब्रह्मस्वरूप इति बोधितम्. एवं सति सरघया यथा बहुपुष्पनिष्ठरसस्यैकीकरणेनैकत्र मधुकरणं तथा ब्रह्मादीनां श्रुतीनामपि सर्वत्रोक्तस्य परमानन्दत्वस्यैकत्र श्रीकृष्णे एकीकरणम्. इह श्रीकृष्ण-

विषयान्तरसम्बन्धो नास्त्येव, केवलमन्यत्र परिभ्रमणमात्रं, तथा गोपिकानामपि चक्षूंषि परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुखलावण्यामृतमेव. अत आ**हाक्षिभृङ्गै**रिति, अनेन गोपिकानां श्रुत्यादिभिः सह साजात्यमपि निरूपितम्. पानं बहिःस्थितस्य द्रवद्रव्यस्यान्तर्निवेशनं, नेत्राणामपि स्वतो रसाभिज्ञत्वज्ञापनाय **भृङ्ग**पदं, तथा सति स्वतोपि प्रवृत्तिर्भवति अन्यत्र च न विनियोगः सिध्यति. गोपिकानामपि देवतात्वादन्येनापि पानं सम्भवति, अतोस्माभिरेतावत्कालं नानुभूत इति चिन्तया यस्तापः स लावण्यामृतरसेऽन्तःपूर्णे गच्छति. अन्यस्तु त्रिविधोपि तापः पूर्वमेव गत इति ज्ञापयितुं **विरहजमि**त्युक्तम्. ननु विरह एव किमिति सम्पाद्यते सन्निधान एव कथं न स्थीयत इत्याशङ्क्याह **व्रजयोषित** इति, व्रजस्य हि स्त्रियो

प्रकाशः

भृङ्गत्वनिरूपणेन. **साजात्यमि**ति, यथा श्रुत्यादयः सर्वं वदन्ति परमत्रैव तात्पर्ययुक्तास्तथैता अपि सर्वत्रभ्रमणयुक्तदृष्टयोपि भगवदेकनिरीक्षका इति तथा. अक्ष्णां भृङ्गत्वोक्त्या व्यञ्जितमर्थमाहु**र्गोपिकानामि**त्यादिना **गच्छती**त्यन्तेन. **अन्येनापी**ति भावरूपेण प्रकारेणापि. **त्रिविध** इति देहेन्द्रियात्मनां सम्बन्धि.

लेखः

त्युक्तं न तु भुञ्जत इति. **अनेने**ति श्रुतिबोधितरसनिष्ठसारघपानकथनेन श्रुतिभि**रादि**पदेन ब्रह्मादिभिश्च **सह साजात्यमे**करससम्बन्धित्वं **निरूपितम्.** इयान् परं विशेषः— श्रुतीनां सरघादृष्टान्तेन रसभोग एतासां तु भोक्तृजनदृष्टान्तेन रसनिष्ठसारघभोग इति, अत ए**वापी**त्युक्तम्. अनुक्त्यापि चक्षुभिरेव रूपदर्शनसम्भवे**नाक्षि**पदं किमर्थमित्याशङ्क्याहुः **गोपिकानामि**ति. ब्रह्मादीनां देवतात्वात् चक्षुःसंयोगं विनैव योगजधर्मप्रत्यासत्त्या सर्वदर्शनं तथैतासामपि देवतात्वस्य वक्ष्यमाणत्वादुक्तत्वाच्च सम्भवती**त्यक्षिभृङ्गै**रित्युक्तमित्यर्थः. **अत** इति, लावण्यामृतस्य गुणत्रययुक्तत्वेन बहुपानात् तस्मि**न्नन्तःपूर्णे** सति पूर्वश्लोकोक्त**स्तापो**नुपदोक्तचतुर्दशधर्मविरहजो **गच्छत्यान्तर** इत्यर्थः. **अन्यस्त्वि**ति 'कृष्ण' इति श्लोकोक्तो बाह्य इत्यर्थः. **त्रिविध** इति धर्मिविरहरूपाधिभौतिकपापजनितः आध्यात्मिकपापजनितः आधिदैविकपापजनितश्चेति. **सन्निधान एवे**ति, भगवता व्रजे एव कुतो न स्थीयते इत्यर्थः, तथा सति चतुर्दशापि धर्माः साक्षाद् दृष्टाः स्युरिति भावः. **व्रजस्य ही**ति,

योजना

रूपपरमानन्दस्याजन्यत्वात् तद्बोधनमेव करणमिति ज्ञेयम्. फलितमाहुः **सर्वप्रकरणेष्वि**त्यादिना. **अतोस्माभिरेतावत्कालं नानुभूत इति चिन्तये**ति.

विवेकरहिताः पराधीनाश्च. **तत्राप्यह्नि**, अहनि स्त्रीस्वभावोपि बाधकः. अतः परं ताभिर्मिलिताभिर्मध्यस्थिते भगवति यत् कर्तव्यं तद् वक्तुमशक्यमिति सङ्क्षेपेणाह **तत्सत्कृतिमि**ति. तासां सत्कारमनुभूय; परितः समालिङ्गनादि यावद् वा भगवद्वैभवेनापि शक्यं तत् सर्वं तासां सत्कारत्वेनोच्यते, **सम्यगधिगम्य** प्रत्येकं भिन्नतया तत् सुखमनुभूय सम्यक्तया ताः कृतार्थीकृत्य **गोष्ठं विवेश.** ननु कोयं तत्कृतःसत्कारः? लौकिकभोजनादिरपि चेत् तत्कृत एव पुनर्गोष्ठे समागमनं व्यर्थमेव स्यात् लौकिकं च बाध्येत, अतो विशिनष्टि **सव्रीडहासविनयमि**ति. **यदि**ति

लेखः

व्रजसम्बन्धित्वेनास्मदर्थमेव भगवान् प्रकट इति ज्ञानेन सर्वत्रैव यथेच्छं क्रीडितुमुचित इति विवेकराहित्याद् व्रजस्थितौ स्वाधीनत्वेन लीला अन्यास्ताभिर्बाध्येरन् स्त्रीत्वेन पराधीनत्वात् तास्वपि सा न सम्भवति. **ही**ति व्रजसम्बन्धिनीनां तादृशविवेकराहित्यं युक्तमेवेत्यर्थः. **तत्राप्यह्नी**ति, प्रतिबन्धकानां वनगमनादिना यथाकथञ्चित् समाधानसम्भवेपि मध्यमलीलात्वात् त्रपाद्यनुरोधेनैव सर्वं कर्तव्यं न तु निःशङ्कतयेति त्रपारूपः स्वभावोप्यह्नि बाधको भवति, निशि तु सर्वेषां शयानत्वेन स्वीयप्रतिबन्धकानां स्वपार्श्वस्थत्वमानेनेन च सर्वं सम्पद्यत इतिभावः. **लौकिकभोजनादिरि**ति अग्रे मात्रा कर्तव्यं दुग्धान्नभोजनमित्यर्थः. **भोजनमि**ति हेतुमण्णिजन्ताद्भावे ल्युट्. सन्ध्याभोगसामग्रीभोजनानन्तरं तु पयःपानं सार्थकमेवेतिभावः. **पुनर्गोष्ठे** इति, गोष्ठे गत्वा गाः स्थापयित्वा गृहे गत्वा रात्रिकं स्वीकृत्य तं वेषमुत्तार्य तत्समयोचितलघुवेषं विधाय फेनभोगार्थं पुनर्गोष्ठे समागमनमित्यर्थः. **लौकिकं चे**ति, लावण्यपानोक्त्या तत्कृतः सत्कारोपि तत्सजातीय एव वाच्यः, अतो लौकिकभोजनादिकं पाकादिवैयग्र्यात् पूर्वोक्तेन **बाध्यते**, अतोपि न तथेत्यर्थः. **विशिनष्टी**ति, **समधिगम्ये**ति क्रियां विशिनष्टीत्यर्थः. **यादृशी**ति विभावानुभावरहिता मुख्यरसमात्रानुभवरूपेत्यर्थः. **अलसादय** इति **च**स्त्वर्थे– एते तु अनुद्बुद्धरसदशायामेव सम्भवन्ति, तत्र च रसोद्बोधाय विभावानुभावा अपेक्षिताः, अतो

योजना

इदमनुशयानाया नायिकाया यद् लक्षणं रसशास्त्रे उक्तं तदत्र सिद्धं, पश्चात्तापकरणात्. **तत्सत्कृतिं समधिगम्ये**त्यत्र **लौकिकं च बाध्यते– लौकिकं** भोजनादि **तु बाध्यते** इह न सम्भवतीत्यर्थः, व्रजनागरीभिः शृङ्गाररससम्बन्धिसत्कारकरणस्यात्रोचितत्वात् ॥४३॥

विशेषतो वक्तुमशक्यम्. मुख एव रसः, तत्रान्धकारे यादृशी लीला सा व्यावर्त्यते **अपाङ्गानां मोक्षो** यत्रेति अलसादयश्**चापाङ्गाः.** कं कं प्रकारमभिनेष्यतीति प्रथमप्रकारापन्नाया एव तस्याधिभूतांस्त्रिविधान् रसानाह **सव्रीडहासविनयमि**ति– आदौ **व्रीडा** मध्ये पुष्टे रसे **हासो** रसान्ते च **विनयः**, तै सह वर्तमानं, प्रत्येकं बहुधायं रस इति दिव्यो भगवत्प्रभाव उक्तः. अनौचित्यपरिहाराय **सत्कृति**शब्दः, जगत्पूज्यत्वाच्च. भगवतो यथाधिकारं च पूजा. नन्वत्राप्यागतस्य तद् भवेदिति कथं मार्ग एव सत्कारस्वीकारो जात इतिशङ्कापरिहारार्थमाह **गोष्ठमि**ति, गवां बन्धनस्थानं तत्, तथापि भगवत्प्रभावाद् यथोचितम् ॥४३॥

तत्रापि सत्कारो जात इत्याह **तयोरि**ति.

तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।
यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥४४॥

साधारण इतिज्ञापनार्थमुभयोर्ग्रहणं, **यशोदारोहिण्यावि**ति लोके ख्यातिरुक्ता. **पुत्रयोरि**ति लौकिक एव भावः. प्रेमरहितं न गृह्णातीत्याशङ्क्य **पुत्रवत्सले** इत्युक्तम्. इच्छामप्यनतिक्रम्य कालमप्यनतिक्रम्य **परमाशिषो व्यधत्ताम्. कामः** स्वनिष्ठः. सन्ध्याकाले च परोक्षतयैवाशिषो वक्तव्या इति कालापेक्षानिरूपणम्. नमस्कारे कृतेऽकृते वा स्वस्य महित्वं स्थापितवत्याविति ज्ञापयितुमाशिषां निरूपणम् ॥४४॥

प्रकाशः

बन्धनस्थानमिति, तथा च भगवान् मार्ग एव रसं ददाति न तु संसाररूपे गृह इतिवस्तुस्थितिर्व्यज्यते ॥४३॥

लेखः

व्यावर्त्यतेऽनेन विशेषणेन. **सव्रीडे**त्यादि तु तमस्यपि सम्भवति, चेष्टयैव त्रितयबोधनसम्भवात्. **तस्ये**ति मुख्यरसस्येत्यर्थः. **अधिभूतानि**ति शरीरभूतानित्यर्थः. **सव्रीडे**त्यत्र व्रीडनं व्रीडः. इयं व्रीडा न निषेधिका किन्तूत्साहसंवर्धनेन रसार्थं प्रेरिका, "व्रीड चोदने लज्जायां चे"ति धातुपाठात्. अतः स्त्रीत्वविशिष्टस्य रूढ्या लज्जामात्रवाचकत्वेन स्त्रीत्वस्यात्राविवक्षितत्वात् न टाबिति प्रतिभाति. **गवामि**ति, तत्र गवां बन्धनार्थमन्येषामागमनावश्यकत्वेन ताभिरेव वेष्टनासम्भवादित्यर्थः ॥४३॥

योजना

गताध्वानश्रमौ तत्रेत्यत्र **मज्जनान्युन्मर्दनादीनी**ति मज्जनान्येव उन्मर्दना-

तत उपचारा **गताध्वानश्रमाविति**.

गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।
नीवीं वसित्वा रुचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥४५॥

मज्जनान्युन्मर्दनादीनि, उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानां, छान्दसः परनिपातः, मज्जनं वा पादयोः, मज्जने वोन्मर्दनादिना, रजोनिवृत्त्यर्थमादौ वा मज्जनंप्रातीतिकोयं श्रमः. **नीवीं** मल्लानामिव **रुचिरां** पीताम्बरादिनिर्मितां **दिव्येन**

लेखः

गताध्वानेत्यत्र नीवीमिति कच्छपटं पीतमित्यर्थः. ग्रन्थिमत्त्वेन मल्लकच्छसादृश्यं, धौत्रपरिधाने गोदोहनादौ तत् मुक्तं भवेदिति भावः. **मध्ये त्वि**ति. एतत्

योजना

दिनीत्यभेदे कर्मधारयो बोद्धव्यः. तदुपपादयन्ति **उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानामि**त्यनेन. बहुव्रीहौ कृते मज्जनान्येव उन्मर्दनादिरूपाणि, अन्यथा पूर्वं मज्जनं पश्चादुन्मर्दनमित्युक्तिर्बाध्येत, लोकविरुद्धत्वात् अरुचिसम्पादकत्वाच्च. बहुव्रीहौ कृते तु पूर्वमुन्मर्दनं पश्चात् मज्जनं सिध्यतीति युक्तमेव, लोके तथैव क्रियमाणत्वात् सुखदायकत्वाच्च. द्वन्द्वसमासमाश्रित्य पक्षान्तरेण व्याकुर्वते **छान्दसः परनिपात** इति, **उन्मर्दन**शब्दस्येत्यर्थः– मज्जनं च उन्मर्दनं चेति द्वन्द्वे कृते अजाद्यन्तमित्यनुशासना**दुन्मर्दन**शब्दस्य पूर्वनिपातोऽपेक्षितः, स छान्दसत्वाद् बाधितः किन्तु परनिपात एव जात इत्यर्थः. अस्मिन् पक्षे मज्जनोन्मर्दनयोः पूर्वापरभावो नास्ति किन्तु यथोचितं मज्जनोन्मर्दने इति उन्मर्दनमज्जनयोः (न!) पूर्वापरभाव इत्यर्थः. **मज्जनं वे**ति, **मज्जन**शब्दस्य पूर्वं कथितत्वात् पूर्वं मज्जनमेव वाच्यमितिपक्षे तु चरणारविन्दमात्रमज्जनं **मज्जन**पदेन ग्राह्यं, तच्चोन्मर्दनात् पूर्वमेव, वनादागतस्य कृष्णस्य चरणारविन्देषु रजःसम्बन्धोस्ति तस्य दूरीकरणस्य पूर्वमेवोचितत्वात्. ततः पादयोर्मज्जनानन्तरं सर्वत्रानन्दमयविग्रहे उन्मर्दनं, ततः स्नानं त्वर्थात् प्राप्तमतो नोक्तम्, **आदि**शब्देन वा ग्राह्यम्. एवं सति बोधसौकर्याभावजन्मामरुचिं मत्वा पक्षान्तरेण व्याकुर्वते **मज्जने वा उन्मर्दनादिना** इति, सप्तमीतत्पुरुषः, सप्तमी निमित्ते, मज्जननिमित्तं यानि उन्मर्दनादीनीत्यर्थो भवति. एवं सति सौकर्यं शब्दसाधनेऽर्थबोधने चेति ज्ञातव्यम्. **रजोनिवृत्त्यर्थं आदौ वा मज्जनमि**ति. आदौ मज्जनं सकलानन्दविग्रहस्य, तत उन्मर्दनं, ततः पुनर्मज्जनं **आदि**शब्देन ग्राह्यम्. पूर्वं चरणमात्रमज्जनमुक्तम्, अस्मिन् पक्षे सकलाङ्गस्य मज्जनं वारद्वयमिति विवेकः[१] ॥४५॥

---

[१] अत्र ‘प्रातीतिकोयं श्रम इति’ इत्यधिकं आदर्शद्वये तथापि प्राचीनादर्शे तत् नास्ति.

स्रग्गन्धादिना च **मण्डितौ** जातौ मध्ये त्वधिकारिदेवैस्तथा कृतौ ॥४५॥

जनन्योपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।
संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥४६॥

पश्चा**ज्जनन्योपहृतं प्राश्ये**ति रोहिण्या समानीतं, प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनं, असमासाद् द्रव्यमेकमेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यम्.

टिप्पणी

मध्ये त्वधिकारिदेवैरिति तु परोक्षकथनं वेदितव्यम् ॥४५॥

प्रकाशः

गताध्वानेत्यत्र मध्ये त्वित्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्मध्ये त्वधिकारी**त्यादि ॥४५॥

लेखः

कार्यं गोप्यत्वात् सर्वत्र सङ्क्षेपेणैवोच्यते, अतः स्वमार्गीयसेवारीतिसिद्धं फेनभोगादिकं तत्र नासाभूषणोत्तारणादिकं च सर्वमेवास्तीति ज्ञेयम्. पूर्वश्लोके जननीकृतत्वमुक्तमग्रिमश्लोकेपि तथा, मध्येऽस्मिन् श्लोके जननीकृतत्वानुक्त्या तैरेव **तथा कृतावि**त्यर्थः ॥४५॥

रोहिण्या समानयने हेतुः **प्रायश** इति. **बलभद्रेणैवेत्येव**कारेणान्ये बालका व्यावर्तिताः, तथा सति तज्जनन्योप्यानयेयुः. व्यावृत्तौ हेतुः **असमासादि**ति. समसनं समासः आवेशेन सम्यक्तया स्थितिरित्यर्थः, अन्यैः सह तदभावात्. अतो ‘जननीभिरि’ति बहुवचनान्तेन न समासः. लीलार्थं कदाचिदन्यैरपि सह सम्भवतीति **प्रायश** इत्युक्तम्. तर्हि यशोदया समानीतमिति कुतो नोच्यत इत्याशङ्क्याहुः **द्रव्यमि**ति.

योजना

जनन्योपहृतं प्राश्येत्यस्य विवरणे **रोहिण्या समानीतमि**ति. **जननी**शब्दो रोहिणीवाचकः, तस्माद् इह **जननी**पदेन रोहिण्येवायाति, बलदेवनिरूपितजननकारणत्वं तत्रैव, यतः बलदेवस्य गृहीतजन्मत्वात्. अत एव “अयं वै रोहिणीपुत्र” इत्यत्र रोहिणीपुत्रत्वनिश्चयार्थं **वै**पदं, व्याख्यातं च सुबोधिन्यां तथैव. अतो बलदेवे जननधर्मस्य विद्यमानत्वात् तत्कारणीभूता रोहिणी **जननी**पदवाच्या. यशोदा तु न **जननी**पदग्राह्या, भगवति जननधर्मस्याभावेन तन्निरूपितजननीत्वस्य श्रीयशोदायामभावात्. अत एव “अयं वै रोहिणीपुत्र” इत्यस्य विवृतौ “यदि भगवान् केनाप्यंशेन प्राकृतो भवेद् याशोदेयः दैवकेय इति नाम भवेद्” इत्युक्तम्. अतो न यशोदा **जननी**पदवाच्येति **जननी**पदेन रोहिण्येव ग्राह्येत्याशयेन **रोहिण्या समानी-**

प्राश्येति कोमलदुग्धान्नादिकं सूचितम्. तत **उपलालितौ** पित्रादिभिः सर्वैरेव, सर्वेषामनुग्रहार्थमेवमुक्तम्. **वरशय्यायां संविश्येति** रात्रिकृत्यमुक्तं, जनन्यादिभिः सह शयननिषेधार्थमुक्तं **सुखं सुषुपतुरिति**. लीलाह्निकी सम्पूर्णा निरूपिता, व्रजे हि नात्यन्तं धर्मप्रधानता, अतो न रात्रिकृत्यं किञ्चिदुक्तम्. व्रजस्यानुक्तिसिद्धत्वेपि कथनेन सम्पूर्णे व्रजे स्वप्रियाभिः सह शयनं सूच्यते ॥४६॥

प्रकाशः

[1]**जनन्योपहृतमित्यत्र नात्यन्तं धर्मप्रधानतेति**, किन्त्वत्यन्तं धर्मिप्रधानतेति भावः ॥४६॥

लेखः

कोमलदुग्धान्नादिकमिति सुशृतं दुग्धमन्नादिकं चेत्यर्थः. **आदिपदेन** शाकः सन्धिताम्रार्द्रादि चेति. **व्रजे हीति**, पूर्वनाडीचतुष्टयावधि न सुप्तव्यमिति **धर्मस्तत्प्रधानता न** किन्तु "निशि शयानमतिश्रमेणे"तिवाक्यात् शीघ्रमेव शयनम्. अतो दिवा सुखस्वापार्थं व्याजेन वनगमनवद् रात्रौ महत् चरित्रं नापेक्षितं किन्तु माययैव तदज्ञानेन पार्श्वस्थत्वमाननेन तत्सिद्धिः. अत **सुखं सुषुपतुरि**त्येवोक्तं **न** तु तदर्थमन्यत् **किञ्चिदुक्तमि**त्यर्थः ॥४६॥

योजना

तमित्युक्तम्. **प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनमसमासादि**ति, **जनन्योपहृतं प्राश्ये**त्यत्र **जनन्ये**त्यसमासादित्यर्थः. समासे हि जनन्या उपहृतं जनन्युपहृतं जननीभ्यां वा उपहृतं जनन्युपहृतं इति स्यात्, तथा च यशोदारोहिण्योरुभयोरपि ग्रहणं स्यात्. यद्यपि भगवति जननधर्माभावाद् यशोदायां जननीत्वांशो नास्ति ततश्च **जननी**पदेन यशोदाया ग्रहणं न भवेत्, तथापि जननप्रसिद्धिमादाय जननीत्वसिद्धेर्जननीभ्यामुपहृतं जनन्युपहृतम्' इतिसमासे कृते यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात्. परन्तु **जनन्योपहृतमि**ति पाठादसमासे एकया जनन्या उपहृतमित्यर्थो भवति. सा जननीत्ववती तु रोहिणी, तया उपहृतं उभाभ्यां रामकृष्णाभ्यां प्राशितम्. यदि उपहरणे यशोदाया अपि ग्रहणं स्यात् तदा यशोदया पृथक् भोजितो भगवानित्यर्थो भवेत्. प्रकृते तु **जनन्ये**कवचना, तेन असमस्तपदेन पूर्वोक्तरीत्या रोहिणीमात्रग्रहणात् तयैकया समानीतम् उभाभ्यां प्राशितमित्युक्तं भवति. ततश्च भगवतो बलभद्रस्य चैकत्रैव भोजनमायातीति युक्तमुक्तं **सहैव भोजनमि**ति. **अतो न रात्रिकृत्यमुक्तमि**ति. **सुखं सुषुपतुरि**ति वाक्यात् शयनमात्रमुक्तं भगवतस्तथैव गोपानामपि

---

[1] जनन्यु°.

एवमाह्निकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैषयिकं भगवत्कृत्यं वक्तुं कालीयह्रदगमनार्थं प्रस्तावनामा**हैवं स भगवानि**ति.

एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।
ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥४७॥

एवं निरोधार्थं **वृन्दावनचरो** भगवान् जातः. तत्र हेतुः **स भगवानिति– स** इति निरोधार्थमेवागतः, **भगवानि**ति सामर्थ्यम्. **कृष्ण**इति नाम्ना "ऽनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथे"तिवाक्यार्थं बोधयितुं प्रवृत्तिरुचितेति. **क्वचित्** कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे वा तत्कार्यं स्वसाध्यमेवेति ज्ञात्वा **राममृते कालिन्दीं ययौ.** वनं ह्युभयत्रापि भवति– पर्वतसमीपे कालिन्दीसमीपे च. तत्र निदाघे प्रायशः कालिन्दीसमीप एव गोचारणम्. **सखिभिर्वृत** इति तेषां समानशीलतोक्ता, अपरिहार्यतापि, अन्यथा भगवान् स्वयमेव गच्छेत् ॥४७॥

एवं सम्भूय गतानां मध्ये भगवानन्यत्रैव स्थितः, भिन्नप्रक्रमेणैव गावो

लेखः

वैषयिकमिति– "विषयास्तद्विषमि"त्युक्तत्वाद् विषकार्यमरणनिवर्तकमित्यर्थः. **एवमि**त्यत्र **एवमि**त्यस्य विवरणं **निरोधार्थमि**ति. **तत्कार्यमि**ति तनुनवत्वसम्पादनमित्यर्थः. **स्वसाध्यमेवे**ति, सङ्कर्षणस्य प्रलयकर्तृत्वात् तस्मिन् विद्यमाने तद्विरुद्धं नूतनदेहोत्पादनं न भवेदित्यर्थः ॥४७॥

अथेत्यस्याभासे **इत्याहे**ति **इति** हेतोर्जलपान**माह**, भगवता सह गमने तु तादृशं जलं न पिबेयुरित्यर्थः. **अथे**त्यनेनोक्तं भिन्नप्रक्रमं विवृण्वन्ति **क्वचिदि**त्यादिना ॥४८॥

योजना

कृत्यन्तरस्यानुक्तेः शयनमात्रमायाति. ततश्च **नास्ति धर्मप्रधानते**त्यवगम्यते. यदि धर्मप्रधानता स्यात् तदा दिवसे कार्यव्यापृत्या धर्मकरणाभावेपि रात्रौ कथाश्रवणादिकं स्यात्. तदपि नास्तीति केवलं धर्मिप्रधाना एवेति सर्वसाधनरहिता प्रमेयबलेनैव कृतार्था भविष्यन्तीति भावः. यद्यपि "वर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते" इति वक्ष्यमाणत्वाद् गोपानां रात्रौ भगवत्कथाश्रवणकीर्तनादिकमस्ति तथापि तत् केषाञ्चिदन्तरङ्गानामेव गोपानां न तु सर्वेषामतः सर्वस्य व्रजस्य तु "अह्न्यापृतं निशि शयानमतिश्रमेणे"तिवाक्याद् दिवा व्यवहारकार्यं रात्रौ शयनमिति **न धर्मप्रधानता** किन्तु सर्वसाधनराहित्येन केवलं भगवत्यविहितस्नेहेन धर्मिमात्रपरतेत्येतेषां कृतार्थता भगवत्प्रमेयबलेनैवेति सर्वं सुस्थम् ॥४६॥

गोपालाश्च गता इत्याहाथेति.

अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।
दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥४८॥

क्वचिद् वृक्षच्छायायां भगवन्तं स्थापयित्वा "जलं पाययित्वा पीत्वा चागमिष्याम" इत्यभ्यनुज्ञाय दूरेऽगन्तव्यमिति बोधिता अपि विशेषतो न निषिद्धा **निदाघातपेनात्यन्तं पीडिता दुष्टं तस्या** यमुनाया **जलं पपुः**. सा हि यमभगिन्यतो दुष्टायापि स्थानं दत्तवती. स च दोषो न तस्याः किन्त्वन्यकृत इत्याह **विषदूषितमिति**, विषेणात्यन्तं दूषितम्. उष्णस्पर्शादिनापि दूष्यते तदर्थं विशेषः ॥४८॥

पानफलमाह **विषाम्भ** इति.

विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।
निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥४९॥

उपस्पर्शनं पानस्नानादिकं स्पर्शमात्रं वा, तावतैव **सर्वे व्यसवः सलिलान्त** एव **निपेतुः**. ननु तेषां जीवनादृष्टस्य विद्यमानत्वात् कथं व्यसवो जाताः? तत्राह **दैवोपहतचेतस** इति– तेषां हि तावदेव जीवनादृष्टमतो दैवेनैवोपहतचेतसः सलिलसमीपेऽर्धजल एव निपेतुः. यद्यपि दोषो दूरीकृतो धेनुकवधेन तथापि पूर्वसन्ततिरपि दूरीकर्तव्या. दुष्टेनैव हि दोषाणां नाशो भवत्यलौकिकसुकृतेन च दिव्यभावोत्पत्तिः. विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥४९॥

ततो भगवत्कृत्यमाह **वीक्ष्येति**.

वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥५०॥

स्वभावतोपि जानाति तथापि क्रीडायां साधनं वक्तव्यमिति **योगेश्वरेश्वर**

प्रकाशः

वीक्ष्य तानित्यत्र योगेश्वरश्चासावीश्वरश्चेति कर्मधारयो योगेश्वराणामीश्वर इति षष्ठीतत्पुरुषो वा. तत्र प्रथमपक्ष ईश्वरत्वेन सर्वहितकर्तृत्वं च. द्वितीयपक्षे योगेश्वराणां ब्रह्मसुखानुभवयोग्यतावत्त्वात् सुखस्य चैतदधीनत्वादीश्वरत्व-

लेखः

विषाम्भ इत्यत्र **पूर्वसन्ततिरि**ति. देहाध्यासस्य निवृत्तत्वाद् देहान्तरं तु नोत्पत्स्यते परन्तु पूर्वं जाता या स्थूलदेहरूपा लिङ्गशरीरस्य सन्ततिः सापीत्यर्थः. **अलौकिकसुकृतेने**ति ततः प्रतिफलितेन भगवत्कृतेनेत्यर्थः. तादृशानामेव साधकत्वं "मेघगम्भीरया वाचे"त्यत्र व्युत्पादितम् ॥४९॥

इत्युक्तम्. योगस्यापि नियन्ता, योगेन हि सर्वेषां ज्ञानं भवति, तत्राप्ययं नियामकः, किंपुनः स्वज्ञाने वक्तव्य इत्यर्थः. योगेश्वराणामपीश्वर इत्युपदेष्टॄणामप्ययं नियामक उक्तः, तत्र हेतुः **कृष्ण** इति, सदानन्दः. **तान्** निरोधार्थमानीतान् **वै** निश्चयेन **तथाभूतान्** न तु मूर्च्छितान् स्वयमागत्य **वीक्ष्य** वीक्षणेन नूतनदेहान् निर्मा**यामृतवर्षिण्येक्षया समजीवयत्.** सर्वे हि प्राणा अमृता आधिदैविकाः, तान् दृष्ट्यैवानीय तेषु देहेषु वर्षति स्म. नन्वेतावत्करणे को हेतुः? तत्राह **स्वनाथानि**ति. **सम्यगजीवयदि**ति पुनर्विषसम्बन्धेपि न तेषां काचित् क्षतिः ॥५०॥

तेषां पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं तद्रूपतां च प्रतिपादयति **त** इति.

ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् ।
आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥५१॥

त एवैते जीवाः, **सम्यक् प्रतीता स्मृति**र्येषाम्– अनुसन्धानं प्राप्तमेव भवति परं सर्ववृत्तान्तपुरःसरं न भवतीत्याधिदैविकभावमापन्नाः सर्वे स्मृतियुक्ता जाताः. अतः **समुत्थाय** जलसमीपं परित्यज्य प्रदेशान्तरं गताः **सुविस्मिता** जाताः. एतावान् भावो भगवता विशेषः कारितोऽतो विस्मयो, भगवद्भावस्य निवृत्तत्वात्. ततः **सर्वे परस्परं वीक्षमाणा** प्रत्येकमुद्बोधका इव जाताः ॥५१॥

प्रकाशः

मित्यभिप्रायेणाहु**स्तत्रे**त्यादि ॥५०॥

त इत्यत्र **प्राप्तमेव भवती**ति, देहान्तरप्राप्तावपि स्तनपान इष्टसाधनत्वज्ञानव-

लेखः

वीक्ष्येत्यत्र **सर्वे हि प्राणा** इति, "जीव प्राणधारण" इति धातोरिति भावः. **आधिदैविका** इति आसन्यरूपा भगवदर्थकोद्गानकर्तार इत्यर्थः, इदं वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे सम्यग् व्युत्पादितम्. **तेषु देहेष्वि**ति नूतनलिङ्गकेष्वित्यर्थः ॥५०॥

त इत्यत्र **अत** इति सर्वस्मृतियुक्तत्वादित्यर्थः. एतस्य **सुविस्मिता** इत्यनेनान्वयः, मध्ये स्वरूपकथनम्. अत्र पञ्चम्युक्त्या **जलान्तिकात् समुत्थाय** अन्यत्र गत्वेत्येवमर्थ उक्तः. **एतावानि**ति तनुनवत्वरूपो **भाव** इत्यर्थः. **अत** इति, कार्यस्य दृष्टत्वात् कारणस्य चाज्ञानात् कुत इदं जातमिति विस्मय इत्यर्थः. कारणाज्ञाने हेतुमाहुः **भगवद्भावस्ये**ति. अलौकिकदेहाः सत्यज्ञानानन्दरूपा इति फलाध्याये निरूपितं; भगवता भक्तिमार्गीयलीलासिद्ध्यर्थं तेषां तत्त्वं निवर्तितं हस्तपिहितमिव कृतमतोऽज्ञानमित्यर्थः. अग्रिमश्लोके उत्प्रेक्षां वक्ष्यति तत् न याथार्थ्यज्ञानमिति भावः ॥५१॥

अत एवोद्बुद्धज्ञानाः पूर्वसिद्धं सर्वमेव ज्ञातवन्त इत्याहान्वमंसतेति.

अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।
पीत्वा विषं परेतस्य पुनरुत्थानमात्मनः ॥५२॥

स्वयमेवानुमानं कृतवन्तः प्रायेणैवं भविष्यतीत्युत्प्रेक्षितवन्तः, भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वात्. **राजन्निति** स्नेहसम्बोधनम्. तदग्रे वक्ष्यमाणं; **गोविन्दस्यानुग्रहेणेक्षणं** यत्रेति तद् ज्ञातवन्तः. तदाह **विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः** स्वस्य **पुनरुत्थानमिति**, भगवत्कृपावीक्षणेनैव जातमिति ज्ञातवन्तः. एवं ज्ञानपूर्णो देहस्तैः प्राप्त इति प्रथमो निरोधो निरूपितः ॥५२॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिन्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणेऽवान्तरप्रमेयप्रकरण ऐश्वर्यनिरूपकप्रथमाध्यायस्य
स्कन्धादितः द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

प्रकाशः

दित्यर्थः. विस्मये हेतु**र्भगवदिति** ॥५१॥

अयं चैश्वर्याध्याय इत्यस्मिन्नध्याय ऐश्वर्यलीला. तच्चैश्वर्यं प्रथमश्लोक एव कौमारपौगण्डादिकालाभिमानिनां भगवत्सेवार्थमागतत्वेन व्याख्यानाद् द्योतितमग्रे च भगवता बलदेवे स्वधर्मबोधनात् समाप्तौ च गोगोपानां स्वदृष्ट्या जीवनाच्च मूल एव स्फुटीकृतं बोध्यम्.

॥ इति श्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकतानश्रीयदुपतितनुजपीताम्बरविरचिते
दशमस्कन्धश्रीसुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

लेखः

अन्वमंसतेत्यत्र **अन्वमंसते**त्यस्योत्प्रेक्षापरत्वेन व्याख्याने हेतुमाहुः **भगवद्वैभवस्ये**ति. भगवत्त्वस्य निवृत्तत्वेन 'नूतनदेहान् निर्माये'त्यादिनोक्तस्य **भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वाद**नुग्रहेक्षणहेतुकत्वानुमितिर्न सम्भवतीत्युत्प्रेक्षाया एवानुमितित्वमुक्तं, "परोक्षज्ञानस्यैवानुमानत्वमिति ब्रह्मवाद" इत्युक्तत्वात् ॥५२॥

॥ इति द्वादशोध्यायः ॥

॥ द्वितीयः स्कन्धादितः त्रयोदशोध्यायः ॥

इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यवः समुदाहृताः ।
त एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि ॥(१)॥
अतस्तदुपमर्दोत्र निरूप्यो हि त्रयोदशे ।

प्रकाशः

अथ त्रयोदशाध्यायं विवरिषवोस्मिन् प्रकरणे समस्तानां मध्यमनिरोधस्य वक्तव्यत्वात् तदङ्गत्वेन पूर्वाध्याये देहाध्यासात्मकधेनुकस्य वधो निरूपितोत्र तादृशस्येन्द्रियाध्यासस्य निष्कृतिं निरूपयतीत्याहु**रिन्द्रियाणी**तिसार्धेन. "अत्रात्र वै मृत्युर्जायित" इतिश्रुत्युक्ते नानामृत्युपक्षे **समस्तानामिन्द्रियाण्ये**व "विषयेन्द्रियसंयोगादि"तिगीतावाक्योक्तविषतुल्यपरिणामक-राजससुखजनकत्वात् **मृत्यवः समुदाहृतास्ते मृत्यव एव हि** विषयाविष्टत्वाद्धेतो**र्विषपूर्णानि कालीयशिरांस्यतो** हेतोस्त**दुपमर्दोत्र** त्रयोदशेध्याये [१]**निरूप्यते.** तथा च हेतुतागर्भः प्रसङ्गः सङ्गतिरित्यर्थ. अत्र

लेखः

त्रयोदशेध्याये **समुदाहृता** इति, "शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय" इत्यत्रेन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः. **त एवे**ति. पूर्वाध्याये गोपमृत्युजनकविषपूर्णत्वेन तन्मृत्युरूपेन्द्रियरूपत्वं कालीयस्योक्तम्, अत्र रोषेण विषमुच्चैः स्थापितवान्, अत एवाक्षिभिर्गरलोद्गमनम्. अतस्तेनैव हेतुना शिरसामिन्द्रियरूपत्वं, देहस्यालौकिकत्वसम्पत्त्या तत्र प्रवेष्टुमशक्नुवन्ति. सविषयेन्द्रियाणि मृत्युरूपत्वेन साजात्यात् कालीय-

योजना

त्रयोदशाध्यायार्थोक्तौ **कालियस्य शिरांसि हीति**. कृष्णोपनिषत्सु कृष्णावतारे वध्यानां दोषरूपता निरूपिता तन्न्यायेन निगृह्याणामपि स्वरूपं किञ्चिद् विलक्षणं वाच्यमतो धर्मसाम्यात् चरित्रसाम्याच्च यस्य यद्दोषरूपत्वं तदवगम्यते. द्वादशाध्यायविवृतौ "कालीय इन्द्रियाण्याहुरि"त्यस्य टिप्पण्यां तदुपपत्तिर्निरूपिता.

कारिकार्थः

त्रयोदशेध्याये **इन्द्रियाणी**त्यादि. **समुदाहृता** इति "शतायुः पुरुष शतेन्द्रिय" इत्यत्र इन्द्रियत्वेन मृत्यव उक्ता इत्यर्थः. **त एवे**ति, **ते** इन्द्रियरूपा **मृत्यवः एव कालीयस्य विषपूर्णानि शिरांसि** ज्ञेयानि (१). **अत** इत्यादि. **अत** इन्द्रियरूपत्वा-

---

[१] निरूप्यो हि.

सन्तुष्टो भगवांस्तेषु स्वलीलां चेत् करोति हि ॥(२)॥
भक्तिमार्गानुसारेण निस्तारो नान्यथा भवेत् ।

प्रकाशः

समस्तपदं गोपपरं ज्ञेयं, तेषामेव निरोधस्य चिकीर्षितत्वादिति. ननु कालीयशिरांसि चैतेषामिन्द्रियाणि तदा तदुपमर्दे भगवतस्तत्सम्बन्धो वक्तव्यः स च "पराञ्चि खानी"तिश्रुत्या विरुध्यत इत्युपमर्दो न सम्भवतीत्युपमर्दासम्भव इत्यत आहुः **सन्तुष्ट** इत्यादि. **हि** यतो हेतोः **सन्तुष्टो भगवांस्तेषु लीलां चेत् करोति** तदा **भक्तिमार्गानुसारेण** तेषां **निस्तारो भवेत् नान्यथा** न प्रकारान्तरेण. तथा च यथा ध्रुवस्य "तिरोहितं सहसैवोपलक्ष्य पुरःस्थितं तदवस्थं ददर्शे"तिवाक्यात् पराचा चक्षुषा दर्शनं तथात्र भक्तिमार्गानुसारेण संसारनिस्तारस्य चिकीर्षितत्वात् पराचामपीन्द्रियाणां सम्बन्ध उपमर्दश्चेति मार्गभेदान्न श्रुतिविरोध इत्यर्थः. ननूपमर्देपि स्वभावनाशाभावात् पुनश्चेद् विषयसम्बद्धानि स्युस्तदा कृतोपि स निष्फल इत्यत

लेखः

शिरःसु स्थितानि. सङ्घातस्य विषसम्बन्धे देहस्य पात इन्द्रियाणां विषद्वारा कालीये स्थितिरिति भावः. **अत** इति इन्द्रियरूपत्वादित्यर्थः. **उपमर्दो** दोषनिवृत्त्या नवत्वसम्पादनं, **ही**ति तनुनवत्वानन्तरमिन्द्रियनवत्वमुचितमित्यर्थः. **सन्तुष्ट** इति. एवं **चेत् करोति** तदा **भक्तिमार्ग**रीत्या तनुनवत्वरूपो **निस्तारो भवेद्,** अन्यथा

योजना

अतस्तदुपमर्द इति. विषयरूपविषपूर्णानामिन्द्रियाणामुपमर्द एव कर्तव्यो न स्वरूपतो नाशः, स्वरूपनाशे भजनं न स्यात्. उपमर्दाभावे संसारासक्तिः स्याद्, अतः संसारासक्तिनिवारणाय कालियशिरसाम् उपमर्दः कृतः इति सारम्. **सन्तुष्ट** इत्यारभ्य **नान्यथा भवेदित्यन्तम्. तेषु** विषयासक्तेन्द्रियेषु **स्वलीलां** नृत्यादिरूपां **चेत् करोति** तदा इन्द्रियवतो **निस्तारो** भवति. **भक्तिमार्गानुसारेणे**ति अनुजिघृक्षया स्नेहेनेत्यर्थः. अत एव भगवता भक्तिमार्गरूपचरणारविन्दाभ्यां कालियशिरस्सु नृत्यलीला कृतेति ज्ञेयम्. तथा चायमाध्यात्मिकः पक्षः सिद्धः— यदा जीवस्य विषयासक्तेन्द्रिये भगवद्रमणं भवेत् तदा जीवः कृतार्थो भवेदिति (१-३).

कारिकार्थः

दुपमर्द एव युक्तो न तु नाश इति भावः. शिरस्सु नृत्यप्रयोजनमाहुः **सन्तुष्ट** इत्यादि. अन्यथेन्द्रियाणामलौकिकत्वं न स्यात् किन्तु ज्ञानमार्गानुसारेण इन्द्रियादिसङ्घातराहित्य-

तेषां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्चेत् कृष्णस्य सर्वथा ॥(३)॥
ततोऽञ्जसैवेन्द्रियाणि भवन्त्याज्ञावशे हरेः ।
तदैव विषयश्चापि हरेर्भवति सर्वथा ॥(४)॥
सर्वोपयोगरहितः पूर्वसम्बन्धहानतः ।

टिप्पणी

त्रयोदशेध्याये प्रकरणतात्पर्योक्तौ **परीक्षैवेन्द्रियाणामि**त्यादि. ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः, "तं नागभोगे"त्यादिनोक्तलीलात्वयुक्ता, उत्पाताश्चानुपपन्नाः, वस्तुतो हेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **परीक्षे**त्यादिना. कृतो

प्रकाशः

आहु**स्तेषामि**त्यादि द्वयम्. **तेषामिन्द्रियाणां प्रपञ्चो** वृत्तिरूपो विस्तारः **कामिन्यो** नागपत्न्य**स्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य** भवन्ति **तत एवेन्द्रियाण्यञ्जसा हरेराज्ञावशे भवन्ति तदैव विषयोपि सर्वथा**[1] **पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितो हरेर्भवति.** तथा चेन्द्रियोपमर्दे तद्वृत्तीनां सर्वथा भगवदधीनत्वाद् विषयस्य चान्योपयोगराहित्यात् नोपमर्दवैयर्थ्यमित्यर्थः (१-४ $\frac{१}{२}$).

परीक्षेत्यारभ्य **प्रेरितवानि**त्यन्तस्यार्थं टिप्पण्यां व्युत्पाद्य विवृण्वन्ति **नन्वि**त्यादि. तथा च "तन्नागभोगे"त्यादीनां परीक्षाहेतुत्वान्नानुपपत्तिरित्यर्थः. **तादृश-**

लेखः

ज्ञानमार्गरीत्या **न भवेत्** सङ्घातराहित्यमेव स्यादित्यर्थः. **तेषामि**ति इन्द्रियाणां विषयरूपो विस्तरः **कामिन्यो,** विशेषतस्तास्वेव विषयानुभवात् (१-३).

इन्द्रियाणां हीति स्वेन्द्रियाणामित्यर्थः. **तत** इति स्वेन्द्रियाणां कार्याप्रकटन-

कारिकार्थः

मेव स्यादित्यर्थः. **तेषामि**त्यादि. **तेषामिन्द्रियाणां** विषयरूपो विस्तारः **कामिन्यो** नागपत्न्य**स्ताश्चेत् सर्वथा कृष्णस्य भवन्ति तत एवेन्द्रियाणि अञ्जसा हरेर्वशे भवन्ति, तदैव विषयोपि पूर्वसम्बन्धहानतः सर्वोपयोगरहितः हरेर्भवति.** तथा च इन्द्रियाणां विषयाणां च भगवदीयत्वसम्पादनमेव प्रकृतलीलाप्रयोजनमिति भावः. ननु कालीयस्य भक्तापराधित्वेन निग्रह उचितः, "तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमि"त्यादिनोक्तलीला त्वयुक्ता उत्पाताश्चानुपपन्नाः, वस्तुतः कालादिभयरहिते

---

[1] सावस्थः.

परीक्षैवेन्द्रियाणां हि निग्रहं कुरुते हरिः ॥(५)॥
परीक्षार्थं ततो देवः कालं प्रेरितवांस्तथा ।
स्वासक्तिश्चापि कर्तव्या निरोधे मध्यमे महान् ॥(६)॥

टिप्पणी

निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षैवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः. अत्रोपपत्तिं वदन्त एव "तं नागभोगे"त्यादितात्पर्यमाहुः **इन्द्रियाणां हीति**. **हि** यस्माद्धेतोस्त**न्निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुते** इति सम्बन्धः. मृत्योरप्यधिकपीडाजनको दण्डो **निग्रह**शब्देनोच्यते. भगवतः स्वेन्द्रियकार्याप्रकटनमात्रमेव गोकुलवासिनां तादृशं पूर्णे निरोधे भवेन्नान्यथेति तज्ज्ञापनार्थं तथात्मानं प्रदर्शितवानित्यर्थः. उत्पातोपपत्तिमाहुः **ततो देव** इति. **देव**पदेनाधिदेवरूपः काल उच्यते. स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ **प्रेरितवानि**त्यर्थः. अत एव "त्रिविधा" इत्युक्तम् (५-६).

प्रकाशः

मिति निग्रहरूपम्. सुबोधिन्यां नन्वन्यपरीक्षाकरणं भवतु नाम, मुख्यभक्तेन्द्रियपरीक्षाकरणं तु नोचितं, सर्वथा दोषराहित्यादनुभूतत्वाच्चेत्यत आहु**स्तथा स्वासक्तिश्चापि कर्तव्ये**ति. यथान्येषां साधारणानां परीक्षा कर्तव्या तथा मुख्यभक्ताना**मासक्तिश्चापि कर्तव्या,** पूर्वाध्यायोक्तनिरोधस्य स्नेह एव पर्यवसानादिति. किञ्च **मध्यमे निरोधे**

कारिकार्थः

भगवत्युत्पातहेत्वभावादित्याशङ्क्य तत्तात्पर्यमाहुः **परीक्षे**त्यादिना. **परीक्षे**त्यनन्तरं निरूप्यत इति शेषः, तथा च कृतो निरोधः सम्पन्नो न वेति परीक्षैवास्मिन्नध्याये निरूप्यत इत्यर्थः. तत्रोपपत्तिं वदन्त"स्तं नागभोगे"त्यादिनोक्तभक्तपीडाजनकलीलातात्पर्यमाहु**रिन्द्रियाणां हीति**. **हि** यतो हेतो**रिन्द्रियाणां निग्रहं परीक्षार्थं हरिः कुरुत** इति सम्बन्धः. अत्रे**न्द्रिय**पदं भगवदिन्द्रियपरं **निग्रह**पदं च भगवदिन्द्रियाणां स्वकार्याप्रकटनपरं, तथा च भगवान् "तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमि"त्याद्युक्तप्रकारेण स्वेन्द्रियाणां स्वकार्याप्रकटनरूपं निग्रहं यत् कृतवान् स निग्रहो भक्तानां पीडाजनकदण्डरूपो जात इति **निग्रह**पदं, तथा च भगवतः स्वेन्द्रियकार्याप्रकटनं मृत्योरप्यधिकपीडाजनकनिग्रहरूपं भक्तानां पूर्णे निरोधे सत्येव भवेत् नान्यथेति पूर्णनिरोधपरीक्षार्थमेव तथात्मानं दर्शितवानित्यर्थः. उत्पातोत्पत्तिमाहु**स्ततो देवः कालं प्रेरितवानि**ति. **देव**पदेनाधिदेवरूपः काल उच्यते, स च भगवद्रूपः स्वयमाध्यात्मिकाधिभौतिकौ प्रेरितवान्. अत एव "त्रिविधा" इत्युक्तं मूले. **स्वासक्तिरि**ति. केषाञ्चिद् भक्तानां

यत्नः कर्तव्य इत्येव मुग्धभावं चकार ह ।
कथामात्रत्वाभावाय सङ्क्षेपेणाह तां पुरा ॥(७)॥
अक्लिष्टकर्मा भगवान् ज्ञापयामास लीलया ।

प्रकाशः

महान् यत्नश्च कर्तव्य इतिहेतोर्हरि**रेव**[1] तु **मुग्धभावं चकार ह. हे**ति हर्ष आश्चर्ये वा. तथा च मुख्यभक्तेषु परीक्षणीयत्वाभावेप्यासक्त्यर्थमन्येषु निरोधयत्नार्थं तथा करणमिति न दोष इत्यर्थः. नन्वियं कथा प्रासङ्गिक्युक्ता न तु निरोधसाधिका, मूले तदिन्द्रियनिरोधस्यानुक्तत्वादत आहुः **कथे**त्यादि. **कथामात्रत्वाभाव**ज्ञापनाय **तां** विशुद्धिं **पुरा सङ्क्षेपेणाह**, अर्थात् पश्चाद् विशेषेणातोत्रापीन्द्रियनिरोधोभिप्रेत इति विशेषकथनान्यथानुपपत्त्यावसीयतेऽतो न दोष इत्यर्थः (५-७).

ननु परीक्षायाः कर्तव्यत्वेप्यक्लिष्टतयैव कर्तव्या न तु क्लेशलेशेनापि, (अ!)किष्टकर्मत्वात्; तथा च कथं तथा कृतमित्यत आहुर[2]**क्लिष्टकर्मे**ति. **भगवानक्लिष्टकर्मैव**

लेखः

रूपनिग्रहादित्यर्थः. **अक्लिष्टे**ति, **अक्लिष्टकर्म**त्वात् **लीलयैव** स्वस्वरूपं कालियाय **ज्ञापयामासे**त्यर्थः. **कार्यमि**ति भगवत्कार्यं तन्निग्रह इत्यर्थः (५-८).

कारिकार्थः

परीक्षा कर्तव्या कृतपरीक्षाणां केषाञ्चिद् भक्ताना**मासक्तिश्चापि कर्तव्या.** किञ्च एतस्मिन् प्रमेयप्रकरणीये **मध्यमे निरोधे** भगवता प्रमेयबलेन **महान् यत्नः कर्तव्य इति** हेतो**र्मुग्धभावं चकारे**त्यर्थः. नन्वियं कथा प्रासङ्गिकी न तु निरोधसाधिकेत्याशङ्क्याहुः **कथामात्रत्वे**ति. एतत्कथायाः **कथामात्रत्वाभावाय** साधारणकथात्वाभावबोधनाय **पुरा** पूर्वं **सङ्क्षेपेण** "विलोक्य दूषितां कृष्णामि"त्येकेन शुक **आहे**त्यर्थः. ततः "कथमन्तर्जलेऽगाध" इति विशेषप्रश्ने सति शुको विस्तरेणाह, अतो ज्ञायते– एतत्कथायां कश्चिदभिप्रायो वर्तत इति. अभिप्रायस्तु कालीयदमनेन भक्तानामिन्द्रियदोषनिवर्तनेन निरोधसाधकत्वमेवेति. अभिप्रायविशेषाभावे तु प्रश्नं विनैव प्रसङ्गवशात् स्वयमेव वदेदिति भावः. तथा च भगवन्मार्गीयसिद्धान्तो विशेषप्रश्नं विना विस्तरेण न वक्तव्य इति सूचितं, तदुक्तं प्रथमस्कन्धनिबन्धे "ततो विशेषप्रश्नश्चेद् वाच्यं रीतिरियं सदे"ति. **अक्लिष्टे**ति. सदोषेन्द्रियरूपकालीयेन भगवदपराधकरणात् सदोषेन्द्रियाणां भगवदपराधकर्तृत्वमिति **लीलयैव** भगवान् **ज्ञापयामास**, अन्यथा

---

१. °रेवं. २. लुप्तम्.

उद्यमश्चापराधश्च परीक्षा कार्यमेव च ॥(८)॥
स्तुतिः प्रसाद इत्यत्र षडर्थाः परिकीर्तिताः ।

तत्र प्रथमं सङ्क्षेपेण कथामाह **विलोक्येति**.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः ।
तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥१॥

कृष्णां यमुनां **कृष्णाहिना** कालसर्पेण कालीयेन **दूषितां विलोक्य** समर्थो भगवांस्**तस्या विशुद्धिम**ग्रे क्रीडार्थ**मन्विच्छंस्तं सर्पमुदवासयत्** ततोन्यत्र प्रेषितवान्. सारूप्यं प्राप्तो हि भगवता निर्दुष्टः कर्तव्यः. सारूप्यं प्राप्तेन च दोषो नान्येन निवारणीयो रूपान्तरे च रूपान्तरदोषो न निवार्य इतिमर्यादा, अतः **कृष्ण**पदत्रयम्. **विभु**रिति सामर्थ्यम्. प्रकृतोपयोगिसारूप्यादेव न मारणं, हृषीकेशत्वाच्च नर्तनम्, अत एव कलौ कृष्ण एव सर्वदोषनिवारको यदि सर्वेन्द्रियेषु नृत्यतीन्द्रियकृतमपराधं च सहते. अतो यमुना शुद्धा कर्तव्येति **तस्याः** प्रसिद्धायाः प्रसिद्धं **सर्पं** दूरीकृतवान् ॥१॥

राजा विशेषं पृच्छति **कथमि**ति.

प्रकाशः

विषयासक्तानामिन्द्रियाणा[1]मपराधकर्तृत्वमनया **लीलया ज्ञापयामास**. तथा च तज्ज्ञापनं नान्यथा भवतीति तदर्थमेवंकृतिरित्यर्थः. शेषं स्फुटम् (८).

विलोक्येत्यत्र **सारूप्यं प्राप्तेने**ति कृत इतिशेषः. **प्रकृतोपयोगिसारूप्यादि**ति परीक्षोपयोगीन्द्रियसारूप्यात्. **हृषीकेश** इत्यारभ्य **सहत** इत्यन्तं [2]वस्तुतोऽर्थकथनम् ॥१॥

लेखः

हृषीकेशत्वादिति, एतच्छिरसामिन्द्रियरूपत्वेन स्वस्य तदीशत्वादिति भावः ॥१॥

कारिकार्थः

अक्लिष्टकर्मत्वं न स्यादित्यर्थः. अत्र प्रकरणानि विभजन्त **उद्यमश्चे**ति. **उद्यमः** कालीयदमनार्थो भगवदुद्यमः, **अपराधः** कालीयकर्तृकः, **परीक्षा** भक्तानां स्नेहपरीक्षा, **कार्यं** भगवत्कर्तृकं कालीयनिग्रहरूपं, **स्तुति**र्नागपत्नीनां, **प्रसादो** भगवतः —एवं षट् प्रकरणानीत्यर्थः (२-८).

---

१. °णां साप°, °णां स्वाप°. २. °सतोर्थ°.

॥ राजोवाच ॥

कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम् ।
स वै बहुयुगावासं यथासीद् विप्र कथ्यताम् ॥२॥

स हि जानाति बडिशेन यथा मत्स्यो बध्यते तथा कालीयो बद्ध इति, अतस्तस्य महतः कीदृशं बडिशमिति साधनप्रकारप्रश्नः. यदि लोके तादृशमपि बन्धनं स्यात् तदा न प्रष्टव्यः स्यात्, स तु नास्ति, यतः **स बहुयुग**पर्यन्त**मावासो** यत्र तादृशं **यथा** भवति तथावात्सीत्. यदि तादृशं भवेद् बन्धनं पूर्वमेव निवृत्तः स्यात्. न चैतदसम्भावितं यतो **भगवान्,** अतः प्रकारं कथयेति प्रश्नः. **विप्रे**ति सम्बोधनं विशेषेण ज्ञानपूरणाय, **वि**शेषेण **प्र**कर्षेण वा **कथ्यतामि**ति ॥२॥

ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूम्नः स्वच्छन्दवर्तिनः ।
गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥३॥

जलचरसाधारणबन्धवदिदमपि भविष्यत्यतो न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य साधारण्येन भगवत्कथां श्रोतव्यत्वेन स्तौति. **ब्रह्मन्नि**ति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च. **भगवत** इति सर्वैव लीला षड्गुणयुक्ता भविष्यतीत्यप्रयोजकत्वं निवारितम्. **भूम्न** इति सर्वत्र लीलाधिक्यं, **स्वच्छन्दवर्तिन** इति लीलायां न कस्याप्यनुरोधः. तत्रापि **गोपालस्य** लौकिकानां बुद्धिपरिग्रहार्थं यतमानस्य, **उदारं** सर्वपुरुषार्थान् पात्रापात्रविवेकं परित्यज्य प्रयच्छतीति पुरुषार्थानामपेक्षितत्वात् सर्वथैतदेव वक्तव्यं श्रोतव्यं च, तदपि **चरितं** न तु कल्पितम्. तत्रापि सर्वदोषनिवारकं मृत्युनिवारकं च, तदा**हामृतमि**ति. किञ्च **अमृतं जुषन्** किं कश्चित् तत्र **तृप्येते**ति लौकिकोक्तिः ॥३॥

भगवतोऽतिसामर्थ्यं ख्यापयितुं ह्रदस्वरूपमाह द्वयेन **कालिन्द्यामि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

कालिन्द्यां कालियस्यासीद् ह्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।

प्रकाशः

कथमित्यत्र **स** इति बन्धनप्रकार इत्यर्थः. **विप्रकथ्यतामि**ति समभिव्याहारमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**र्विशेषेणे**त्यादि ॥२॥

लेखः

ब्रह्मन्नित्यत्र **बुद्धी**ति, बुद्धेः स्वविषयत्वसम्पादनार्थमित्यर्थः. **यतमानस्ये**ति इन्द्रियविषयतां प्राप्नुवत इत्यर्थः, गवामिन्द्रियाणां रक्षक इत्यर्थः; विषयविषयकत्वे इन्द्रियाणि नष्टानि स्युः ॥३॥

श्रप्यमाणपयो यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥४॥

कालियः कालीय इत्युभयं; **कालीयस्य** सम्बन्धी **कश्चिद् ह्रद आसीत्**, सम्बन्धोग्रे वक्तव्यः. **विषाग्निना** तस्यैव **श्रप्यमाणमा**वर्त्यमानं विषेण व्याप्यमानं वा **पयो** यस्मिन्. **यस्मिन्** ह्रद आकाशमार्गे**णोपरि** गच्छन्तोपि **खगा** मध्ये **पतन्ती**त्युपरि दोषमर्यादा निरूपिता ॥४॥

परितो दोषमाह **विप्लुष्मते**ति.

विप्लुष्मता विषोदोर्मिमारुतेनाभिमर्शिताः ।
म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥५॥

बिन्दुसहितेन **विषोद**सम्बन्धिना**मूर्मीणां** चलनेन जातेन **वायुनाऽभिमर्षिताः** स्पृष्टा एवोभयकूले विद्यमाना**स्तीरगा** भूमिष्ठा अपि **प्राणिनः स्थावरा** वृक्षा **जङ्गमा** मण्डूकादयोपि प्रमादादप्यागता **म्रियन्ते.** लतावृक्षशाखाश्च वर्धमानास्तत्रायान्तीति तथोक्तम् ॥५॥

एतादृशो दोषः परिहरणीय इति भगवानुद्यमं कृतवानित्याह **तमि**ति.

तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टां नदीं च खलसंयमनावतारः ।
कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोतितुङ्गादास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद् विषोदे ॥६॥

आदौ भगवान् स्वयं तत्र गत इत्याह. **तं** कालीयं प्रसिद्धमल्पेन न निराकार्यं **चण्डवेगं** कालवदतिवेगवत्तरम्, अत एव भगवतैव शक्यप्रतीकार **इत्यवेक्ष्य कदम्बमधिरुह्य ततोतितुङ्गात्** बाहुस्फोटनं कृत्वा मल्लभावाविष्करणेन **विषोदे न्यपतदि**ति सम्बन्धः. प्रथमत एव **चण्डवेगं** तत्रापि **विषं वीर्यं** यस्येत्युपासिता देवता तस्य प्रत्यक्षेति सूचितम्, अत एव भगवदतिक्रमोपि, "विषमिति सर्पा" इतिश्रुतेः "तद्धैनान् भूत्वावती"ति च. अत एव विषस्य चण्डवेगता गुण उक्तः, विषस्यापि पराक्रमः. **तेन दुष्टामि**ति विशेषणांशे भरः, अत एवाधिदैविकेन दुष्टा देवाधिदेवं विना नान्येन समीचीना कर्तुं शक्या. **च**कारात् तं चापि दुष्टं समीचीनं कर्तुम्. **खलसंयमनावतार** इत्यवतारप्रयोजनमपि तत्– **खलाः** परोपद्रवकारिणस्तेषां **संयमो**

प्रकाशः

तं चण्डवेगेत्यत्र **विषयस्य चण्डवेगते**ति व्याख्यान्तरम्. **खलसंयमनावतार** इत्यत्र खलानां संयमनं येन तादृशोऽवतार यस्येति खलसंयमनायावतारो यस्येति

लेखः

तमित्यस्याभासे **एतादृश** इति, उद्यमहेतुः पूर्ववाक्ययोः शक्योर्थः, भगव-

नियमनम्. जीवने दोषनिवृत्तौ दोषमेव दूरीकरोति न मारयतीत्यन्यदा मारयतीति नियमः, नियमनार्थमेवावतारः. **कृष्ण** इति सदानन्दो दोषनिवृत्त्यर्थम्. तज्जातीयश्च कदम्बो वृक्षः, स हि तुङ्ग उच्चे वर्तते. स हि कदम्बो भगवत्कृत एव गरुडस्थानभूतः, तत्रागत्य गरुडः कालीयनिर्गमनं मारणार्थं प्रतीक्षते. गरुडकृपयैव न शुष्यति. **विप्लुष्मते**ति विशेषणात् सजलवायुस्पर्श एव मरणस्योक्तत्वादूर्मिजनितस्यैव वायोस्तथात्वादुच्चैः स्थितोऽयं महान् वृक्षो न म्रियत इतिसिद्धान्तः. प्रथमतस्तस्यारोहणं कृत्वा **ततो** वृक्षाद**तितुङ्गा**दत्युच्चे रोधसि प्ररूढादत्युच्चाच्चाधिदैविकेन सह समानेन युद्धं कर्तुमास्फोटनं कृत्वा मध्ये कालेन भूमौ मर्यादाभङ्गो मा भवत्विति **गाढा रशना** यस्य तादृशो भूत्वा नितरामास्फालनं कृतवान्. स्थानस्य क्रूरतानिर्देशो भगवन्माहात्म्यज्ञापनाय ॥६॥

ततो यद् जातं तदाह **सर्पह्लद** इति.

सर्पह्लदः पुरुषसारनिपातवेगसङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।
पर्युत्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥७॥

पुरुषसारस्य पुरुषोत्तमस्य **निपातवेगेन सम्यक् क्षोभितो** योऽयमु**रग**स्तस्य यद् **विषोच्छ्वसितं** विषोच्छ्वासस्तेनोच्छ्वसितो**ऽम्बुराशि**र्यस्य; **उच्छ्वसित**पदमावृत्त्या योजनीयम्. एतादृशो ह्लदः **परितः प्लुत उत् प्लुतः**, वर्षायामिवोच्छूनो जात उत्प्लुत्य गच्छन्निव जातो वा, भगवन्निपातेन जातक्षोभादितोऽन्यत्र गमिष्यामीति. **विषेण कषाया** वि**शे**षेण **भीषणा ऊर्मयो** यस्य तादृशश्च सः. एतादृशो **धावन्** जातः. अधावदिति वा, अडभावश्छान्दसः. **धनुःशतं** हस्तानां चतुःशतम्, **अनन्तबलं** यस्य तादृशस्य नैतदाश्चर्यम्. **अनन्ते** काले वा **बलं** यस्मात्, यस्तु जगदेवोत्प्लुतं करोति. **विषकषायविभीषणोर्मि**त्वकथनात् सर्वमारकत्वं तस्योक्तम्. उपासितभगवच्चरित्रमेतत् ॥७॥

प्रकाशः

वा व्यधिकरणपदबहुव्रीहिर्ज्ञेयः. **दोषनिवृत्त्यर्थमि**ति तद्दोषनिवृत्त्यर्थम्. **गाढरशन**त्वकथनप्रयोजनमाहु**र्मध्य** इत्यादि. स्थितिकाल**मध्ये**नागन्तुक**कालेन भूमौ** स्थिति**मर्यादाभङ्गो मा भवत्वित्ये**तदर्थं तथेत्यर्थः ॥६॥

लेखः

त्सामर्थ्यं तात्पर्यार्थः. **अतितुङ्गादि**त्यत्र देवाधिदेवादन्यस्य विषदोषनिवारणाशक्तेरुक्तत्वाद् गरुडस्य तन्निवारकत्वं न सम्भवतीत्यरुच्या सिद्धान्तमन्यमाहुः **विप्लुष्मतेती**ति ॥६॥

भगवत्समीपमागत इत्याह **तस्येति**.

तस्य ह्रदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवार्घोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।
आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत् तदमृष्यमाणः ॥८॥

ह्रदे विहरतो भगवतः **समसरत्** समीपं गतः. भुजदण्डयोः प्रहारेण **घूर्णाय**मानं यद् **वा**र्जलं तस्य **घोषमाश्रुत्य तदमृष्यमाणः** समागत इति सम्बध्यते. आदौ निपाते किं जातमित्याश्चर्याविष्टस्ततः कश्चिद् विहरतीति श्रुतवान्, ततोपि तस्य बाहुप्रहारेण जले शब्दः श्रुतः. शब्दे हेतु**र्वरवारणविक्रमस्ये**ति, **वर** उत्कृष्टो यो **वारणो** गजस्तद्वद् **विक्रमो** यस्येति. तस्य हि स्वभावो जले विहरणं, सर्वोपमत्वाद् भगवतोपि तथा. न श्रवणमात्रेण तस्यागमनं किन्तु **तेन** भगवता **स्वसदनस्याभिभवं** श्रुत्वा, **तेन** शब्देन वा. **चक्षुःश्रवा** इति श्रवणदर्शने एकत्रैव, अतः श्रुतमपि दृष्टमिव मन्यते. सम्यगागत इति स्वप्रौढिसहितः. **तत्स्वसदनाभिभवममृष्यमाण** इत्यागमने हेतुः ॥८॥

ततोपराधं कृतवानित्याह **तमिति**.

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥९॥

अयुक्तं कृतवानिति वक्तुं भगवन्तं वर्णयति **प्रेक्षणीयमिति**. **प्रेक्षणीय**श्चासौ **सुकुमार**श्चासौ **घनावदात**श्च सात्त्विकादित्रिविधानामप्यादरणीयः. अनेन लोकविरुद्धं तेन कृतमित्युक्तं भवति. परमार्थतोपि विरुद्धं कृतवानित्याह **श्रीवत्से**न सहितं **पीतवसनं** यस्य– प्रमेयविरोधः प्रमाणविरोधश्चोक्तः. **स्मित**युक्तं **सुन्दरमास्यं** यस्येति भक्तिमार्गविरोधश्च. **क्रीडन्तमिति** रसशास्त्रविरोधश्च. **अप्रतिभयमिति** नीतिशास्त्रविरोधश्च. **कमलोदराङ्घ्रिमिति** सर्वोपास्यत्वेन जगद्विरोधश्च. तत्रापराधं कृत्वा स्वस्थानं नेष्यामीति विचार्य **रोषेण भुजया** स्वकायेन फणेन वा आच्छादितवान् वेष्टितवान् वा ॥९॥

लेखः

तमित्यत्र. प्रेक्षणीयत्वेन ज्ञानयोग्यत्वात् "सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानमि"ति वाक्यात् सात्त्विकानामादरणीयः, **सुकुमार**त्वात् स्वरूपलोभेन "रजसो लोभ एवेति"वाक्याद् राजसानामादरणीयः, **घनावदात**त्वेन नीलश्वेतरूप इति वर्णतः साजात्यात् स्वदोषनिवृत्त्यर्थं तामसानामादरणीय इत्यर्थः. **प्रमेये**ति, श्रीवत्सस्याक्षरात्मकत्वात् पीताम्बरस्य च वेदरूपत्वात् प्रमेयत्वप्रमाणत्वे. **नीतिशास्त्रविरोध** इति, एतादृशदुष्टजले निर्भयश्चेत् किञ्चित् कारणं तत्र विचार्य कर्तव्यं न तु सहसेति नीतिस्तद्विरोध इति ॥९॥

ततो यद् जातं तदाह **तमिति**.

तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।
कृष्णेर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥१०॥

नागशरीरेण **परिवीतं** शेषशयनाभिनयनकर्तारमत ए**वादृष्टचेष्टमालोक्य** प्रलयो भविष्यतीत्याशङ्क्य **तस्य** भगवतः **प्रियाः सखाय**श्च तादृशा **भृशमार्ता** जाताः. ते ह्यात्मनिवेदिनः, आत्मनिवेदिनां न पृथक् स्थातुमुचितम्, अत एव व्याकुला जाताः. तदाह **कृष्णे** भगव**त्यर्पित आत्मा** सङ्घातः **सुहृदो** मित्रा**ण्यर्थो** धनं **कलत्रं** स्त्री **कामाः** पुत्रादयः; सर्व एवार्पिता यैः. अत एव **दुःखम्,** आत्मापि तत्र वर्तत इति, **अनु** पश्चात् **शोक**श्च. सुहृदोपि तत्र निवेदिता इत्युभाभ्यां **मूढा भयेन** च गुणत्रयकार्यैस्त्रिभिरपि **मूढा धी**र्येषां ते. पूर्वं जीविता अपि मूर्छिताः सन्तो **निपेतुः** ॥१०॥

गावोपि गोपालवद् जाता इत्याह **गाव** इति.

गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।
कृष्णे न्यस्तेक्षणप्राणा [१]क्रन्दन्त्य इव तस्थिरे ॥११॥

स्त्रियः पुरुषा बालाश्च **क्रन्दमानाः सुदुःखिता** जाताः. तेषां चित्ते सात्त्विकत्वाभावान्न मूर्छिताः किन्तु **कृष्णे न्यस्तानीक्षणानि प्राणा**श्च यस्य. ते सर्पादिभेदं न जानन्ति पश्यन्ति च कृष्णं किन्त्वगम्ये तिष्ठतीति **दुःखिताः. क्रन्दन्त्य** इति ग्राम्यपशुसङ्घत्वात् स्त्रीप्रयोगः, "ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री"त्यनुशासनात्. यथा वा विवेकयुक्ता स्त्रियो **रुदन्ति** तद्वदेव **तस्थिरे.** सर्व एव देवा लोका भूतानि

लेखः

तमित्यत्र आर्ता जाता इति, प्रलये आत्मरमणेन नास्माकं सेवा सेत्स्यतीति भावः. **प्रियसखा** इति प्रियाश्च ते सखायश्चेति कर्मधारयस्ततष्टच्. **ते ही**त्यारभ्य **तदाहे**त्यन्तं **कृष्णेर्पितात्मे**त्यस्याभासो ज्ञेयः. **अत एव दुःखमि**ति, अपराधकृतदुःखं भगवति सम्बद्धुमशक्तं सदेतदात्मनि सम्बद्धमित्यर्थः. **भयेन चे**ति. दुःखानुशोकयोस्तामसराजसत्वात् मोहजनकत्वं, भयस्य तु सात्त्विकत्वात् सहकारित्वमेवेति भिन्नतया कथनम्. **मूर्छिता** इति **नी**त्युपसर्गस्यार्थः ॥१०॥

गाव इत्यत्र सात्त्विकभावं विवृण्वन्ति **ते सर्पादिभेदं न जानन्ती**ति. "रुदन्त्य" इत्यत्र रोदनस्य वक्तव्यत्वा**दिवे**त्यनुपपन्नमतः पक्षान्तरमाहु**र्यथा वे**ति.

---

[१] रुदन्त्य इत्यपि पाठः.

च कालादयोपि भगवान् शेषशायी प्रलयं करिष्यतीति ज्ञात्वा प्रलये यावन्त उत्पातास्तान् सर्वानेव कृतवन्तः ॥११॥

ततो गोकुलवासिनस्तान् दृष्ट्वा भीता जाता इति वक्तुं प्रकृतोपयोगित्वाच्च व्रज एवोत्पातान् वर्णयत्यथेति.

अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः ।
उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥१२॥

सर्वकालविलक्षणार्थम**थे**ति. **महोत्पाताः** प्रलयकालीना **दिवि भुव्यन्तरिक्षे** चेति **त्रिविधाः. हि** युक्तश्चायमर्थः– प्रलये हि ते कर्तव्या, अन्यथाधिकारिणो दण्ड्याः स्युः. किञ्च शीघ्रमेव प्रलयो भविष्यतीत्**यासन्नभयशंसिनः.** सूचका अपि स्वरूपतोपि भयानका इत्या**हातिदारुणा** इति. **दिव्युत्पेतु**रुत्पन्नाः, **भुव्यात्मनि** शरीरे चोत्पन्नाः; एकदोत्पन्नत्वादतिशीघ्रानिष्टपर्यवसायित्वम् ॥१२॥

तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।
विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥१३॥

ते च व्रजस्था**स्तानालक्ष्यै**त उत्पाता भवन्तीति **ज्ञात्वा भयेनोद्विग्ना** जाता, यतो **गोपाः, नन्दः** कर्मसिद्धांतयुक्तः **पुरोगमो** मुख्यो येषां, कृतनिरोधावाविवेकिनः. कृष्णे विद्यमानेऽस्माकंप्रलयोपि न भविष्यतीति निश्चित्य प्राकृतबुद्ध्या कल्पयन्ति स्म **विना रामेणे**ति. रामो हि बलिष्ठो, लोकप्रतीत्या धेनुकोपि तेनैव मारित इति **रामेण विना** भगवानेव **गाश्चारयितुं गत**स्तन्मध्य उत्पाताश्च जायन्ते ॥१३॥

लेखः

तस्थिरे इत्यात्मनेपदानुपपत्त्या **अवतस्थिर** इत्युक्तं; तदा 'समवप्रविभ्यः स्थ' इत्यात्मनेपदं, भागुरिमतेनाकारलोपः. सवर्णे वर्णलोपः. इ इति इवार्थे वा ॥११॥

अथेत्यत्र **दिवी**ति, एत एव क्रमेणाधिदैविकाधिभौतिकाध्यात्मिकरूपा ज्ञेयाः, अत एव टिप्पण्यां तथैवोक्तम्. **शरीरे चे**ति **चकारादात्म**पदेनान्तरिक्षमपि गृह्यते. "सूर्यं ते चक्षुरि"त्यनुवाके "अन्तरिक्षमात्मे"त्यनेन पश्वात्मत्वं मध्यवर्तित्वसाम्येनोपलक्षणेनोक्तमिति तेनैव हेतुना सर्वात्मत्वमपि ॥१२॥

ते चेति **च**कारोऽन्वाचये. **गोपा** इत्यस्य पूर्वव्याख्याने कर्मित्वमेव स्यात् न तु भक्तिमार्गीयत्वमित्यतः पक्षान्तरमाहुः **कृते**ति. सङ्गस्थेभ्यः सकाशादेतेषां भाववैलक्षण्यं विवृण्वन्ति **कृष्ण** इत्यादिना ॥१३॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।
तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥१४॥

अतो **दुर्निमित्तान्य**त्यनिष्टं सूचयन्तीति विपरीतं ज्ञात्वा **निर्जग्मुरि**त्युत्तरेण सम्बन्धः. विपरीतज्ञाने हेतु**रतद्विद** इति, **तस्य** भगवतो माहात्म्यं न विदन्तीत्युचितमेव तेषाम्. लौकिका हि ते, लौकिकानां प्रियोऽनिष्टं भावयत्यप्रिय इष्टमिति स्थितिः. भवननिषेधविषयत्वेन सर्वदानिष्टमेव भावयति प्रियः, स्नेहस्य तथाभावकस्वभावत्वात्. अन्यस्य विपरीतम्. किञ्च **ते** आत्मानमेवानिष्टविषयं भावितवन्त इत्याह **तत्प्राणा** इति– **तस्मिन्नेव प्राणा** येषां, **तस्मिन्नेव मनो** येषाम्, अत एव **दुःखं शोकं भयं** च, त्रिभि**रातुराः** ॥१४॥

गोकुलं शून्यं विधाय **सर्व** एव निर्गता इत्या**हाबालवृद्धवनिता** इति.

आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः ।
निर्जग्मुर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥१५॥

अङ्गेति सम्बोधनं सर्वत्र स्नेहसूचकम्. **पशूनामिव वृत्तिर्ये**षामिति न देहवस्त्रादिदृष्टिः. **गोकुलादेव निर्ग**ताः. तेषां कामनामाह **कृष्णदर्शने लालसाः,** दर्शनार्थमतिव्याकुलाः ॥१५॥

तेषां श्रीभगवत्समीपगमने भ्रमाभावाय हेतुमाह **तेन्वेषमाणा** इति.

तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।
भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥१६॥

पतिरेवान्वेषणीयस्ततोपि सदानन्दः. ते भगवद्गतमार्गेणैव गताः, तदाह **पदव्या यमुनातटमि**ति. **पदवी** सूक्ष्मो मार्गः, तया यमुनातटमेव गताः. तेषां मार्गान्तरागमने तथैव च गमनेऽभिज्ञानमाह **भगवल्लक्षणैः पदैः सूचितये**ति– ध्वजवज्राङ्कुशाद्यसाधारणचिह्नैः, भगवच्चरणसम्बन्धे भूमेरार्द्रता भवतीति स्फुटसर्वलक्षणानि पदानि भूमावुद्गच्छन्ति तैः, सूचिता पदवी भवति ॥१६॥

तत्रापि भगवान्न केवलं गतः किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभि-

---

लेखः

आबालेत्यस्याभासे **गोकुलं शून्यमित्याङ्गो**र्थः ॥१५॥

तेन्वेषमाणा इत्यस्याभासे. गमनस्य पूर्वश्लोके उक्तत्वादियं भावना पदव्यां पर्यवस्यति, "दध्ना जुहोती"तिवत्, तथा च भ्रमाभावहेतुपदव्येव वाक्यार्थः. **अभिज्ञानमाहे**ति, करणव्युत्पत्त्या अभिज्ञापकमित्यर्थः ॥१६॥

ज्ञानमाह **ते तत्रे**ति.

ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्पतेः ।
मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥१७॥

तत्र तत्र मार्गे विश्पतेर्वैश्याधिपतेर्गोकुलराजस्य भगवतः **पदानि** दृष्ट्वा तेनागतप्राणाः **सत्वरा ययुः**, अन्यथा गमनेप्यसामर्थ्यं स्यात्. **यवः** कीर्तिप्रतिपादकः, **अब्जा**काररेखा सुसेव्यत्वाय, भक्तानां मनोगजनिवारणाया**ङ्कुश**रेखा, **अशनिः** पापपर्वतच्छेदाय, **ध्वजो** निर्भयवासदानाय –एवमनेकविधैश्चिह्नै**रुपपन्नानि पदानि.** अतः स्वस्यापि कृतार्थता भविष्यतीति शकुनमिव प्राप्येष्टदर्शनार्थं शीघ्रं गताः. **गवां मार्गेऽन्येषां** गोपालानां च **पदान्यन्तरा** यत्र, तेन सर्वैः सह तिष्ठतीति सन्तोषोपि. **अन्तरा** मध्ये ॥१७॥

ननु कथमत्र सर्वज्ञो बलभद्रो न तेषां निषेधं कृतवानित्याशङ्क्याह **तांस्तथे**ति.

तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।
प्रहस्य किञ्चिद् नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥१८॥

तथा कातरानतिदीनान् **वीक्ष्य प्रहस्य** भगवत्परीक्षां स्मृत्वा विधिनिषेधयोरन्यतरदपि **नोक्त**वान्, यतो**ऽनुजस्य** भगवतः **प्रभावज्ञः.** अयं श्लोकः पूर्वत्र[1] वा विगीतो वा ॥१८॥

प्रकाशः

तांस्तथेत्यत्रैतस्य श्लोकस्यासङ्गतत्वं स्फुटीकुर्व**न्त्ययं श्लोकः पूर्वत्र वा विगीतो वे**ति. बलभद्रस्य पूर्वमेव भगवत्प्रभावज्ञत्वादुत्पातदर्शनसमय एव न कातर्यं, तत्रैवायं श्लोको वक्तुमुचितः. वस्तुतस्तु किञ्चित्कार्यस्यात्रानुक्तत्वात् केवलहासस्य तूष्णीम्भावस्यानुचितत्वाच्च **विगीतः** क्षेपको वेत्युभयथाप्यत्रासङ्गत इत्यर्थः ॥१८॥

लेखः

ते तत्रेत्यत्र पदवीविशेषणस्य भगवत्पदस्यापि[2] पूर्वं निरूपितत्वात् तत्राप्यनुपपन्ना तद्विशेषणे गोगोपसाहित्याभिज्ञापके तत्पदे पर्यवस्यति, दध्नेन्द्रियकामस्येतिवदतिपारार्थ्यम्. **अतः स्वस्यापी**ति, भूमिः पदैः कृतार्था स्वस्यापि तथे**त्यपि**शब्दः ॥१७॥

अन्तर्ह्रद इत्यस्याभासे **इति** हेतोराह आर्तिमिति शेषः, उपसंहारे आर्तेरेव वाक्यार्थत्वोक्तेः ॥१९॥

---

[1] अपरे तु टीकाकारा इमं श्लोकं षोडशत्वेनैव पठन्ति. [2] 'त्यस्यापि इति प्राचीनादर्शे.

गता भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह **अन्तर्ह्रद** इति.

अन्तर्ह्रदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।
गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥१९॥

दूरादेव भगवन्तं यमुनाह्रदे, समुद्रे शेषशायिनमिव भगवन्तं, दृष्टवन्तः. तदाह ह्रदमध्ये **भुजगभोगेन** सर्पशरीरेण **परीतं** वेष्टित**मारादेवोपलभ्य** सुप्तत्वात् **निरीहं जलाशय**समीपे **च गोपानुपलभ्य,** वृत्तान्तप्रश्नाभावाय विशेषणमाह **मूढधिषणा**निति, **मूढा** लयं प्राप्ता **धिषणा** बुद्धिर्येषाम्. **परितः** सर्वतो विक्षिप्तान् **पशूंश्च सङ्क्रन्दन्त** इति तेषामनिष्टसूचकत्वम्. अतो मार्गे यथाकथञ्चिदप्यागता एतत् त्रितयं दृष्ट्वा **परमकश्मलं** मूर्छा**मापुः, आर्ता** विकलाः सन्तापयुक्ताश्च जाताः ॥१९॥

एवमार्त्यनन्तरं गोपिकानां यशोदासहितसाधारणस्त्रीणां नन्दादीनां च वृद्धगोपानामवस्था आह **गोप्य** इति त्रिभिः.

गोप्योनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ।
ग्रस्तेहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥२०॥

गोप्यस्तु भगवन्तं तादृशं दृष्ट्वा त्रैलोक्यमेव प्रियरहितं ज्ञातवत्यः. प्रिया एव हि रक्षणीयाः, अतः प्राणरक्षायामिहलोकरक्षायां परलोकरक्षायां च निवृत्तव्यापारास्तथैव लयं प्राप्तवत्य इति तामस्यवस्था. **अनुरक्तं मनो** यासाम्, अनेन तेषां प्राणवियोगाभावे हेतुरुक्तः. ननु भगवति साम्प्रतं मनः प्राणवियोजकमेव न तु प्राणरक्षकमित्याशङ्क्याह **भगवती**ति, सर्वकरणसमर्थो भगवान्, अतः षड्भिरपि गुणैस्तासां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः. तथापि विषयस्यानिष्टरूपत्वे प्राणरक्षा भक्तिविरोधिनीत्याशङ्क्या**हानन्त** इति, न विद्यतेऽन्तो यस्येति. विषयश्च नानिष्टरूपः, अतो भगवता रक्षिताः सजीवा एवेतिकर्तव्यतामूढाः स्थिताः. किञ्च तासां जीवने हेत्वन्तरमपि जातमित्याह **तत्सौहृदे**ति, **तस्य** भगवतः **सौहृदं स्मितं विलोकं गिरश्च स्मरन्त्यः. सौहृद**स्मरणे शरीरस्थितिः, **स्मित**स्मरण इन्द्रियाणां, **विलो**कस्मरणे प्राणानां, वाक्यस्मरणेऽन्तःकरणस्य. साधकानुक्त्वा बाधकमा**हाहिना** सर्पेण वेष्टिते परमप्रीतिविषये **भृशं दुःखेन तप्ताश्च** जाताः. अत**स्त्रिलोकं प्रियेण व्यतिहृतं शून्यमेव ददृशु**रित्यर्धजरतीयम् ॥२०॥

यशोदासहितानामवस्थामाह **ता** इति.

ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ।
तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥२१॥

कृष्णमातरं समनुगृह्य लोकन्यायेन **शुचः स्रवन्त्यो** जाताः. यशोदा **त्वपत्यं**

भगवन्तमनुप्रविष्टा तत्रैव गता. अन्यासां जीवने हेतुः– **तास्ता व्रजप्रियस्य** भगवतः **कथाः कथयन्त्यः**; किञ्च **कृष्णाननेर्पिता दृशः** भगवन्मुखारविन्दमपि पश्यन्ति. अतो **मृतकप्रतीका आसन्** मृतप्रायाः सजीवा एव स्थिताः. पूर्वा भगवता रक्षिता एता भगवद्गुणैर्दर्शनेन च ॥२१॥

अन्ये तु नन्दादयो बलभद्रेण रक्षिता इत्याह **कृष्णेति**.

कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं ह्रदम् ।
प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥२२॥

कृष्णे प्राणा येषां; प्राणस्थाने हि स्वेनापि स्थातव्यमिति **तमेव ह्रदं निर्विशन्तो** जाताः. तदा तान् बलः **प्रत्यषेधत्.** कथं तेन प्रतिषिद्धाः स्थिता इत्याशङ्क्याह **स भगवानिति, स रामो भगवान्** भगवत्सहितो वा. सोपि किमिति प्रत्यषेधत्? तत्राह **कृष्णानुभावविदिति**, कालीयदमनलक्षणं भगवदनुभावं जानातीति ॥२२॥

एवं सर्वेषां गोकुलवासिनां वैयग्र्यमुपपाद्य सर्वसमर्थस्य भगवत एवङ्करणमनुचितमित्याशङ्क्य तत्समाधानार्थं भगवान् परीक्षां कृतवानित्याह**इत्थमिति**.

इत्थं स्वगोकुलमनन्यपतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ।
आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥२३॥

प्रकाशः

ता इत्यत्र. नन्वेवं [1]मातृचरणतुल्यनिरोधः कस्यापि न सम्पन्न इति [2]पूर्ववाक्योक्तानां न परमोत्कर्षः सिध्यतीत्यत आहुः [3]**पूर्व** इति. [4]तास्तथैव स्युरेव, परं **भगवता रक्षिता** इति न तथा जातास्तासां तथाभवनं भगवतोऽत्यन्तं [5]दुःसहं तिरोधानस्यापि दुःसहत्वादिति रक्षणे हेतुः. एतच्च "नय मां यत्र ते मन" इत्यस्य द्वितीयव्याख्याने स्पष्टम्. तथा च स्वकृत्या तथात्वाद् भगवत्कृत्या वा तथात्वात् सर्वोत्कर्ष एतास्वेव ध्वन्यत इति भावः ॥२१॥

इत्थमित्यत्रानन्यपतिपदेनैता एव ज्ञातव्या, अन्येषां भिन्नत्वेन निरूपणात् ॥२३॥

लेखः

इत्थमित्यस्याभासे परीक्षामिति परित ईक्षा येनेति, परीक्षाहेतुमित्यर्थः. अस्मिन् श्लोके इदं सूचितं, वाक्यार्थस्तूत्थानमेव, उपसंहारे तथैवोक्तत्वात्.

---

१. मातृचरणानामनुप्रविष्टात्वोक्तरीत्येत्यर्थः. २. विंशतिश्लोकोक्तामित्यर्थः. ३. पूर्वा". ४. अनुप्रविष्टा एव मातृचरणवदित्यर्थ. ५. गोपीतिरोधानं भगवतो दुःसहमतो गोपीतिरोधानस्य दुःसहत्वमित्यर्थः.

परीक्षायां हेतुः **स्वगोकुलमिति**– स्वस्य गोकुलं परीक्षणीयमेव, अन्यथा कृतकरिष्यमाणयोर्निरोधयोर्वैयर्थ्यं स्याद्, यदि तेषु कृतकार्यं नोपलभ्येत. परीक्षया यत् सम्पन्नं तदाह**ानन्यपतिमि**ति, न विद्यतेऽन्यः पतिर्यस्य, जडत्वाद् गोकुलत्वेनान्यपत्यभाव एव निरूपितः. किञ्च **सस्त्रीकुमारमात्महेतोरतिदुःखितं निरीक्ष्य. स्त्रियः** साधारण्यः, **कुमारा** अतिबालाः. तद**न्वाज्ञाय** विचार्य, भवत्येवमेवैतदिति निश्चित्य. ननु स्वतःसर्वज्ञस्य किं परीक्षयेत्याशङ्क्याह **मर्त्यपदवीमनुवर्तमान** इति, यथा तेषु मानुषभावेनैव निरोधं करोति तथा परीक्षामपि कृतवान्. अतो **मुहूर्तं स्थित्वोरंगबन्धात्** सर्पबन्धनादुदतिष्ठदुत्थितः. निद्रापाये सृष्टिमिव कृतवानित्यर्थः ॥२३॥

तस्योत्थाने यदासीत् तदाह **तत्प्रथ्यमानेति**.

[1]तत्प्रथ्यमानवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।
तस्थौ श्वसन् श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥२४॥

अत्र भारतादौ बलभद्रस्तुतिप्रबोधादिकं निरूपितं तत् कल्पान्तरीयम्. तत्रांशावतारो मनुष्यभावापत्तिश्चेति केचित्, लीलयैव तथेत्यपरे. वस्तुतो यथा येन यत्र कारयति तथा स करोतीति व्यवस्था. पूर्वं भगवान् सूक्ष्मः स्थितः पश्चात् पुष्टो जातस्तेन स्वयमेव वेष्टनानि भग्नानीव जातानि. तदाह **तेन** भगवता **प्रथ्यमानं** यद् **वपुस्तेन** कृत्वा **व्यथित आत्माभोगो** यस्य. एतादृशः शीघ्रं भगवन्तं परित्यज्य **स्वफणानुन्नमय्य कुपितो भुजङ्गो** युद्धार्थं **तस्थौ,** क्रोधे हि बलमधिकं भवतीति. स्थितिसमयेपि **श्वसन्** विषवायुं विमुञ्चन् स्थितः. किञ्च **श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखस्तस्य** ह्युपरि पञ्च छिद्राणि नासे चक्षुषी मुखमिति. स्थानत्रयेपि स घोर इत्युच्यते. तत्र प्रथमं **श्वसनरन्ध्रे विषं** यस्य, **अम्बरीष**वद् भ्राष्ट्राग्निवत् **स्तब्धे ईक्षणे** यस्य, **उल्मुक**युक्तं **मुखं** यस्य. एतादृशोपि **हरिमीक्षमाणो** भगवत्सान्निध्यात् स्वयमपि न ज्वलितः परं सम्मुखं स्थितः ॥२४॥

लेखः

व्याख्याने **जडत्वादिति. गोकुलत्वेन** हेतुना मूढत्वादनन्यत्वमेव भगवदागतौ साधनमुक्तं, न तु धर्मादिकमन्यदित्यर्थः ॥२३॥

तत्प्रथ्यमानेत्यत्र **उल्मुकयुक्तमि**ति. यथा भ्राष्ट्राग्निरुल्मुकयुक्तस्तथा सर्वतो जाज्वल्यमानं मुखं यस्येत्यर्थः. तथा च मूले अम्बरीषदृष्टान्त उभयत्राप्यन्वेतव्यः. उल्मुकयुक्तमुल्मुकम्, अर्श आद्यच् ॥२४॥

---

१. आदर्शेष्वङ्कसङ्ख्या प्रायो विगीता सर्वत्रैव.

तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह **तं जिह्वयेति**.

तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।
क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥

द्विशिखया जिह्वया युगपदेव **द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं** प्रसिद्धं कालीय**मतिकरालविषमेवाग्निर्दृष्टौ** यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं कौतुकी भगवान् **क्रीडन्नेवामुं परिससार.** भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह **यथा खगेन्द्र** इति. न हि कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति. दुष्टाश्च भगवतो दाह्याः, न हि काष्ठाद् वह्नेर्भयं भवति. अतः **स** एव भगवतो भीतः युद्धार्थमे**वावसरं प्रसमीक्षमाणो बभ्राम** प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥२५॥

तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्याह**ैवमिति**.

एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसम् आनम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।
तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोखिलकलादिगुरुर्ननर्त ॥२६॥

ननु दुष्टः; कथं नृत्यं कारितवान्? तत्राह **परिभ्रमहतौजसमिति**, सर्पो हि परिभ्रमे व्यथां प्राप्नोति अतो बहुधा परिभ्रमाद्धतौजा इव जातः. केवल**मुन्नता अंसा** यस्य तादृश**मानम्य** तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वानम्य **तत्पृथुशिरःस्वधिरूढो** जातः. ननु सर्पोऽयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत्, तत्राहा**द्य** इति–.स हि सर्वकर्ता सर्वस्याप्याद्यस्तस्यापि पिता भवत्यतस्तमारूढवानथ वा शेषशायी स हि सर्वदा सर्पमेवारुह्य तिष्ठति. अतस्तस्य सर्पारोहणेऽभ्यासात् तत्र स्थितः सं**स्तस्य मूर्धसु** यानि **रत्नानि** तेषां **निकरः** समूहस्तस्य **स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं** यस्यैतादृशः पूजितचरण इव सन्तुष्ट**स्तत्पृथुशिरस्सु ननर्त.** ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान्? तत्रा**हाखिलकलादिगुरुरि**ति– अखिलकलानामादिगुरुः, कलाकौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टानि च. लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते, तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति! ॥२६॥

लेखः

तं जिह्वयेत्यत्र भगवत्परिसरणं वाक्यार्थः. तद्भ्रमणं तु भगवति दृष्टान्तसूचितं भयाभावं दृढं कर्तुम्. तथा च मूले **सोपीत्यपि**शब्देन न भगवत्समुच्चयः किन्तु वाक्यार्थे भ्रमणस्थगौणत्वं बोधितम्, एतत्सूचनाय व्याख्याने **स एवेत्येव**कारः. बहुधेति, अवसरप्रतीक्षाया उक्तत्वादिदमागतम् ॥२५॥

नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह **तं नर्तुमुद्यतमिति**.

तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।
प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥२७॥

सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति. अत्रापि ते लौकिकानां सेवाऽसामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह **नर्तुमुद्यतं** भगवन्त**मवेक्ष्य तदा** तस्मिन् समये **तदीया** ये **गन्धर्वादय**स्ते **प्रीत्या** स्वस्य सेवाविनियोगं ज्ञात्वा **मृदङ्गपणवानकानि वाद्यानि गीतानि पुष्पोपहाराः** पुष्पवृष्टयो **नुतिभिः** स्तोत्रैः **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदु**रुपसन्नाः. नृत्ये हि प्रथमतो नान्दी, तत्र देवतास्तुतिः पुष्पवृष्टिश्च कर्तव्या, तदनु वाद्यं गीतं च. तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वा नान्दीप्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव भगवन्तमेव च देवाधिदेवं स्तुवन्तः. अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं **सहसा** शीघ्रमे**वोपसेदु**रित्युक्तम्. **गन्धर्वा** गायकाः, **सिद्धाः** पुष्पवृष्टिकर्तारः, **मुनयः** स्तोत्रकर्तारः, **चारणा** वाद्य(द!)काः, **देववध्वो**प्सरसः सहनर्तक्यः. क्वचिदभिनय उभयोर्बहूनां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥२७॥

एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह **यद्यदिति**.

यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्णस्तत्तन् ममर्द खलदण्डधरोऽङ्घ्रिपातैः ।
क्षीणायुषो रुधिरमुल्बणमास्यतोसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥२८॥

यद्यदेव कालीयस्य **शिरो न नमते** तदेव **नामयन् दमयाम्बभूवे**ति सम्बन्धः. **शतं** शतसङ्ख्याका**न्येकानि** प्रधानानि **शीर्षाणि** यस्य. एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेपि नान्येषां नमनम्, अतः प्रत्येकं नामनम्. **अङ्गे**ति सम्बोधनं स्नेहात्. आदौ यावत् नमनं न मन्यतेऽन्यत्र स्थित **एवाङ्घ्रिपातै**र्नृत्ये गतिविशेषैस्तालसमाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पाद-

---

लेखः

तं नर्तुमित्यत्र पुष्पवृष्टिर्नुतिश्च 'भगवत एव कृता निर्विघ्नार्थं, न तु ते नृत्याङ्गे. ततो भगवान् नृत्यं कृतवान्, अतस्तदङ्गत्वेन गीतवाद्यसम्पत्तिरेव वाक्यार्थः ॥२७॥

यद्यदित्यस्याभासे **तदाहे**ति दमनमाह, श्लोकद्वयेनेति शेषः. अध्यायकारिकासु लीलया दमनमुक्तमिति मर्दनादिकमपि दमनप्रकारविवरणत्वेन व्याख्यायते. तथा च दमनप्रकारविवरणं प्रथमश्लोकार्थः, दमनं द्वितीयश्लोकार्थः, सप्रकारं दमनं श्लोक-

प्रहारभिया तत् नतमेव तिष्ठति. किञ्च न प्रहारमात्रं करोति किन्तु **ममर्द** पादेन मर्दनमपि करोति यथोपरितनी त्वग् गच्छति द्वितीयप्रहारेऽधिकव्यथाजननार्थम्. नन्वक्लिष्टकर्मा किमित्येवं करोति? तत्राह **खलदण्डधर** इति– खलानां दण्डमयं बिभर्ति, अतो दण्डार्थमेवं करोतीत्यर्थः. ततः **क्षीणायुषः** क्षीणप्राणबलस्य मूर्छितस्य **रुधिरमुल्वणं** जातं, तदन्तःस्थापयितुमशक्यमिति मुखात् **नस्तो** नासिकातश्च **वमन् नागः परमकश्मलमाप** मूर्छां महतीं व्यथां वा. नागजातित्वान्न पलायते, शूरा हि ते. **क्षीणायुषो रुधिरमुल्वणमिति** भिन्नं वाक्यं सङ्घातपरं देहपरं वा. अन्यत् तु जीवपरम् ॥२८॥

पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः. आधिदैविकस्य दण्डमाह **तस्याक्षिभिरिति**.

तस्याक्षिभिर्गरलमुद्वमतः शिरस्सु यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो रुषोच्चैः ।
नृत्यत्पदाऽनुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥२९॥

नासिकामुखयो रुधिरमेव विषप्रतिबन्धकं जातम्, अक्ष्णोस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् प्रतिबन्धकं न जातमिति **यदाक्षिभिर्गरलमुद्वमति** तादृशस्य **शिरस्सु** मध्ये **यद्यत् समुन्नमति** तत्तदेव **पदानुनमयन् दमयाम्बभूव.** आधिदैविकभावापन्नान्यपि कानिचित् शिरांसि, तान्येव वा पुनरुद्गतानि. **गरलं** स्वस्योपास्यं रूपं, तदग्रे करोति.

लेखः

द्वयमहावाक्यार्थः. तत्रैवमन्वयः– **यद्यच्छिरो न नमते** तत्तत् **नमयन् दमयाम्बभूव.** तत्र प्रकारः– **अङ्घ्रिपातैर्ममर्द,** ततस्तस्य **रुधिरम् उल्वणं** जातं तद् वक्त्रात् **नस्तो वमन्** स **परमकश्मलमाप**, ततोऽक्षिभिर्गरलमुद्वमतस्तस्य **शिरस्सु** मध्ये **यद्यत् समुन्नमति तत्तदनुनमयन्** जातः –एवं **दमयाम्बभूवेति**. प्रहारो नामनं, तस्य विवरणं **ममर्देति**. यत् न नमते तस्य नामनं, ततोपि यत् समुन्नमति तस्यानुनामनमिति विशेषः ॥२८॥

मर्दनस्य देहक्लेशजनकत्वादा**धिभौतिकस्य ममर्दे**त्यनेन दण्ड उक्तः, **कश्मलमापे**त्यनेन मूर्छाया इन्द्रियसामर्थ्यनाशकत्वात् तद्दण्ड **आध्यात्मिकस्य.** विषस्योपास्यदेवत्वादग्रिमश्लोके**नाधिदैविकस्य** दण्ड उक्तः. **तस्याक्षिभिरि**त्यत्र, **ज्ञानप्रधानत्वादि**ति, तादृशे उपास्यदेवप्रतिबन्धकं नायातीत्यर्थः. विषस्याधिदैविकत्वेन तद्वमकशिरोनुनामनेपि विषस्य दण्डो न जात इत्यरुच्या पक्षान्तरमाहु**राधिदैविके**ति. विषस्य सततस्थित्या तद्रूपाण्येव कानिचिद् जातानीत्यर्थः. **दमनं**

पश्चात् तस्मिन्नपि प्रतिहते **निःश्वसिति** नातः परं निस्तार इति. तादृशं क्षीणमपि चेत् मारयति भगवांस्तदा मरणार्थं **रुषोच्चै**र्भवति. **सम्यगुन्नमती**त्यनेन देवताधिष्ठानं ज्ञापितम्. आधिदैविके क्षीणे मरणार्थमुपस्थिते साक्षान्मारणमनुचितमिति **नृत्यत्पदा** नृत्यं कुर्वतैव नृत्यकरणभूतेन पदा **अनुनमयन्** स्वसम्मुखतया नमनं कारयन् शिक्षयन्निव **दमयाम्बभूव** दमनं कारितवान्, स्वयमेव वा कृतवान्. एवं दमने कृत आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वाऽस्वारस्यं भवेत् तदा मर्यादाविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह **पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराण** इति. **इहास्मिन्नवसरे पुष्पैः सुपूजित इव** जातः. आध्यात्मिको भगवता सन्मार्गे शिक्षित इति तयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां **पूजितो** भगवान् तौ ह्यलौकिकप्रकारेण दिव्यैः स्वतेजोभिः पूजां कृतवन्तौ. तानि पुष्पाणीव जातानि, तदाह **पुष्पैरिव सुपूजित** इति. उभयोः पूजायां प्रत्येकं हेतुमाह– पुरुष इति आधिदैविकपूजायां हेतुः, त्रयमपि प्राकृतमिवेति. **पुराण**स्तूपास्यः; पुरुषोत्तमो हि सर्वोपास्यरूपाणामप्युपास्यो, यथा व्यासकपिलादेः. एवं मूर्छापर्यन्तं दण्डं कृतवानद्भुतकर्मत्वान्नृत्येनाक्लिष्टकर्मत्वान्न मारितवान् ॥२९॥

प्रकाशः

तस्याक्षिभिरित्यत्र **पुष्पैः सुपूजित** इतिचतुर्थचरणस्याभास **आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो** **वे**त्याधिदैविकः शेष उपास्यरूपो भगवांस्तस्येत्यर्थः. **मर्यादाविरोध** इत्याधिदैविकः सत्करणीय इतिमर्यादाविरोधः. परिहारं व्याकुर्वन्त्या**ध्यात्मिक इत्याध्यात्मिको** विषरूपः स **भगवता शिक्षित** ईदृशस्थल एवं न कर्तव्य**मिति तयोरा**धिदैविकरूपविषरूपयोः **सन्तोष एवातस्ताभ्यां** तथेत्यर्थः. **पुमानि**ति, [१]तस्याधिदैविककर्तृकपूजाहेतुत्वं तमधिष्ठाय स्थितत्वाद् ज्ञातव्यम्. ननु सोपि महांस्तमधिष्ठाय पुरुषः कथमास्ते तत्राहु**स्त्रयमपि प्राकृतमिवे**ति. एकादशे द्वाविंशाध्याये

लेखः

कारितवानिति. इन्द्रियाणि दाम्यन्ति स चरणः, तानि दमयाम्बभूव. तेन भगवान् **दमयाम्बभूवे**ति णिजन्ताण्णिच्. तथा च तेन चरणेन प्रयोज्यकर्त्रेन्द्रियाणां दमनं कारितवानित्यर्थः. तथा सति चरणकर्तृकं दमनमायाति, अत्र तु भगवत्कर्तृकमेवेन्द्रियाणां दमनरूपवत्त्वमभिप्रेतमिति तावद्गौरवे प्रयोजनाभाव इति पक्षान्तरमाहुः **स्वयमेवे**ति. अस्मिन् पक्षे **नृत्यत्पदा** करणेन भगवानिन्द्रियाणि तच्छिरांसि तत्र **यद्यत् न नमते** तत्तद् **दमयाम्बभूवे**त्यन्वयः. प्रथमपक्षे चरणस्य प्रयोज्यकर्तृत्वमिति विशेषः. **आधिदैविकस्ये**ति विषभावापन्नस्य शिरस इत्यर्थः. **उपास्यस्ये**ति विषस्येत्यर्थः. **अस्वारस्यमि**ति तत्कृतः शोभाभाव इत्यर्थः. शिरसापि मणितेजसा

---

१. अस्या°.

एवं सति भगवच्चरणारविन्दप्रसादात् तस्य ज्ञानभक्ती जाते इत्याह **तच्चित्रे**ति.

तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ।
स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥३०॥

नन्वभिमाने विद्यमाने कथं ज्ञानम्? तत्राह **चित्रताण्डवेन विरुग्णा फणातपत्रं** यस्येति. अभिमानस्य सूचकाः फणा एव श्वेतातपत्रस्थानीयाः, ते पुनर्विचित्रताण्डवेन विशेषेण भग्नाः. नृत्यं द्विविधं लास्यताण्डवभेदेन. लास्यं स्त्रीनृत्यं ताण्डवं पुरुषनृत्यम्. तयोरवान्तरभेदाः शतशः सन्ति. तत्र रसाभिनिविष्टः पुरुषः प्रलये महादेव इव विचित्रताण्डवं करोति. तद् भगवतात्र तच्छिक्षार्थं कृतं, तेन विशेषेण भग्नफणातपत्रो जातः. ननु शरीरदोषे विद्यमान आध्यात्मिके भौतिके च कथं ज्ञानभक्ती भवत इत्याह **रक्तं मुखैरुरु वमन्नि**ति. रुधिरमन्तर्दोषात्मकं, तद्वमनेऽन्तर्दोषो गतः, भग्नगात्रत्वाद् बहिर्दोषोपि. अतो निर्दुष्टो **नारायणं** स्मृतवान्. आधिदैविकेहि शेषे स्वसम्बन्धिनि स शेते. अत आधिदैविकेनोपकृतो नारायणं स्मृतवान्, उपास्येन च स एवायं नारायण इति ज्ञातवान्. तदा स्वस्य दासत्वमस्य

प्रकाशः

"ममाङ्ग माया गुणमय्यनेकधा विकल्पबुद्धीश्च गुणैर्विधत्ते वैकारिकस्त्रिविधोध्यात्ममेकमथाधिदैवमधिभूतमन्यदि"त्यत्र तथा निरूपणात् **त्रयमपि प्राकृतमिवा**तस्तदधिष्ठानमुचितमेवेत्यर्थः. **उपास्यस्ये**ति पूज्य इति शेषः ॥२९॥

तच्चित्रताण्डवेत्यत्र ननु दोषराहित्येपि न महत्कृपां विना स्मरणं सम्भवतीति तामाहु**राधिदैविके**त्यादि. आधिदैविकस्मरणे हेतुर्दोषराहित्यम्. मूलस्थतत्पदानर्थक्यं परिहरन्**त्युपास्ये**त्यादिना. अत्र **तं**पदमावर्तति. **स्मृत्वे**ति प्रत्यभिज्ञाय. ननु

लेखः

रक्तोत्पलवत् स्थितेन शोभैव जाता, विषेणापि स्वतेजसा नीलोत्पलवत् स्थितेनशोभैव जातेति भावः. इयमेव पूजा ज्ञेया. **त्रयमपी**ति, आधिदैविकोपि प्राकृततुल्य इति प्रकृतिभर्तार पुरुषं नाभिभवितुं शक्नोत्यतस्तत्र शोभाजनक एव भवति. पुरुषत्वेपि विषस्य नीलकण्ठे "तस्यापि दर्शयामास स्ववीर्यमि"त्यनेनाभिभवस्योक्तत्वाद् विषेणाभिभवः शङ्क्येत; पुरुषोत्तमे तदपि तथेत्यर्थः. श्लोकद्वयमहावाक्यार्थमुपसंहरन्ति **एवमि**ति. **मूर्छापर्यन्तमि**ति प्रकारः, दण्डदमनमित्यर्थः ॥२९॥

एवं सतीति त्रयाणामपि दण्डे जाते सतीत्यर्थः.

तच्चित्रेत्यत्र **आधिदैविके ही**ति, आधिदैविकानि शिरांसि शेषरूपाणि अतस्तत्पूजादर्शने शेषद्वारा नारायणस्मृतिः, हि यतस्तत्र स शेत इत्यर्थः. आधि-

भगवतः स्वामित्वं चाद्यत्वेन ज्ञात्वा **तमेवारणं** शरणं **मनसा जगाम.** मनसा हि नारायणः शरणत्वेन भावनीयः. स ह्यन्तःकरणसाक्षी. शरणं गतो हि पश्चात् सेवया भक्तो भवति, ततः परं न प्रहार इति ज्ञातव्यम् ॥३०॥

अन्येन स एवं जात इत्यन्येनैव तस्य विमोचनं वक्तुं तस्य स्त्रियः समागता इत्याह **कृष्णस्ये**ति.

कृष्णस्य गर्भजगतोतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिभग्नफणातपत्रम् ।
दृष्ट्वाऽहिमाद्यमुपसेदुरमुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥३१॥

ता हि भर्तारं द्रष्टुमागताः पतिव्रता नार्यः, अतः स्वधर्मेणैव तासां ज्ञानं– **कृष्णस्य भारेणावसन्नं** पीडितं **पार्ष्णिप्रहारेण च परितो भग्नं फणातपत्रं** यस्य. एवं

प्रकाशः

नारायणापेक्षया पुरुषोत्तम उत्कृष्ट इति तं परित्यज्य किमेतच्छरणगमनमित्याशङ्क्यैतमेव पुरुषोत्तमं ज्ञात्वा तथा कृतवानिति वदन्तो मूलस्थं **चराचरे**त्यादिविशेषणत्रयं व्याकुर्वन्ति **तदे**त्यादिना. **तदा** यदैव नारायणं ज्ञातवान् ॥३०॥

कृष्णस्येत्यस्याभासे. ननु तस्मिन् मनसा शरणागते सति भगवान् सर्वज्ञस्तं तदैव कुतो न मुक्तवानित्यत आहु**रन्येने**त्यादि. **अन्येने**त्याध्यात्मिकेन तस्योपास्येन विषेण सौभरिणा वा. तथा च यद्ययं स्वत एव तथा भवेत् तदा भगवांस्तदैवैनं त्यजेदयं त्वाध्यात्मिकबलेन तथा जात इत्यन्यप्रार्थनमपेक्षते, "ये यथा मामि"ति प्रतिज्ञानात् तथेत्यर्थः ॥३१॥

लेखः

दैविकेनेति, स्वमणितेजसा तत्कृतपूजासम्पादनमुपकारो ज्ञेयः. **उपास्येने**ति उपकृत इति शेषः. मणिप्रभायाः पुष्पायितत्वदर्शनेन "करपल्लवरोचिःसंलालित"स्मरणं, विषप्रभाया अपि पुष्पायितत्वे**नायमेव नारायण इति** ज्ञानमिति भावः. **पुरुष**त्वादाधिदैविकपूज्यत्वं, **नारायण**त्वादुपास्यपूज्यत्वं, **चराचरगुरु**त्वात् **स्वस्य दासत्वं, पुराण**त्वात् तस्य **स्वामित्वमे**वं ज्ञानं भक्त्युपयोगित्वेन निरूपितम्. **आद्यत्वेने**ति पुराणत्वेनेत्यर्थः. **आधिदैविके ही**त्यारभ्य **ज्ञात्वे**त्यन्तं ज्ञानविवरणं **मनसा ही**त्यारभ्य **भवती**त्यन्तं भक्तिविवरणमिति ज्ञेयम् ॥३०॥

अन्येनेति आधिदैविकेन उपास्येन च प्रपन्नो **जातः**, न तु स्वतः, अतः परिकरेण स्तुत्या **मोचनं**, न तु स्वस्य शरणागतिमात्रेण. स्वतः प्रपत्तौ तु शरणागतिमात्रेणैव मोचनं स्यादित्यर्थः.

स्वतोभिमानतश्च गतदोष**ममुष्यैव पत्न्यस्तं दृष्ट्वार्ताः** सत्यो भगवन्त**मुपसेदु**रिति सम्बन्धः. ननु बालकस्य भगवतः को भारः, तत्रापि सच्चिदानन्दस्य, स्थूलकार्यस्यैव भारत्वात्! तत्राह **गर्भे जगद्** यस्येति; न ह्येकेन जगद्भारः सोढुं शक्यते. नन्वस्यैव भ्राता शेषः कथं सहते? तत्रोक्तं **परितो भग्नं फणातपत्रं यस्ये**ति. न केवलं भगवान् भाररूपः किन्तु मारयति च. नन्वन्यस्य स्त्रियः कथं भगवत्स्थाने समागताः? तत्रा**हाद्यमि**ति, स ह्यहेः स्वस्य च मूलभूतो भवति. कि**ञ्चामुष्य पत्न्यः** "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इति यज्ञसंयोग एवासां पत्नीत्वम्, अयं च भगवान् यज्ञः, तत्र पतिः संयुक्तः स्वयं चेदसंयुक्ताः स्युस्तदा पत्न्य एव न स्युः. कि**ञ्चार्ताः** पत्नीत्वादेव तस्यार्धशरीरं भवन्त्यतः स्वयमेव ताडिता अर्धमृता विज्ञापयन्ति. नन्वन्यस्य मारणे कथमन्यो मारित इव पीडितो भवेत्? शास्त्रं तूपचरितार्थमितिमतं दूरीकुर्वंस्तत्राधिकारे तथैव भवतीति ताडितचिह्नान्याह **श्लथन्ति वसनानि भूषणानि केशबन्धाश्च** यासाम्. आदिमध्यावसानेषु संयुक्तपदार्थानामपगमस्ताडनव्यतिरेकेण न सम्भवति, तत्रापि मानवतीनां तासाम् ॥३१॥

भर्तृमोचनार्थं भर्तरि दयोत्पादनार्थं भर्तुर्बालकत्वं ज्ञापयन्त्यो भर्तृरूपान् बालकान् पुरस्कृत्योपायनमिव स्वसर्वस्वं भर्तृस्थापितं निवेद्य स्वयमपि भूमौ जल एवोद्गताधिदैविकभूमौ तीरस्थभूमौ वान्तर्ह्रदमध्ये प्रविष्टं भगवन्तं वात्म-निवेदनमिव कुर्वन्त्यो नमस्कारं कृत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्याह **तास्तमि**ति.

तास्तं विपन्नमनसोथ पुरस्कृतार्भाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणेमुः ।
साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाः शमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवः शरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥३२॥

नन्वागता एव कथं न प्रार्थितवत्यः? तदाह **विपन्नमनस** इति, विपन्नं मनो

प्रकाशः

तास्तमित्यस्याभासे **भगवन्तं वे**ति लक्षीकृत्येति शेषः. अस्मिन् पक्षे ह्रदभूमिर्ज्ञातव्या. तासां तादृगवस्थां दृष्ट्वा कृपालुस्तल्लज्जास्थापनार्थं तत्सहित एव

लेखः

कृष्णस्येत्यत्र **स्वत** इति देहत इत्यर्थः. अग्रे **मानवतीना**मिति पातिव्रत्याभिमानेन शरीरे अभिमानवतीनामित्यर्थः. तथा च **पत्नी**पदस्यार्थोयं, तादृशीनां स्वभावत एवं न सम्भवतीति भावः ॥३१॥

अग्रिमश्लोकाभासमाहुः **भर्तृमोचनार्थमि**ति. **तीरस्थभूमौ वे**ति, **नमस्कारं**

यासां, भगवान् मोचयिष्यतीति गतविश्वासा, भर्तुरपराधित्वात्. अतस्तं प्रकारं परित्य**ज्याथ** भिन्नप्रकारेण स्तोत्रं कृतवत्यः. **पुरस्कृता अर्भा** बालका याभिः. संयुक्ता तु सामग्री पूर्वमेव गतातो भूमौ **कायं निधाय.** नन्वेतादृगवस्थायां कथं पुरुषान्तरे पतिताः? तत्राह **भूतपतिमि**ति, स हि भूतमात्रस्य पतिः साधारणः. तर्ह्येता एवानुगृहीताः स्युस्तत्राह **साध्व्य** इति, ता हि भर्तृरूपमेव भगवन्तं सेवितुं वाञ्छन्ति, नान्यप्रकारेण. अतः **कृताञ्जलिपुटा** अञ्जलिं बद्ध्वा देवतारूपत्वाद् दिव्यस्त्रीरूपा **भर्तुः शमलस्य** पापस्यापराधस्य च **मोक्षे** मोक्षण **इच्छा** यासां तादृश्यः सत्यो भगवान् **शरणद** इति **शरणं प्रपन्नाः.** स तु शरणागत इति भगवतैव न मारणीयस्तथापि तस्य पापं सहजं तमोरूपमपराधश्च न गच्छतीत्येतासामुद्योगः ॥३२॥

दण्डानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा ॥(९)॥
प्रार्थना पञ्चभिश्चेति त्रेधा स्तुतिरुदीर्यते।
द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका ॥(१०)॥

प्रकाशः

किञ्चिन्नीचैः प्रविष्ट इति तथा. **अथ**शब्दव्यञ्जितोर्थोयमुक्तो ज्ञेयः. **संयुक्ता सामग्री** वनादिरूपा ॥३२॥

न्याय्यो हीत्यादिस्तुतितात्पर्योक्तौ **त्रेधा** स्तुतौ हेतुमाहु**र्द्विविधस्यापी**ति, भर्तुः

लेखः

कृत्वेत्यग्रिमेणैतस्यान्वयः. पक्षान्तरमाहुः **अन्तरि**ति, एतादृशं भगवन्तं वा, प्रणम्येति शेषः, प्रणम्य **भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य** इत्यन्वयः. जले भूम्युद्गमस्यानुक्तत्वाद् द्वितीयः पक्षः, तीरेपि नन्दादिस्थित्या तथा न सम्भवतीति तृतीयः पक्षः. व्याख्यानान्ते **स त्वि**ति तुशब्दः **मारणीय** इत्यस्यानन्तरमन्वेति– **मारणीयस्तु न** परं पापापराधनिवृत्तिर्न भविष्यतीत्यर्थः. पापापराधयोर्निवारणमेव मोचनमिति "कृष्णस्ये"त्यस्याभासेन न विरोधः ॥३२॥

कारिकासु **द्विविधस्यापी**ति सर्पयोनिकारणीभूतस्य सहजस्य तमो अज्ञानं तद्रूपस्य प्रत्यहं जायमानस्य चेत्यर्थः. **दण्डानुमोदने**न सहजपापस्य निवृत्तिः, **नमनेन** तमोरूपस्य, **प्रार्थन**या अपराधस्येति. त्रयाणां सङ्ख्यातात्पर्यमाहु**र्भगवानि**ति.

कारिकार्थः

नागपत्नीस्तुतौ **न्याय्यो हि दण्ड** इत्यत्र अध्यायविभागपूर्वकं स्तुतेस्त्रैविध्य-माहु**र्दण्डानुमोदनमि**त्यादि. **दण्डानुमोदनं षड्भिरि**ति. कारिकातः पूर्वोक्तं सर्प-

भगवान् षड्गुणस्तासु दशधा पञ्चधा पतिः ॥

तत्र प्रथमं भगवत्कृतस्य दण्डत्वं स्वीकृत्य तस्य न्याय्यत्वमाहुर्**न्याय्यो हि दण्ड** इति.

॥ नागपत्न्य ऊचुः ॥

न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेस्मिंस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।
रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥३३॥

अयं मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनपेतः. ईश्वरो हि त्रिविधदण्डं करोति– न्याय्यं न्यूनमधिकं च. प्रसादमर्यादेश्वरत्वधर्मास्तत्र प्रयोजकाः. तत्रायं **न्याय्यः. कृतं किल्बिषं** पापं येन, अनेन बहव एव विहिंसिता इत्येतद्धिंसाप्युचितैव. ननु पापे दण्डधरो यमोस्ति, मया कथं स कर्तव्य इति चेत्, तत्राहुस्**तवावतारः खलनिग्रहायेति**.

प्रकाशः

स्वस्य चेत्यर्थः. तावत्तावच्छ्लोकैस्तत्तत्स्तुतिकरणे हेतुमाहुर्**भगवानि**त्यादि. **पतिः** कालीयः (१० $\frac{१}{२}$). **न्याय्य** इत्यत्र **प्रसादमर्या**देति. क्रमोत्र न विवक्षित इति यथासम्भवं योज्यम् ॥३३॥

लेखः

अवतारः खलनिग्रहायेत्युक्तत्वाद् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च **षड्गुणमि**ति **दण्डानुमोदनं षड्भिरुक्तम्. तासु दशधे**ति प्रकट इति शेषः; दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति **नमनं दशभिः.** प्रार्थनीयः पतिः, भगवति पतित्वं पञ्चधा, पञ्चानां पतिरितियावत्– "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिरि"ति. धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः. अत एव सङ्ग्रहकारिकायां "स्त्रीभिश्च

कारिकार्थः

योनिकारणीभूतं सहजं पापमेकं, द्वितीयं च प्रत्यहं क्रियमाणमज्ञानरूपं, तृतीयो भगवद्विषयकोऽपराधः –एवं त्रयाणामपि **नाशिका** त्रिविधा **स्तुतिरि**ति सङ्ख्यातात्पर्यम्. **भगवानि**ति. "अवतारः खलनिग्रहाये"त्युक्तत्वाद् दण्डे हेतुः स्वरूपमेव, तच्च षड्गुणमिति **दण्डानुमोदनं षड्भिरु**क्तम्. **तासु दशधे**ति प्रकट इति शेषः; दशलीलाविशिष्टस्तासां हृदये प्रकट इति **नमनं दशभिः. पञ्चधा पतिरि**ति, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धचतुर्थाध्याये– प्रार्थनीयः पतिः, भगवति पतित्वं पञ्चधा "श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिरि"ति, धराया अपि लोकत्वमभिप्रेत्य पञ्चधैवोक्तः. अतः **प्रार्थना पञ्चभिः** कृतेत्यर्थः (९-१०).

खला हि निरन्तरं दोषकर्तारो बहुजीविनश्च. मरणानन्तरमेव यमोऽधिकारी; तावत्पर्यन्तमुपेक्षायां सर्वनाश एव स्यात्. अतः खलानां निग्रहार्थमेव भगवान् मध्येवतीर्णः. ननु तथापि कश्यपपुत्रोयं शेषभ्राता कथं दण्ड्य इति चेत्, तत्राहू **रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेरि**ति. न ह्यवतीर्णः सम्बन्धमपेक्षते, दण्डार्थमेव ह्यवताराद्. रिपोः सुतानां स्वसुतानां च सम्बन्धिनी तद्विषयिका भगवतस्तुल्यैव दृष्टिः, अन्यथाकरणे वैषम्यं स्यात्. रिपोः सम्बन्धिनी सुतसम्बन्धिनी वा सप्तम्यर्थे वा षष्ठी. किञ्च भगवान् दण्डं न पीडार्थं करोति, तथा सत्यात्मत्वं भज्येताद्यत्वं च, किन्तु भगवान् पुत्रमिव तस्याग्रे सत्फलमेवानुशंसन् दमं करोति. तदाह **धत्से दमं फलमेवानुशंसन्नि**ति. अतोस्याग्रे फलं भविष्यतीति दण्डेन विनिश्चितम् ॥३३॥

एवं भगवत्कृतस्य दण्डत्वमङ्गीकृत्येदानीं दण्ड एवायं न भवति किन्त्वनुग्रह एवेत्याहु**रनुग्रह** इति.

अनुग्रहोयं भवता कृतोहिनो दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।
यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥३४॥

भवतायमनुग्रह एव **कृतः. अहिनो**ऽहेः, अप्रयोजकत्वान्नपुंसकत्वं, ततो नुम्. अतो वाऽनुग्रहः, **अहीनो** वाऽनुग्रहः. ननु दुःखात्मकस्यास्य कथमनुग्रहरूपत्वम्? तत्राहुर्**दण्डोऽसतां खलु कल्मषापह** इति. दण्डो भगवानिति भारते व्यवस्थापितम्, अतः क्लेशरूपोपि तपोवद् यागवद् दण्डोपि कल्मषनाशक इत्यनुग्रह एव. ननु पापस्य

प्रकाशः

अनुग्रहोयमित्यत्राङ्गीकृत्य उक्तमिति शेषः. **अतो वानुग्रह** इति नपुंसकत्वादनुग्रहः. यद्वान्यस्य दण्डो दुःखरूप एवैतस्य त्वहित्वान्निकृष्टदेहस्य दमनमनुग्रह एवेत्यर्थः. **अहिन** इत्यत्र वर्णविकृतिमङ्गीकृत्य पक्षान्तरमाहु**रहीनो वानुग्रह** इति. अहिन्शब्दस्याहीनवाचकत्वं शब्दभेदाख्यकोशे स्फुटमित्यपि. तथा च दण्ड्यस्य नानुग्रह

लेखः

याज्ञिकैर्लोकैर्बुद्धिमद्भिः स्थितैः क्वचिद् असाधनैरपि ह्येतैः प्रार्थनीयो हरिः पतिरि"ति पञ्चानामेव पतिरुक्तः, अतः **प्रार्थना पञ्चभिः** कृतेत्यर्थः. **न्याय्यो ही**ति अस्य न्याय्यत्वसमर्थनाय दण्डत्रयं विवृण्वन्ति **ईश्वरो हि** इति, राजादिरित्यर्थः. **रिपोरि**त्यत्र प्रथमपक्षे स्वसुतानामित्यध्याहारो भवतीति द्वितीयः पक्षः, उभयत्रापि सम्बन्धमात्रप्रतीत्या विषयताबोधो न स्वारस्येन भवतीति तृतीयः पक्ष उक्तः ॥३३॥

अनुग्रह इत्यत्र **खल्वि**त्यस्यार्थमाहुः **दण्डो भगवानिती**ति. **अतः क्लेशरूपोपी**ति, दण्डस्य भगवत्त्वात् क्लेशजनकोपि दण्डः कल्मषनाशकः, यथा क्लेशजनकमपि तपः

प्रत्यहं जायमानस्य दीपेनान्धकारस्येव निवृत्तिरप्यप्रयोजिकान्यथा दुःखनिवारणार्थं कोपि पापं न कुर्याद्, दण्डापेक्षया पूर्वदुःखस्यैवाल्पत्वादत आह **यद् दन्दशूकत्वमि**ति. आदावसत्त्वप्रतिपादकत्वं तस्योक्तमेव, तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धं, **दन्दशूकत्वं** सर्पत्वमपि जातं; तदपि गच्छति चेद् दन्दशूकत्वमपि गच्छेत्. ततो **देहिन** इतिशब्दाद् देहसम्बन्धस्तदभिमानश्च गच्छेत्. अतो बह्वर्थसाधकदण्डस्य हेतुभूतः **क्रोधोप्यनुग्रह एव.** न केवलं युक्तिमात्रं किन्तु **सम्मतः** सतां मतः सर्वाविप्रतिपन्नरूपः. अतो **दण्डो** दण्डहेतुः **क्रोधश्चानुग्रह एव** ॥३४॥

प्रकाशः

इति भावः. **आदावि**ति पूर्वार्धे. **दुःखस्यैवे**ति कामादिकृतदुःखस्यैव. श्रीधरीये **'हिन'** इतिपदद्वयं कृत्वा व्याख्यातं तच्चिन्त्यं, **न** इत्यस्य नागपत्नीवाचकत्वे तासु दण्डस्य तदनुग्रहताया वक्तुमशक्यत्वा**न्न** इत्यस्य कालीयपरत्वे लक्षणापत्तेश्चेत्यादिदोषात्. पूर्वं **तस्योक्तमि**ति पापस्योक्तम्. दण्डस्य तद्धेतुभूतक्रोधस्य चानुग्रहत्वं व्युत्पादयन्ति **सिद्धमि**त्यादि. **तदपी**ति पापमिति ॥३४॥

लेखः

"तपो मे हृदयमि"तिवाक्येन भगवत्त्वात् कल्मषनाशकं तथेति. ननु दण्डनलक्षणकर्मरूपस्यास्य कथं पापकर्मनाशकत्वं, कर्मणः कर्मानाशकत्वस्य निबन्धे व्यवस्थापितत्वाद्, अत आहु**र्दण्डोपी**ति, दण्डनलक्षणकर्मरूपोपीत्यर्थः. **यागवदि**ति, यथा यागः कर्मरूपोपि "तरति ब्रह्महत्यामि"तिश्रुत्युक्तत्वात् कर्मनाशकः तथायमपि भगवत्त्वात् तथेत्यर्थः. उत्तरार्धस्याभासमाहुः **नन्वि**ति. यथा **दीपेनान्धकार**निवृत्तावप्यन्धकारकारणीभूताया रात्रेर्विद्यमानत्वाद् दीपे निवृत्तेऽन्धकारस्तिष्ठेदेव तथा **प्रत्यहं जायमानस्य पापस्य** दण्डेन निवृत्तावपि तत्कारणीभूतस्य दन्दशूकत्वजनकपापस्य विद्यमानत्वाद् दण्डे निवृत्ते पापं तिष्ठेदेवेति तादृशी **निवृत्ति**र्मूलभूतपापस्याभावं **प्रत्यप्रयोजिके**त्यर्थः. **अन्यथे**ति तादृशनिवृत्त्यैव मूलभूतपापनिवृत्तौ **दण्डापेक्षया पूर्वदुःखस्याल्पत्वं** ज्ञात्वा कामादिजनितदुःखनिवृत्त्यर्थं **पापं न कुर्यात्.** अतस्तथा ज्ञात्वापि मूलभूतपापवशात् पापं करोतीति भावः. **यद् दन्दशूकत्वमि**ति– यस्मात् कल्मषाद् दन्दशूकत्वं जातं तादृशकल्मषापह इत्यर्थः. **आदावि**ति, पापस्यासद्योनिजनकत्वं पूर्व**मुक्तमेव,** तदा **तद्गमनेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धमे**व जातमित्यर्थः. **जातमि**ति यस्मात् कल्मषादिति शेषः. **तदपी**ति सर्पयोनिहेतुभूतकल्मषमपीत्यर्थः. अत्र सहेतुकदण्डस्यानुग्रहत्वं वाक्यार्थ इत्युपसंहाराद् ज्ञेयम्, आश्चर्यं वाक्यार्थोऽग्रिमश्लोके आभासेन निरूपितः ॥३४॥

किञ्चास्तां दण्डप्रसादवार्ता, एकमत्यन्तमाश्चर्यं प्रतिभाति यदस्मिन् नृत्यं कृतवानिति. तत्र हेतुं न जानीम इत्याहु**स्तपः सुतप्तमि**ति.

तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।
धर्मोथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥३५॥

धर्मो द्विविधः– प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च. तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तपो, विद्यमानस्यैवासत्सम्बन्धस्य त्याजकत्वात्. अत एव "यदा वै दीक्षितः कृशो भवत्यथ मेध्यो भवती"त्यादिवाक्यानि. सम्पादकस्तु प्रवृत्तिलक्षणो धर्म इत्युच्यते. एकस्तु दोषनिवृत्त्या विद्यमानमेव फलं प्रकटीकरोत्यपरस्तु दोषचिन्तां परित्यज्यागन्तुकं फलं साधयति. भगवांस्त्वात्मा ईश्वरश्च ज्ञानप्रसादो भक्तिप्रसादश्च. तत्राद्ये पक्षे

प्रकाशः

तपः सुतप्तमित्यत्र. ननु ज्ञायत एव नृत्यकरणे हेतुर्धर्म इत्याशङ्कायां धर्मस्वरूपं भगवंत्स्वरूपं च विचारयन्ति **धर्म** इत्यादिना. **विद्यमानस्ये**ति शरीरे विद्यमानस्य. **सम्पादक** इति फलसम्पादकः. **विद्यमानम्** इत्यात्मलाभरूपम्. धर्मद्वयेनापि भगवत्तोषाभावे हेतुमाहु**र्भगवांस्त्वि**त्यादि. **भगवांस्त्वात्मा** व्यापक इति **ज्ञानेन प्रसादो** यस्य तादृशः, कि**ञ्चेश्वरो** नियामकश्चेति **भक्त्या प्रसादो** यस्य तादृशः. तथा च ज्ञानाभावे तपसा न तुष्यति, "न च प्रमादात् तपसो वाप्यलिङ्गादि"ति "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान" इत्यादिश्रुतेर्भक्त्यभावे धर्मान्तरेणापि न तुष्यति, "नाहं वेदैरि"ति "नालं द्विजत्वमि"त्याद्युपक्रम्य "प्रीयते-

लेखः

तपः सुतप्तमित्यत्र एतत्तपोधर्मयोर्लोकोत्तरत्वं निरूपयितुं लोकसिद्धे ते निरूपयन्ति **धर्मो द्विविध** इत्यादिना. **विद्यमानस्यैवे**ति, न त्वविद्यमानफलसम्पादक **इत्येव**कारः. **असत्सम्बन्धस्ये**ति स्त्रीपुत्रादिभिः सम्बन्धस्येत्यर्थः. **एकस्त्वि**ति निवृत्तिलक्षणो धर्मः असत्सम्बन्धं निवर्त्त्य **विद्यमानमेवा**त्मरूपं **फलं** प्रयच्छति. प्रवृत्तिलक्षणस्तु दोषमनिवर्त्त्यैवाविद्यमानं स्वर्गादिकं प्रयच्छति. अत्र जातस्य भगवत्तोषरूपफलस्योभयविधत्वं निरूपयन्ति **भगवांस्त्वि**ति. तुशब्देन फलान्तरस्योभयविधत्वं निवारितम्. **आत्म**त्वाद् विद्यमानफलरूपं **ज्ञानं प्रसादो** यस्य तादृशः, **ईश्वर**त्वादविद्यमानफलरूपा **भक्तिः प्रसादो** यस्य तादृशः. तथा च तपोधर्मयोर्भगवत्तोषं जनयित्वैव तदुभयजनकत्वात् तपोधर्माभ्यां तत्सम्बन्धः सम्भवति, तथापि लोकसिद्धतपसोऽभिमानरूपदोषसहितत्वात् तन्न सम्भवति, अतो लोकोत्तरं किं तप

तपसा ये दूरीकर्तुमशक्या दोषास्तेषु विद्यमानेषु तपसा न निवृत्तिः सम्पादयितुं शक्या. स दोषस्त्वहङ्कारात्मकः, यस्तपसा न गच्छति प्रत्यु'ताहं तपस्वी'त्यधिकएवाहङ्कारो भवति. तदर्थमाह **किंवानेन** लोकोत्तरं **तपस्तप्तमिति** येन **भवान्** परमात्मा **तुष्यति?** तोषान्यथानुपपत्त्या तादृशमपि तपोऽस्तीति कल्प्यते. तत्रापि **सुतप्तं** देशकालादिसाधनानि सम्यग् जातानि प्रकारश्च, अन्यथा षड्गुणो भगवान् न तुष्येत्. परं दोषान्तरनिराकरणार्थं धर्मद्वयमपेक्षते, तदाह **निरस्तमानेन च मानदेनेति**. स्वयं निरभिमानो महानप्यन्यस्मै हीनायापि मानं प्रयच्छति. तदाह स्वकृतः परकृतश्चाभिमानौ गच्छतः. यद्यप्यस्य पक्षस्य तोषजनकत्वमस्ति तथापि यावता भगवान् नृत्यति तावत्तोषजनकत्वं न भवतीति पक्षान्तरमाह **धर्मोथ वे**ति. प्रथमपक्षे बहिस्तोषरूपनृत्यहेतुत्वं नोपपद्यतेऽत उभयमप्यपेक्षितं, **वा**शब्दः समुच्चये. **वा**शब्दप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते– तपो निवृत्तिलक्षणो, धर्मोस्तु न वा, बहिस्तोषहेतुरवश्यमपेक्ष्यते. **अथे**ति भिन्नप्रक्रमे. तेन धर्मशास्त्रानुसारेण धर्मो नैतादृशं फलं साधयति किन्तु भगवच्छास्त्रा-

---

प्रकाशः

मलया भक्त्ये''त्यादिवाक्यैः. तदेतत् स्फुटीकुर्वन्ति **तत्राद्ये पक्ष** इत्यादि. **किमि**ति विकल्पे. **अन्यथे**ति देशादिषडङ्गाभावे. तत्रापि विशेषमाहुः **परमि**त्यादि. तथा च यद्यपेक्षितं धर्मद्वयमस्मिन् स्यात् तदेदानीमप्ययं तादृशस्वभावः स्यात्, तदभावाच्च तादृशं साधनमनेन न कृतमित्यवसीयत इत्यर्थः. एवं सामान्यतपःपक्षस्य तोषहेतुत्वं नृत्याहेतुत्वं च साधयित्वा द्वितीयपक्षस्य तथात्वं साधयन्ति **यद्यपी**त्यादि. **तत्रापी**ति

लेखः

इत्याश्चर्यम्. धर्मोपि. **योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वात्** कथमस्य सम्पन्न **इत्याश्चर्यमु**पसंहारे वक्ष्यते. **तत्राद्ये पक्ष** इति तपसा भगवत्परितोषपक्ष इत्यर्थः. **न निवृत्तिरि**ति असत्सम्बन्धस्येत्यर्थः. **स दोष** इति तपसा दूरीकर्तुमशक्य इत्यर्थः. **प्रत्युते**ति तपसि जाते प्रवर्धतेऽपीत्यर्थः. **देशे**त्यादि– **सु**इत्यस्याक्षरार्थोयं, निर्दुष्टं षड्गुणं जातमित्यर्थः. **भव**त्पदस्य भागवते भगवानर्थः, तदर्थः **षड्गुण** इति तादृशो भगवान् षड्गुणेनैव तपसा तुष्यति. तपसः षड्गुणत्वं द्वितीयस्कन्धे विवृतम्. **दोषान्तरे**ति, विषयाभिलाषया चित्तवैयग्र्यस्यान्तरदोषस्येत्यर्थः. **निरभिमान** इति गतदेहाभिमान इत्यर्थः. तेन शीतादिकालधर्मैश्चित्तवैयग्र्यं न भवति. अन्यस्मै मानदानेन च तत्कृतप्रतिबन्धाभावात् चित्तवैयग्र्यं न भवति. पूर्वोक्तोहङ्कारस्तु 'अहं तपस्वी महानि'त्याकारको ज्ञेयः. **परकृत** इति 'अहं ब्राह्मणः कथमन्यस्य सन्मानन्ं

नुसारेणैव. तत्राप्येको दोषः परिहरणीयः– द्रव्यमयश्चेत् परोपद्रवकारी क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी ज्ञानमयश्च तथा, अयमेवापरितोषस्तपसि. अतस्तद्दोषपरिहारार्थमाह **सर्वजनानुकम्पये**ति. सर्वजनेषु यानुकम्पा, यत्र स्वपरद्रोहसम्भावना नास्ति, भगवच्छ्रवणकीर्तनादौ, तत्रापि कीर्तने. ननु भगवत्तोषहेतुषु परिचर्यादिरूपेषु भगवद्धर्मेषु सत्सु कथमयमेव सर्वोपकारी धर्मस्तोषहेतुरिति चेत्, तत्राह **सर्वजीव** इति. सर्वान् जीवयतीति **सर्वजीवः**, सर्वे वा जीवा यस्मादिति वा, सर्वेषां जीवात्मरूपो वा. अतः सर्वोपकारिणि धर्मे तोष उचितः, **यतो** भगवान् **सर्वजीवः.** अनेनैवापराधाभावोपि सूचितः. योनिजीवस्वभावकर्मणां विरुद्धत्वादाश्चर्यम् ॥३५॥

किञ्चास्तामिदमाश्चर्यम्, इतोप्यधिकमाश्चर्यमस्तीत्याहुः **कस्ये**ति.

कस्यानुभावोस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥३६॥

भगवच्चरणारविन्दरेणवो भगवदीयदेहसम्पादका इति पूर्वमवोचाम. तादृशानां सम्बन्धोऽस्य च जातस्तेन ज्ञायते भगवदीयदेहं प्राप्स्यतीति. परं येषामेव कोटिजन्मोपार्जितत्रिविधधर्मसंस्कृतभूतानि तेषामेव देहं सम्पादयन्तीति मर्यादया

प्रकाशः

भगवच्छास्त्रीये यज्ञादिरूपे धर्मे. **तत्रापि कीर्तनमि**त्यन्यापेक्षाराहित्याच्च स्वतोपेक्षाराहित्याच्च स्वपरद्रोहरहितमित्यर्थः. **अनेनैवे**त्यात्मत्वेनैव ॥३५॥

कस्यानुभाव इत्यत्राधिकारहेत्वज्ञानं व्युत्पादयन्ति **तादृशानामि**त्यादि. एवं फलानुमाने कुतो हेत्वज्ञानमित्यत आहुः **परमि**त्यादि. **तेषां** भगवदीयाना**मेव** **कोटिजन्मार्जित**श्रौतस्मार्तभगवदीय**धर्मसंस्कृतभूतानि** भगवदीयजीवानामेव **देहं** **सम्पादयन्तीति** मार्यादिकी **व्यवस्था.** तथा चैतस्य पूर्वं भगवदीयत्वं नावगतमिति

लेखः

करोमी'त्याकारको ब्राह्मण्यादिधर्मकृत इत्यर्थः. **धर्मोथवे**त्य**त्राथ वा** इत्यव्ययद्वयं ज्ञेयम्. **एको दोष** इति उपद्रवकारित्वरूपो दोष इत्यर्थः. **अयमेवे**ति, नृत्यावधितोषाजनकत्वरूपः पूर्वमुक्तोपि मुख्यो**ऽयमेवेत्येव**कारेण स व्यावर्त्यते. **तपसी**ति विषयसप्तमी, तपोविषयक इत्यर्थः. **तत्रापी**ति. द्रोहाभाव उभयत्रापि परन्तु कीर्तने लोकानुग्रहोपि सिध्येदिति भावः ॥३५॥

कस्येति श्लोकत्रयेपि पूर्वोक्तादधिकमाश्चर्यमेव वाक्यार्थ इति आभासे **किञ्चे**ति समुच्चय उक्तः. **कस्ये**त्यत्र **अनुभाव**पदार्थं विवृण्वन्ति **भगवच्चरणारविन्दरेणव**

व्यवस्था. साधारणसंस्कारपक्षे तूपपत्तिः सम्भवति. तत्रापि हेतुः कश्चन वक्तव्यः. स च क्रियारूपो न भवति, अधिकारिणामेव तथात्वसम्पादकत्वात्. अलौकिकस्तु भवति. स लोकेऽनुभावो न सिद्धः. ततो**ऽस्यापि कस्यचिदनुभावो**स्तीति ज्ञायते, परं स सम्बन्धी न निर्णीतस्तस्यानुभावस्य प्रयोजनमाहु**स्तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार** इति. तवाङ्घ्रिरेणूनां स्पर्शेऽधिकारो येन गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणो न तु

प्रकाशः

न मार्यादिक्या व्यवस्थया हेतुज्ञानम्. **साधारणसंस्कारपक्षे तु** त इच्छयैवाधिकार **इत्युपपत्तिः सम्भवति** परमिच्छायामपि कश्चिद्धेतुर्वक्तव्यस्तत्र **क्रियारूपस्य** हेतोरुक्तरीत्यासम्भवाद**लौकिकोनुभावो** वा वक्तव्यः. **स लोके न सिद्ध** इति कार्यबला**दनुभावोस्तीति ज्ञायते परमनुभावसम्बन्धी न निर्णीत** इत्यतो हेत्वज्ञानम्. तथा च चरणरेणुस्पर्शरूपकार्यदर्शनबलादस्याधिकारस्तद्धेतुश्च कश्चिदस्तीति सामान्यतो

लेखः

इत्यारभ्य **ज्ञायत** इत्यन्तेन. **अस्य चे**ति, भगवदीयानां जायत एव अस्यापि जात इति **च**कारः. **परमि**ति. सम्बन्धो जातस्तेन तत्प्राप्तिश्च भविष्यति **परमे**वं व्यवस्थापक्षे असम्भावितमित्यर्थः. **तेषामि**ति येषां रेणुसम्बन्धो जातः. **त्रिविधे**ति, अग्रिमश्लोके विवृतं सात्त्विकादित्रैविध्यमत्रापि ज्ञेयं; त्रिविधधर्मसंस्कृतरेणुसम्बन्धे त्रिविधधर्मफलं न वाञ्छन्तीति द्वयोः सङ्गतिः. **भूतानी**ति चरणस्थितानि रेण्वादीनीत्यर्थः. **साधारणे**ति. तदुपार्जितत्वं विशेषः पूर्वमुक्तः;[1] धर्ममात्रसंस्कृतानि रेण्वादीनि तादृशं देहं जनयन्तीति पक्षे इत्यर्थः. **तत्रापी**ति रेणुभिस्तादृशफलोपपत्तावपि रेणुसम्बन्धे **हेतुर्वक्तव्य** इत्यर्थः. धर्मे हेतुरुक्तः स त्वत्र तु न सम्भवतीत्याहुः **स चे**ति. **अलौकिकस्त्वि**ति अनुभावस्तु हेतुर्भवतीत्यर्थः. अनुभावस्यालौकिकत्वं व्युत्पादयन्ति **स लोके** इति, लोकासिद्धत्वादलौकिक इत्यर्थः. **तत** इति अनुभावस्य हेतुत्वसम्भवादित्यर्थः[2]. **प्रयोजनमि**ति फलमित्यर्थः. समासमाहुर**ङ्घ्री**ति. **येनाधिकारो** जातस्तादृशोनुभाव इत्यर्थः. अनधिकारिण्यधिकारसम्पादनमाश्चर्यमित्यर्थः. एतत्समर्थनार्थम् अधिकाराभावमुत्तरार्धाभासेनाहुः **गुणातीता एवे**ति. **हि** यत इत्यर्थः. **तस्याश्चे**दिति,

---

[1] अत्र "अतोन्यापि ह्येकेषामुभयोरितिन्यायेन पुष्टिमार्गीयेषु सौहार्दकरणे तत्साधुकर्मणः प्राप्तौ तद्धर्मेणापि संस्कृतानि रेण्वादीनि" इत्यादिकं यदादर्शद्वयेपि दृश्यते तत् केनचित् प्रक्षिप्तमिति भाति.

[2] "हेतुत्वसम्भवात् कस्मिंश्चिन्महापुरुषेनेन सौहार्दं कृतं तदनुभावोस्मिन् सम्प्राप्त इत्यर्थः" इति आदर्शद्वये अस्ति तत् पश्चात् प्रक्षिप्तमिति प्रतिभाति.

सगुणाः कथञ्चन, यतो महद्भिरपि सगुणैर्जीवैस्तन्न प्राप्यत इत्याह **यद्वाञ्छये**ति. **श्रीः** सात्त्विकी भगवच्छक्तिः, तस्याश्चेन्नाधिकारो ब्रह्मरुद्रयोस्तत्सम्बन्धिनां च सुतरामेव नाधिकारः. ब्रह्मानन्दरूपापि सा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **ललने**ति, या श्रीः स्त्रीरूपा शक्तिरूपेति यावत्. अनेन भगवतोऽन्तरङ्गदासीभूता निरूपिता; सापि **तपः** करोति दास्यसिद्ध्यर्थं तथापि न प्राप्तवती. त्रितयमेवैतत्स्थानमिति सर्वप्रसिद्धिः, न तु चरणौ. न च वक्तव्यं स्त्रीभावेन भोगेच्छा तत्र प्रतिबन्धिकेतीत्याह **विहाय कामानि**ति– सर्वानिवान्तःकरणाभिलाषरूपान् धर्मान् परित्यज्य तपः करोति. न च वक्तव्यं दीर्घकालादरनैरन्तर्याभावस्तस्या इति, तत्राहुः **सुचिरं धृतव्रते**ति. आदरनैरन्तर्ये व्रताभिनिवेशात् जायेते. एवं साधनविचारेण रेणूनामुत्कृष्टत्वमुक्त्वा तत्स्पर्शायोग्यत्वमस्य समर्थितम् ॥३६॥

इदानीं फलविचारेणापि माहात्म्यं वदन्त्यस्तथात्वमाहुर्**न नाकपृष्ठमि**ति.

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥३७॥

लोके ह्येतावन्ति फलानि त्रिविधधर्मसाध्यानि. तत्र सात्त्विकधर्मसाध्यः स्वर्गो **नाकपृष्ठा**त्मको यत्रेन्द्रादयो निवसन्ति. राजसधर्मसाध्यं **सार्वभौमं** सर्वस्या

प्रकाशः

ज्ञायते, न तु विशेषतोऽयमेवेति निर्णेतुं शक्यत इतीदमाश्चर्यमेवेत्यर्थः. **त्रितयमि**ति गुणत्रयम् ॥३६॥

न नाकपृष्ठमित्यत्राभासे **तथात्वमि**ति चरणरेणुस्पर्शायोग्यत्वम्. **सर्वसाध्य**इति

लेखः

सगुणानां निरूपणीयत्वात् ब्रह्मरुद्रावपि निरूपणीयाविति कैमुतिकन्यायेन तन्निरूपणमुक्तम्. **ब्रह्मानन्दे**ति, सा तु गुणातीतैवेति भावः. **स्त्रीरूपे**ति विष्णोः सत्त्वाधिष्ठातुः स्त्रीत्यर्थः. **त्रितयमि**ति सगुणमित्यर्थः. **न तु चरणावि**ति, भगवच्चरणयोर्गुणातीतत्वादिति भावः. सगुणेषु कामकामेष्वेव सा तिष्ठति न तु गुणातीतचरणाश्रितेषु भक्तेषु, "तं भजन् निर्गुणो भवेदि"त्यादिवाक्यैरिति भावः. ब्रह्मानन्दरूपा तु व्यावृत्तैव. **दीर्घे**ति– दीर्घकालः आदरः नैरन्तर्यं च, तेषामभाव इत्यर्थः. **एवमि**ति. अस्मिन् श्लोके वाक्यार्थोयम्, आभासे तु श्लोकत्रयस्योक्त इति ज्ञेयम् ॥३६॥

यत्पादरज इत्यत्र **यदि**ति द्वितीयान्तं पादरजसो विशेषणं, न तु समासः. **प्रपत्तिः** शरणागतिः ॥३७॥

अपि भूमेराधिपत्यम्. ज्ञानसहितसात्त्विकराजसोभयधर्मसाध्यं **पारमेष्ठ्यं** ब्रह्मस्थानम्. तामसधर्मसाध्यं **रसाधिपत्यं,** निवृत्तिधर्मसाध्यो **योगः, सिद्धयश्चा**णिमादयो ध्यानादिसाध्याः, **अपुनर्भवो** मोक्षः स सर्वसाध्यः –एतावन्ति फलानि. **वा**शब्देनानुक्तसर्वसमुच्चयोऽनादरश्च सूच्यते. एतानि सर्वाण्येव फलानि **यत्पादरजःप्रपन्ना न वाञ्छन्ति–** रजःप्राप्तौ तु न वाञ्छन्तीति किं वाच्यम्, रजःप्रपन्ना एव यत्र न वाञ्छन्ति ॥३७॥

एवं रजसो महाफलत्वं निरूप्य तदनेन प्राप्तमित्यस्य भाग्यमभिनन्दन्ति **तदेष** इति.

तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोप्यहीशः ।
संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥३८॥

नाथेति सम्बोधनेनोपपत्तिरुक्ता. **अन्यैर्दुरापमप्ययमाप** प्राप्तवान्. अस्यानधिकारधर्मानाह **तमोजनिरि**त्यादिभिः. केवलतमसैव जनिर्जन्म यस्य, अनेन मूलाशुद्धिरुक्ता, **क्रोधवश** इति कार्याशुद्धिः. **अहीश** इति संसर्गाशुद्धिरुक्ता, **ईश**पदेनान्यकृतपापसम्बन्धोप्युक्तः. एवं सर्वदोषनिधानस्य सर्वोत्कृष्टदुर्लभफलप्राप्तिः केवलं भगवदिच्छयेत्याहुः **संसारचक्र** इति. यादृच्छिकमिदं फलं भगवदिच्छयैव भवतीति निर्णीयते. चक्रे हि पतितः सर्वत्र परिभ्रमति. स भगवच्चरणेप्यायाति भगवति समागतेऽतो न कोपि हेतुः कर्मादिः, किन्तु **यदिच्छतो** यस्य चरणारविन्दरेणोरिच्छत इच्छां कुर्वतः पुरुषस्य साधनरहितस्यापि **विभव** उत्कृष्टफलं कदाचित् **समक्षो** भवति प्रत्यक्षो भवति. **यदृच्छत** इतिपाठे यदृच्छातोऽकस्माद् भगवदिच्छया वा ॥३८॥

एवं चरणस्पर्शभगवत्तोषादिलक्षणं तस्य भाग्यमभिनन्द्य तत्सम्बन्धात् स्वयमपि भगवन्नमस्काराधिकारिण्य इति नमस्यन्ति **नमस्तुभ्यमि**ति दशभिः–

दशरूपाणि तु हरेर्मूलरूपः स्वशास्त्रतः ॥(११)॥

प्रकाशः

सर्वभावसाध्यः सर्वत्र ब्रह्मबुद्ध्या सर्वहितकृत्या च साध्य इत्यर्थः ॥३७॥

नतितात्पर्योक्तौ. ननु वेदे ब्रह्मणः कर्मब्रह्मभेदेन द्विरूपत्वात् तन्त्रे च चतूरूपत्वाद् द्वयेन चतुर्भ्यो(र्भिः!) वा नमस्कार उचितो न तु दशभिस्तदधिकरूपानु

लेखः

संसारचक्र इत्यत्र **यस्ये**ति **इच्छां कुर्वत** इत्यनेन सहान्वयात् षष्ठ्यन्तमुक्तं, मूले तु द्वितीयान्तमेव ॥३८॥

वेदान्तवेद्यरूपश्च जगद्रूपस्तथैव च ।
सङ्घातजीवरूपश्च नानारूपश्च शास्त्रतः ॥(१२)॥
एवं प्रमेयरूपाणि पञ्चधोक्तानि वै हरेः ।
वेदार्थरूपस्तन्त्रार्थो गुणार्थो ह्यवतारकृत् ॥(१३)॥
अन्तर्यामी च भगवान् दशधोक्तः स्वलीलया ॥

प्रकाशः

पलम्भादितिशङ्कायां तत्करणतात्पर्यमाहु**र्दशरूपाणि त्वि**त्यादि. **तु**शब्दः पक्षं व्यावर्तयति. तथा च श्रीभागवतानुसारेण तच्छास्त्रानुसारेण च दशरूपाणां सत्त्वात् तथेति न दोष इति भावः. तत्तच्छ्लोकप्रतिपाद्यस्वरूपं क्रमेणाहु**र्मूलरूप** इत्यादि.

लेखः

एवमिति चरणस्पर्शस्तत्तोषश्चाश्चर्यमिति पूर्वमुपक्रान्तः श्लोकत्रयार्थोत्रोपसंहृतः. कारिकासु **वेदार्थरूप** इति वेदरूपोऽर्थरूपश्चेत्यर्थः. **तन्त्रार्थ** इति तन्त्रप्रतिपाद्य इत्यर्थः. **गुणार्थ** इति गुणानां वस्तुरूप इत्यर्थः. **अवतारकृ**दिति, "आद्योवतारः पुरुषः परस्ये"तिवाक्यात् तत्रावतरणकृदित्यर्थः. **अन्तर्यामी चे**ति **च**कारेण

योजना

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकार्थनिरूपककारिकासु **मूलरूप** इति "नमस्तुभ्यमि"तिश्लोके **भगवत्**पदोपादानात् **परमात्म**पदोपादानाच्च. **वेदान्तवेद्य** इति "ज्ञानविज्ञाननिधये" इतिश्लोके **ब्रह्मपदानन्तशक्ति**पदोपादानात्. **जगद्रूपे**ति "कालाये"ति श्लोके **विश्वाये**तिपदोपादानात्. **सङ्घातजीवरूप** इति "भूतमात्रेन्द्रिये"तिश्लोके **भूतमात्रेन्द्रिये**त्यादिपदोपादानात्. **नानारूप** इति "नमोऽनन्ताये"तिश्लोके **अनन्ताये**तिपदोपादानात्. **वेदार्थरूप** इति "नमः प्रमाणमूलाये"तिश्लोके **प्रमाणमूला**दिपदोपादानात्. **तन्त्रार्थ** इति "नमः कृष्णाये"तिश्लोके व्यूहसहितपुरुषोत्तमनिरूपणात्. तथा हि– 'रामाये'त्यनेन सङ्कर्षण उक्तः, 'वसुदेवसुताये'त्यनेन वासुदेवः, 'प्रद्युम्नानिरुद्ध'पदाभ्यां तावेव, 'कृष्ण'पदेन सच्चिदानन्दः पुरुषोत्तम उक्तः. **गुणार्थ** इति

कारिकार्थः

नमस्तुभ्यमित्यादिदशश्लोकप्रतिपाद्यानि रूपाण्याहु**र्दशरूपाणी**त्यादि. "कालाये"तिश्लोके **जगद्रूप** उक्तः. यद्यप्येतदाभासे **जगद्रूपतामुक्त्वा नमस्यन्ती**त्युक्तं तथा**प्युक्त्वे**ति न पूर्वानुवादः किन्तु 'कालाये'तिश्लोक एव जगद्रूपताकथनपूर्वकं नमनमेव वाक्यार्थ इति. **सङ्घाते**ति (११-१३).

ज्ञात्वा हि स्तोत्रं कर्तव्यं कोयमिति कियानिति कथङ्गुणक इति च. तत्र दशविधो भगवान् दशविधलीलाभिरेकस्यामेकस्यां लीलायां यावन्त्यवान्तररूपाणि तानि सर्वाण्युच्यन्ते. तत्र प्रथमं सृष्टिलीलां वदन्त्यः पुरुषोत्तमरूपं भगवन्तं निरूपयन्त्यो नमस्यन्ति **नमस्तुभ्यमि**ति.

नमस्तुभ्यं भगवते पुरुषाय महात्मने ।
भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥३९॥

टिप्पणी

पुरुषाय महात्मन इत्यस्याभासे, **ततः सर्वोत्तमोपी**त्यादि. यद्यपि सर्वोत्तमस्तथाप्ययं नन्दगेहे जातो, न तु नृसिंहवत्स्वयमेव प्रकटः. तथा च जननं गर्भादिसापेक्षमिति पुरुषोत्तमत्वमनुपपन्नं स्यादिति तदभावाय **पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेनो**पपादयतीत्यर्थः ॥३९॥

प्रकाशः

तथैवेति वेदान्तप्रतिपाद्येन प्रकारेण. **सङ्घातजीवरूपश्चे**तीदमपि वेदान्तप्रतिपाद्य एव प्रकारे प्रविशति साङ्ख्योक्ते वेति ज्ञेयम्. ननु वेदार्थरूप एव कुतो न नमस्यते तत्राहु**र्ज्ञात्वे**ति. **हि** युक्तोयमर्थो, "योन्यथा सन्तमि"तिवाक्यात्. अयं च न केवलं

लेखः

"परावरगतिज्ञश्च" तत्रैवोक्तः (१३ $\frac{१}{२}$). कारिकाणामन्ते ननु दशश्लोकेषु नमनमेव वाक्यार्थ इति स्वरूपवर्णनं कुत्रोपयुज्यते इत्यत आहुः **ज्ञात्वा ही**ति. स्वरूपं ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, **हि** युक्तोयमर्थः, अन्यथा स्तुतेरारोपितत्वं भगवान् मन्येत. अतः स्वज्ञानं भगवते बोधयितुं स्वरूपवर्णनमित्यर्थः. वाचिकनमनेन भगवतो नमस्यत्वगुणस्योक्तत्वात् नमनस्यापि स्तुतित्वमिति भावः ॥३९॥

योजना

"नमो गुणे"तिश्लोके 'गुणप्रदीपाये'त्यादिपदोपादानात्. **अवतारकृदि**ति "अव्याकृते"तिश्लोके 'अव्याकृतविहाराये'त्याद्युक्तेः. **अन्तर्यामी चे**ति "परावरे"तिश्लोके 'परावरगतिज्ञाये'तिपदोपादानात् . **तुभ्यं भगवते** इत्यस्य विवृतौ **आविर्भूतानाविर्भूत** इति. **तुभ्यमि**ति युष्मच्छब्देन पुरोवर्तिनिर्देशात् पुरोवर्तित्वस्याविर्भूत एव सत्त्वात्, **भगव**त्पदे अनाविर्भूत इति. "ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यत" इतिवाक्याद् भगवत्पदं परमकाष्ठापन्नवस्तुवाचकम्. परमकाष्ठापन्नत्वाविर्भूतानाविर्भूतत्वेन द्विविधं, तत्र **तुभ्यम**ित्यनेनाविर्भूतस्योक्तत्वाद् **भगव**त्पदेनानाविर्भूत उच्यत इत्यर्थः ॥३९॥

भगवान् मूलभूतः स एव भवान्, तदाह **तुभ्यं भगवते नम** इति. आविर्भूतानाविर्भूतरूपे एते एव, ततः सर्वोत्तमोप्ययं जात इतीतरसापेक्षत्वेन पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेन निरूपयन्ति **पुरुषाय महात्मने.** महांश्चासावात्मा चेति. **आत्मा** हि साक्षात् सर्वस्मृतिप्रतिपाद्यः, **पुरुषः** साङ्ख्यप्रतिपाद्यः, **महान्** वेदप्रतिपाद्यः; त्रितयमेकीकृतं महान् पुरुषरूप आत्मेत्युक्तं भवति. अनेनैव सच्चिदानन्दरूपताप्युक्ता– **पुरुषः** सद्रूपो **महाना**नन्दरूपश्चिद्रूप **आत्मे**ति. ततो मूलभूतस्य पञ्चात्मकत्वमाह **भूतावासाये**त्यादिपदैः. स एव मूलरूपो भवति यस्मिन् सर्वाणि भूतानि तिष्ठन्ति. एतदर्थमेव भगवता प्रदर्शितं मात्रे स्वस्मिन् जगत्. तदाह भूतानामावासो यस्मिन्निति. तानि चेद् भूतानि भिन्नानि भवेयुस्तदाऽसङ्गत्वं भगवतो भज्येतेति भूतरूपोपि भगवान्, तदाह **भूताय पराये**ति. स एव च पुनर्मूलरूपो भवति यस्तु प्रशास्ति, अनियामकस्य मूलत्वं न सम्भवतीति. तदाह **पराये**ति, "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत" इत्यादिश्रुतेः. यश्च पुनर्न सर्वोत्तमः स मूलभूतो न भवतीति **परम** उत्कृष्ट उक्तः. तथा न व्यापको योयं नात्मा स विभूतिमान् न भवतीति न तस्य मूलत्वं, तदा**हात्मन** इति; **परम**श्चासा**वात्मा** चेति. सर्गलीलायां तु प्रथमतो भगवान्, ततः पुरुषः, ततो महत्तत्त्वं, ततो भूतावासोऽहङ्कारः, ततो भूतानि, ततः सर्वं जगत्. तत्रापि **परो** विराड्रूपः **परमात्मा** नारायणश्चेति ब्रह्माण्डविग्रहान्ता सर्वकथा ॥३९॥

विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति **ज्ञानविज्ञाननिधय** इति.

ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।
अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥४०॥

ज्ञानं शास्त्रीयं, **विज्ञानम**नुभवः, निर्विषयकं सविषयकं वा, आत्मभूतं गुणभूतं च, तयो**र्निधि**रुत्पत्तिस्थानं, ये केचन ज्ञानविज्ञानार्थिनस्ते सर्वे तत एव कृतार्था भवन्तीति. एवं साधनरूपतामुक्त्वा फलरूपतामाह **ब्रह्मण** इति. ननु ब्रह्मणः

प्रकाशः

वेदार्थरूप एव किन्तु श्रीभागवताद्यर्थरूपोपि, तेन तथेत्यर्थः. **नमस्तुभ्यमि**त्यत्र **ततः सर्वोत्तमोपी**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहु**र्यद्यपी**त्यादि. सुबोधिन्यामेतदर्थं सर्गलीलायां योजयन्ति **सर्गे**त्यादि **कथे**त्यन्तम्. एवं भगवच्छास्त्ररीत्या मूलरूपत्वमुक्तम्. श्रीभागवते "भूतमात्रेन्द्रियधियां जन्म सर्ग" इतिलक्षणाद् ब्रह्मण एवोपादानत्वात् कार्यरूपत्वमिति सा **कथै**तदन्ता निरूपिता. गुणवैषम्यमत्र पूर्वं नोक्तं श्रौतमत[१]सङ्कीर्णत्वादिति ज्ञेयम् ॥३९॥

---

१. °मस°.

फलरूपत्वं जगत्कर्तृत्वं च कथमुपपद्यते? तत्रा**हानन्तशक्तय** इति, अनन्ताः शक्तयो यस्य, तेन सर्वरूपोपि भवितुं शक्नोति. अनन्तशक्तित्वं गुणसङ्गाद् भविष्यतीत्याशङ्क्या**हागुणाये**ति, न विद्यन्ते गुणा यस्य. गुणसम्बन्धाभावे हेतु**रविकाराये**ति. विकारेषु सत्सु कारणत्वेन गुणा मृग्यन्ते. विकारा अत्र जन्मादयो दोषाश्च. तत्रापि हेतु**रप्राकृताये**ति; प्राकृतो हि विकारी दोषवांश्च भवति. **च**कारादप्राकृतत्वेऽसङ्गित्वं हेतुरुक्तः. विसर्गे तु ज्ञानमधिकारिविशेषणं, ज्ञानपूर्णो ब्रह्मा भवति, विविधज्ञानं सृष्ट्युपयोगि. एवं स्वरूपकार्योपयोगिविशेषणद्वयमुक्त्वा विसर्गरूपमाह **ब्रह्मण** इति, ब्रह्मात्र चतुर्मुखः. ततः सर्वकार्योत्पत्त्यर्थ**मनन्तशक्तय** इति. बन्धाभावा**यागुणाये**ति. दोषाभावा**याविकाराये**ति. स्वेच्छया सृष्टिव्यावृत्त्यर्थमा**हाप्राकृताये**ति. अनेन विसर्गे षड् गुणाप्युक्ता गुणत्रयं दोषत्रयाभावश्च. ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानि गुणाः बन्धदोषजडता दोषा भवन्ति त्रिविधाः ॥४०॥

जगद्रूपतां सहेतुकामुक्त्वा नमस्यन्ति **कालाये**ति.

कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।
विश्वाय तदुपद्रष्ट्रे तत्कर्त्रे तस्य हेतवे ॥४१॥

स्थानं हि द्विविधमुक्तं, शब्दमर्यादायां कालो नियामकः अर्थमर्यादायां

प्रकाशः

ज्ञानेत्यत्र **ब्रह्मरूपमि**ति वेदान्तवेद्यरूपं; तद् **विसर्गसहितं** पुरुषाद् ब्रह्मादीनामुत्पत्तिसहितम्. **तत्रापी**ति दोषभावे. द्वितीयपक्षे विसर्गस्य निरूपणीयत्वात् तत्प्रकटनार्थं पुनर्व्याकुर्वन्ति **विसर्गे त्वि**त्यादि. **स्वेच्छया सृष्टी**ति स्वाभाविकी सृष्टीत्यर्थः. **अनेने**ति विशेषणषट्केन ॥४०॥

कालायेत्यत्रोक्त्वा नमस्यन्तीति वदन्तो नमस्यन्ति. **स्थानं हि द्विविधमि**ति,

लेखः

कालायेत्यस्याभासे **जगद्रूपतामि**ति. एतत्कथनपूर्वकं नमस्कारो वाक्यार्थः, न त्वयं पूर्वानुवादः. व्याख्याने, **स्थानं ही**ति, **हि** यतः स्थितिरेव स्थानं स्थीयतेस्मि-

योजना

ज्ञानविज्ञाननिधय इत्यस्य विवृतौ **ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानी**ति– **ज्ञानविज्ञाने**त्यनेन ज्ञानं, **ब्रह्म**पदेन महत्त्वम्, **अनन्तशक्ति**पदेन सामर्थ्यमित्यर्थः. **बन्धदोषजडता** इति– **अगुण**पदेन बन्धाभावः, **अविकार**पदेन दोषाभावः, **अप्राकृत**पदेन जडत्वाभावः. एवं दोषत्रयाभावः पदत्रयेण निरूपितः ॥४०॥

भूमिरिति. तदप्याह– जगतो हि मूलकारणं कालः, भगवच्चेष्टारूपत्वात्. **कालो नाभौ** यस्येति सृष्टौ प्रयोजनमुक्तम्. मृत्युर्हि कालः, स स्वस्थाने तिष्ठति नाभिस्तस्य स्थानम्. मृत्युना भक्षिता हि मृत्योर्बहिःकृता मृत्युमन्तर्निवेश्य "मृत्युनैवेदमावृतमासीदि"त्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितम्. तेन **कालत्वेन** क्रियाशक्तिरुक्ता, **कालनाभ**त्वेन सृष्टिप्रयोजनमुक्तं, सृष्टिप्रकारमाह **कालावयवसाक्षिण** इति. कालावयवानां सर्वोत्पत्तिनिमित्तानां साक्षिणे –अनेन विश्वसृष्टौ क्लेशाभावोप्युक्तः. शब्दमर्यादायां तु **कालः** सूर्यः **कालनाभाः** शब्दाः सर्व

प्रकाशः

स्थानं नियमनं **द्विविधं** शब्देनार्थेन च. यद्यपि निबन्धे त्रिविधमुक्तं देशकालात्मभेदेन तथापि प्रकृते द्विविधमेव स्फुटमिति द्विविधमुक्तम्. तत्र **शब्दमर्यादायां कालो नियामको** यथास्थानं स्थापको**ऽर्थमर्यादायां भूमिः** शेषात्मिका ब्रह्माण्डरूपा तत्तत्साधनवतां तत्तद्देशनियामिकेति तत्कृतं नियमनं सिध्यतीति **तत्** सर्वम**त्राप्याहे**त्यर्थः. प्रथमतो जगन्मूलकारणत्वं व्युत्पादयन्ति **जगत** इत्यादि. **भगवच्चेष्टारूपत्वादि**ति "योयं कालस्तस्य तेव्यक्तबन्धो चेष्टामाहुरि"ति "सतोभिव्यञ्जकः काल" इति "पुरुषस्तदुपादानमि"त्यादिवाक्येभ्यः ज्योतिर्विद्भिस्तत्तन्मुहूर्त उत्पन्नानां कालबलेनैव भाग्याकृतिप्रभृत्यङ्गीकाराच्च. प्रयोजनमुपपादयन्ति **मृत्युर्ही**त्यादि. **मृत्युना** कालेन **भक्षिता**श्चराचरात्मकाः पदार्था **मृत्योः** सकाशाद् **बहिः** प्रकटिता "अशनाया"रूपं **मृत्युमन्तर्निवेश्य** "तदेतन्मृत्युनैवे"तिश्रुतावुक्तम्. श्रुतिस्तु काण्वानां बृहदारण्यकारम्भेऽग्निब्राह्मणेस्ति. प्रयोजनं मृत्योरन्तःप्रवेशः. **कालावयवानामि**ति निमेषादिवत्सरान्तानाम्. **अनेने**ति साक्षित्वकथनेन, साक्षिण

लेखः

न्निति च स्थानमेवं **द्विविधं स्थानं** पञ्चमस्कन्धे **उक्तमि**त्यर्थः. **शब्दे**ति, वेदोक्तकर्मप्रकारेण स्थितावित्यर्थः. **अर्थानां** शब्दप्रतिपाद्यानां पुरुषार्थानां **मर्यादा** जम्बूद्वीपतीर्थादिस्थानमित्यर्थः. **तदपीत्यपि**शब्देनैतस्य प्रासङ्गिकत्वं सूचितं; मुख्यतया वाक्यार्थस्त्वाभासोक्त एवेतिभावः. **मृत्युने**ति, कालस्य स्वस्थानस्थितिः

योजना

कालायेत्यस्य विवृतौ **शब्दमर्यादायामि**ति वेदोक्तमर्यादायां कालस्य नियामकत्वं, काले कर्मविधानादित्यर्थः. **शब्दमर्यादायामि**ति वेदमर्यादायामित्यर्थः. **कालः सूर्यः** इति– **कालाये**त्यनेन सूर्य उच्यते, कालभौतिकरूपत्वात् सूर्यस्येत्यर्थः. तत्रोपपत्तिस्तु **सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितमि**त्यनेन वक्ष्यत्यनुपदम्, अत एव

एव वेदाः **कालावयवसाक्षिणः** कर्माणि. सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितम्. वर्णा हि मात्रात्मकाः, तेन **काल** एव **नाभौ** येषामिति सर्वथा कालापेक्षा तेषामेव. "काले कर्म हि चोद्यत" इति **कालावयवसाक्षि**त्वं; कर्मणां नित्यत्वाय कालावयवस्य साक्षित्वमुक्तम्. विश्वकारणरूपत्वमुक्त्वा विश्वरूपत्वमाह **विश्वाये**ति. तस्य विश्वस्य त्रैविध्यं निरूपयन्नादावाधिदैविकरूपमाह **तदुपद्रष्ट्र** इति, तस्य विश्वस्योपद्रष्टा, आधिदैविकव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपेणैवासम्भवात्. **तत्कर्त्र** इत्याध्यात्मिकरूपं; स हि सर्वकर्ता. आधिभौतिकमाह **तस्य हेतव** इति. **हेतुः** कारणं भूतादि. अनेनार्थमर्यादापि निरूपिता– विश्वमेवार्थरूपः, तदुपद्रष्टा मोक्षरूपः, तत्कर्ता कामरूपः, तद्धेतुर्धर्मः ॥४१॥

प्रकाशः

उदासीनत्वात्. एवं जगद्धेतुत्वमुक्तम्, अतः परं स्थानं व्युत्पादयन्तस्तत्र शब्दमर्यादायां कालस्य कथं नियामकत्वमित्यतस्तदुपपादयन्ति **शब्दे**त्यादि. **तृतीय** इति, तृतीयस्कन्ध एकादशाध्याये [1]"ग्रहर्क्षताराचक्रस्थ" इत्यत्र **वर्णा** वैदिका **मात्रात्मकाः** प्रणवमात्रारूपो योऽकारस्तदात्मका, "अकारो वै सर्वा वागि"तिश्रुतेः. **तेन** त्रयीमयः **कालात्मा** सूर्यो **नाभावन्तर्येषामिति**हेतोर्वर्णव्यवस्थाप्रकटनार्थं **सर्वथा कालापेक्षा** वेदानामेवातो वेदाः **कालनाभाः. कालावयवस्ये**ति तन्मूलभूतकारणस्याकारस्य. एवं कालकृतनियमनमुक्तम्. **अनेनार्थमर्यादापि निरूपितेति**– त्रिविधविश्वरूपत्वकथनेनार्थकृता या मर्यादा तत्र तत्र तस्य स्थापनरूपा साप्यर्थबलान्निरूपितेत्यर्थः ॥४१॥

लेखः

प्रयोजनं, तदर्थं **मृत्युं स्वान्तर्निर्विश्य** प्रलये तदन्तःस्थिताः प्रजाः सृष्ट्या **बहिः** कृतवान् भगवानित्यर्थः. **मात्रात्मका** इति, ह्रस्वादिमात्राणां मूलत्वादिति भावः ॥४१॥

योजना

निबन्धे "सूर्यस्तस्याधिभौतिकमि"त्युक्तम्. **अनेनार्थमयदिति. अनेने**ति **विश्वाये**त्यादिपदचतुष्टयोपादानेनेत्यर्थः. **अर्थमर्यादापी**ति– वेदात्मकालौकिकशब्देन प्रतिपाद्या ये **अर्थाः** पुरुषार्था धर्मार्थकाममोक्षाख्यास्तेषां **मर्यादापी**त्यर्थः. पुरुषार्थान् प्रतिपादयन्ति **विश्वमेवार्थरूप** इत्यारभ्य **तद्धेतुर्धर्म** इत्यन्तेन. **तदुपद्रष्टा** इति, "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदि"तिश्रुतेः **उपद्रष्टृ**शब्दवाच्यस्य प्रत्यगात्मनो दर्शनं **मोक्षः.** मोक्षे च शुद्धाद्वैतस्फूर्तौ मोक्षरूपत्वम् उपद्रष्टुरुक्तम्. **तत्कर्ता काम** इति,

---

[1] ३।११।१३.

एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तद्भोक्तृसङ्घातजीवरूपत्वमाह. तत्र प्रथमं सङ्घातं निर्दिशति **भूतमात्रे**ति.

भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।
त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥४२॥

भूतानि मात्रा इन्द्रियाणि प्राणा मनो बुद्धिराशयश्चित्त**मात्मा**हङ्कारश्च– अयमेव हि सङ्घातः, एतद्रूपाय. जीवरूपश्चेत्याह– **त्रिगुणेनाभिमानेन गूढा स्वात्मानुभूति**र्यस्य. इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिः. स्वात्मानुभूतौ सत्यां जीवभावो विरुध्यत इति गुणैराच्छादनम् ॥४२॥

एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपत्वमुक्त्वा शब्दसृष्टिरूपत्वमाह **नमोऽनन्ताये**ति.

नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।
नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥४३॥

प्रकाशः

भूतमात्रेन्द्रियेत्यत्र. ननु पुष्टिरनुग्रहस्तथा चात्र तन्निरूपणाभावे क्रमो भज्येतेत्यत आहु**रियमि**त्यादि. **इयमु**भयरूपतैव **हि** यतो हेतो**र्भगवतः पुष्टिर**नुग्रहो **यद्** यस्माद्धेतोरुभयरूपत्वे**नामर्यादव्यवस्थया स्थितिः.** तथा चानेन प्रकारेणानुग्रहनिरूपणान्न क्रमभङ्ग इत्यर्थः ॥४२॥

नमोनन्तायेत्यत्र. ननु विश्वे निरूपिते तन्मध्यपातिशब्दसृष्टिरपि निरूपितप्रायेति पुनस्तन्निरूपणं किमर्थमित्यत आहू **रूपे**त्यादि. तथा च वैलक्षण्यात् तथेति

लेखः

नमोनन्तायेत्यस्याभासे **एवमि**ति, श्लोकचतुष्टयार्थस्यानुवादोयम्. शब्दस्यापि प्रमेयत्वात् पञ्चमश्लोके तथोक्तमतः कारिकासूक्तं पञ्चानामपि प्रमेयरूपत्वं

योजना

"सोकामयत बहुस्यां प्रजायेये"तिश्रुतेः कामस्यैव जगत्कर्तृत्वाभिधानात् ॥४१॥

इयमेव हि भगवतः पुष्टिर्यदमर्यादव्यवस्थया स्थितिरिति. **गूढस्वात्मानुभूतय** इत्यनेन भूताद्यात्मकस्यापि गूढस्वानुभवत्वमुक्तं, तच्च युक्तिविरुद्धमित्यमर्यादत्वं प्रदर्शितम्. मर्यादाविरोधो भगवत्कृतश्चेत् तदा पुष्टिकार्यत्वं तस्य. कश्चिद् जीवमनुगृहीतुमेव मर्यादाविरोधो भगवता क्रियते, अतो मर्यादाविरुद्धभगवत्कृत्या तत्कारणीभूता पुष्टिरनुमीयते. प्रकृते मर्यादाविरोधस्य **गूढस्वात्मानुभूतय** इत्यनेनोक्तत्वात् पुष्टिलीलानेनोक्तेत्यर्थः ॥४२॥

रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिर्विलक्षणा— अन्तवती रूपसृष्टि**रनन्ता** नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः **सूक्ष्मा** नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः **कूटस्था**विकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टि**र्विपश्चिद्** बोधरूपा नामसृष्टिः. एवं चतुर्धा वैलक्षण्यमुक्तम्. नन्वेवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसङ्गस्तत्राह **नानावादानुरोधाये**ति. सिद्धान्ततदाभास- तत्पाषण्डरूपा नानावादास्तेषामनुरोधो यस्य, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति. तत्रोपपत्तिमाह **वाच्यवाचकशक्तय** इति. **वाच्योर्थो वाचकः** शब्दः, उभयत्रापि **शक्तयो** यस्य. यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवार्थो भवति तं प्रति, सर्वस्यापि शब्दस्य. यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवास्मिन् शब्दे तदर्थं शक्तयो भवन्ति. ऊतिरत्र स्पष्टैव ॥४३॥

एवं सामान्यतो नामसृष्टिलीलामुक्त्वा विशेषमाह **नमः प्रमाणमूलाये**ति.

नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनये ।
प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥४४॥

वेदादयो हि प्रमाणं; तेषां यत् प्रामाण्यमादरणीयत्वं वा तद् भगवत्प्रतिपाद्यत्वेन भगवत्प्रतिपादितत्वेन च, अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, नित्यत्वेपि भगवद्व्यतिरिक्तत्वेऽप्रामाण्यं च स्यात्, नित्यता च न स्यात्. अतः **प्रमाणमूल**भूतो भवानेव. **कवये** तद्रसाभिज्ञाय, अनेन शब्दवक्ता शब्दरसाभिज्ञः शब्दरूपश्चोक्तः. शब्दोपादानकारणरूपश्चेत्याह **शास्त्रयोनय** इति, शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणम्. एवं निदानरूपत्वमुक्त्वावान्तररूपत्वमाह **प्रवृत्ताय निवृत्ताये**ति. वेदो हि द्वयं सम्पादयति— प्रवृत्तिं निवृत्तिं च; कुतश्चिन्निवर्तयति क्वचित् प्रवर्तयति. **निगम** आज्ञारूपो भवति. एवम्प्रकारेण **निगम**रूपो वेदरूपो वा. अनेन सद्धर्मा उक्ताः ॥४४॥

एवं वैदिकप्रमाणप्रमेयरूपतामुक्त्वा तदनाविर्भूतमित्याविर्भूतं भगवन्तं चतुर्मूर्तिं तन्त्रप्रकारयुक्तं निरूपयति **नमः कृष्णाये**ति.

नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥४५॥

कृष्णाय सदानन्दायेति स्वरूपमुक्तम्. अवान्तररूपत्वमाह ततो **रामाय** सङ्कर्षणाय, **वसुदेवसुताय** वासुदेवाय. **च**कारादस्य प्रद्युम्नरूपताप्युक्ता, **वसुदेव**शब्दस्य शुद्धसत्त्वे वसुदेवे च सङ्केतात्. **प्रद्युम्नायानिरुद्धाये**ति चतुर्मूर्तिर्भगवानुक्तः. सदानन्दो भगवांश्चतुर्मूर्त्या चावतीर्णो यदर्थं तदाह **सात्वतां पतये नम** इति, शुद्धसत्त्वानां परमवैष्णवानां पतिः भक्तिफलरूपो भक्तिप्रवर्तकश्च. अतोऽनेनेशानुकथा विष्णुभक्तिर्निरूपिता ॥४५॥

एवं तन्त्रन्यायेन भगवन्तं निरूप्य साङ्ख्ययोगादिभिः स्मार्तनिरूपितं भगवन्तं निर्णयेन निरूपयति **नमो गुणप्रदीपाये**ति.

नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।

प्रकाशः

भावः. **कूटस्थे**त्यस्यैव व्याख्यान**मविकृते**ति. **एवमि**ति ज्ञानरूपायाम्. **सर्वैरेवे**त्यादि, तथा च ये पाषण्डेनान्यथा वा भगवन्तं निरूपयन्ति तान् प्रति पाषण्डेनान्यथा च प्रकटीभवतीति न जगद्विलय इत्यर्थः. **ऊतिरत्र स्पष्टैवे**त्यस्मिन् श्लोके नानावादानुरोधकथनाद् वादनानात्वस्य च कर्मवासनयैव भवनात् तेन सा स्पष्टैवेत्यर्थः ॥४३॥

नमः प्रमाणमूलायेत्यत्र **भगवत्प्रतिपाद्यत्वेने**ति भगवान् प्रतिपाद्यो यस्मिंस्तत्त्वेन. **अन्यथे**त्याद्येतदुभयरूपत्वाभावे. तथा चाद्याभावे "सर्वे वेदा" इतिश्रुतिविरोधाद् द्वितीयाभाव "एकमेवाद्वितीयमि"ति श्रुतिविरोधाच्च तथेत्यर्थः. **अनेने**त्यादि, प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपत्वकथनेन मन्वन्तररूपा सद्धर्मा उक्ता इत्यर्थः ॥४४॥

नमः कृष्णायेत्यत्राभासे **तदि**ति तद्रूपमित्यर्थः. **अस्ये**ति वसुदेवसुतस्य ॥४५॥

नमो गुणप्रदीपायेत्यत्र **निर्णयेने**ति, ते हि सगुणं भगवन्तं वर्णयन्ति; तत्र

लेखः

सिद्धमिति भावः. व्याख्याने, **तत्पाषण्डे**ति स चासौ पाषण्डश्च; सिद्धान्तरूपो यः पाषण्डो बाह्यसिद्धान्त इत्यर्थः. सिद्धान्ताभासो मायावादादिः, यथाकथञ्चिद् वेदनिष्ठत्वात् ॥४३॥

नमः प्रमाणेत्यत्र **आदरणीयत्वमि**ति, द्वितीयस्कन्धोक्तप्रमाणलक्षणमनुसृत्याबाधितत्वं नित्यत्वमित्यर्थः. प्रमाणं मूलं यस्येतिव्युत्पत्त्या भगवान् प्रतिपाद्यो यत्र तादृशत्वं प्रमाणानां, प्रमाणेन भगवज्ज्ञानं भवतीति यावत्. प्रमाणस्य मूलमिति व्युत्पत्त्या भगवत्प्रतिपादितत्वं तेषां; प्रमाणभूतो मूलभूतश्चेतिव्युत्पत्त्या भगवद्रूपत्वं तेषामिति विवेकः. **अन्यथा तदि**ति, नित्यत्वरूपं प्रामाण्यमित्यर्थः. **अप्रामाण्यं चे**ति, सामान्यतः प्रमाजनकत्वं च न स्यादित्यर्थः. **अनेने**ति विशेषणद्वयेनेत्यर्थः. कर्मधारयपक्षमेवानुसृत्य **मूल**त्वेन शब्दवक्तृत्वं **प्रमाण**त्वेन शब्दरूपत्वं **कवि**पदेन तद्रसाभिज्ञत्वं च निरूपितम् ॥४४॥

नमः कृष्णायेत्यस्याभासे **वैदिके**ति वेदप्रकारयुक्तामित्यर्थः. व्याख्याने, **चकारादि**ति; प्रद्युम्नोप्ययमेव न तु सङ्कर्षणवद् रूपान्तरमपीति **च**कारेण सूचितमित्यर्थः. **शुद्धसत्त्वानामि**ति, **सात्व**त्पदस्यार्थद्वयमभिप्रेत्यात्र पदद्वयमुक्तम्. भक्तेः फलं "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्योक्तं ज्ञानमित्यर्थः ॥४५॥

गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्ट्रे स्वसंविदे ॥४६॥

भगवान् सगुण इत्यस्यायमर्थो– गुणान् प्रकर्षेण **दीपयति** तत्प्रकाशनार्थमेव गुणान् स्वनिकटे स्थापयति. ततो गुणान् प्रकाशयन् गुणानां माहात्म्यख्यापनाय **गुणैरात्मनश्छादनं** येन, गुणैरात्मानं छादितवान्; गुणेषु स्वतेजो दत्वा स्वयं तिरोहितो जात इत्यर्थः. ततः पुनः कौतुकार्थं **गुणानां** या **वृत्तय**श्चाक्षुषज्ञानादयस्तै-**रुपलक्ष्यत** इति तथा. एवं सत्त्वरजस्तमोभावा उक्ताः. नन्वेतदपि किमिति करोति? तत्राह **गुणद्रष्ट्र** इति, गुणानां द्रष्टा, तान् दृष्ट्वा तेषामेवमुपकारं कृतवानित्यर्थः. तैः कृतस्तु स्वस्या(स्यो!)पकारो नास्तीत्याह **स्वसंविद** इति, स्वत एव संविद् यस्य; न तस्य ज्ञानं केनचिदुत्पाद्यते केनचित् नाश्यते वा. अतो गुणानां सच्चिदानन्दधर्माणां स्वयमेव तद्रूपेणाविर्भूतस्वरूपाणामुपकारार्थं सगुण इत्युच्यत इत्यर्थः ॥४६॥

एवं सगुणरूपत्वमुक्त्वा ज्ञेयं रूपं भगवन्तमा**हाव्याकृते**ति.

अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।
हृषीकेश नमस्तेस्तु मुनये मौनशीलिने ॥४७॥

अव्याकृते प्रकृतिपुरुषरूपे **विहारो** यस्य, **अव्याकृतो** वा केनाप्यज्ञातो **विहारो** यस्य, **अव्याकृतार्थं** वा **विहारो** यस्य, कपटमानुषभावं सम्पादयति यथा न कोपि जानात्विति. तस्याव्याकृतत्वे प्रमाणमाह **सर्वव्याकृतसिद्धय** इति, सर्वे ये व्याकृतास्तत्त्वानि ब्रह्माण्डानि च तदन्तर्वर्तीनि च तेषां सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च यस्माद्,

प्रकाशः

यथा भगवतः सगुणत्वं तन्निर्णयेन. **उपकारं कृतवानित्यर्थ** इति, तथा च गुणोपकारकतया सगुणत्वं, न तु गुणोपहिततयेति निर्णय इत्यर्थः सिध्यति. उपधानमाशङ्क्य परिहरन्ति **तैरि**त्यादि. **तद्रूपेणे**ति सत्त्वरजस्तमोरूपेण. इदं यथा तथा द्वितीयसुबोधिन्यां स्फुटं, "सद्रूपस्य मलं(गुणं!) सत्त्वं चिद्रूपस्य रज आनन्दरूपस्य तम" इति तत्रोपपादनात् ॥४६॥

लेखः

नमो गुणेत्यत्र **उपलक्ष्यते** इति, "गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानि"ति प्रकारेणोपलक्षणविधया ज्ञायते इत्यर्थः ॥४६॥

अव्याकृतेत्यत्र **अव्याकृतो विहारो यस्ये**ति पक्षे **विहारः** पुरुषेऽवतरणमित्यर्थः. तस्यैव ब्रह्माण्डोत्पत्तिहेतुत्वात् तस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिकारणत्वं न स्यादिति भावः. **अव्याकृतार्थमि**ति व्याकृतमिति भावे क्तः, तथा च स्वरूपस्याव्याकृतत्वार्थमज्ञापनार्थमित्यर्थः. **तस्ये**ति प्रकृतिपुरुषरूपस्य विहारस्य स्वरूपस्य

"अव्यक्तादीनि भूतानी"तिवाक्यात्. अन्यथा व्याकृतोत्पत्तिर्न स्यात्, कार्यस्य पूर्वावस्थातो वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्. एवमुत्पत्तिपक्षं निरूप्य ज्ञप्तिपक्षं निरूपयति **हृषीकेश नमस्तेस्त्वि**ति, हृषीकाणीन्द्रियाणि तेषामीशः प्रवर्तकः. प्रकृते भगवानेवं ज्ञापनार्थं स्वेन्द्रियाणि प्रवर्तयन्नुपस्थित इति साक्षात् तं नमस्यन्ति, तादृशीं वावस्थां प्रार्थयन्ति. तर्ह्यव्याकृतस्य ज्ञानं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह **मुनय** इति, मननमेव तत्र हेतुः. मुनयश्च द्रष्टारः, तद्रूपो भगवान्. किञ्च साधनान्तरमप्यव्याकृतस्य भगवतो ज्ञाने निरूपयन्ति **मौनशीलिन** इति, मौनमेव शीलं सहजः स्वभावो यस्य, "उपरतायां वाचि किञ्ज्योतिरि"तिप्रश्ने "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्ज्योतिरि"ति "वचस्युपरते प्राप्ये"तिवाक्याच्च. तदेकं भगवत एवाव्याकृतं रूपं यत्रैव "यस्यामतं तस्य मतमि"त्यादिवाक्यानि सम्बध्यन्ते ॥४७॥

प्रकाशः

अव्याकृतेत्यत्रान्यथेति– कारणस्य व्याकृतत्वे. **एवं** [1]**ज्ञानार्थमि**ति कार्यवैलक्षण्यज्ञानार्थम्. **प्रार्थयन्ति अस्त्वि**तिपदेन प्रार्थयन्ति ॥४७॥

लेखः

चेत्यर्थः. आद्यस्य व्याकृतत्वे तत्त्वोत्पत्तिर्न स्यात्, द्वितीयस्य व्याकृतत्वे ब्रह्माण्डोत्पत्तिर्न स्यात्, तृतीयस्य व्याकृतत्वे देवतिर्यगाद्युत्पत्तिर्न स्यात् किन्तु तेषां मोक्ष एव स्यादिति भावः. **कार्यवैलक्षण्यस्यावश्यवाच्यत्वा**दिति सर्वत्र हेतुः. एवं व्याकृतोत्पत्तावव्याकृतत्वं हेतुरुक्तः, ज्ञप्तौ तु हृषीकेशत्वं हेतुर्वक्ष्यते. अत्र त्वव्याकृतमेव स्वरूपं स्वेच्छया ज्ञापितवानित्याहुः **प्रकृते** इति. **साक्षादि**ति, **ते** इत्यस्यार्थोयम्. **तादृशीमि**ति नमनयोग्यामिन्द्रियप्रेरणावस्थामित्यर्थः. **अस्त्वि**ति प्रार्थनायां लोट्. **तर्ही**ति व्याकृतज्ञापनार्थं हृषीकेशत्वे सतीत्यर्थः. अव्याकृतस्येन्द्रियैस्तत्पतिप्रेरितैर्ज्ञापनाभावे वस्तुसत्तैव न सिध्येदिति भावः. **मननमेवे**ति **एव**कारेण भगवत्पतिकानीन्द्रियाणि व्यावर्त्यन्ते. **मुनयश्चे**ति **च**कारोर्थविशेषे यत इत्यर्थे. **तद्रूप** इति, **भगवाने**व मुनिरूपः सन्नात्मानं पश्यति, तेनाव्याकृतत्वमपि न हीयते वस्तुसत्ता च साधितेति भावः. एवमग्रिमविशेषणेपि **स्वभावो यस्ये**त्यनेन मत्वर्थ एव विवृतः. **तदेकमि**ति सर्वोत्पादकं सर्वज्ञापकं चाज्ञेयमक्षरं **भगवत एव रूपं** –पूर्वोक्तप्रकृत्यादेर्भिन्नत्वशङ्कापरिहारायेदमुक्तम्. **यत्रैवे**ति अक्षर एवेत्यर्थः. पुरुषोत्तमस्तु "भक्त्या मामभिजानाती"तिवाक्याद् ज्ञायत एवेति भावः ॥४७॥

---

[1] °ज्ञापना°.

शास्त्रार्थरूपश्चैको भगवान् पण्डितव्यवहार्यः, तमाह **परावरेति**.

परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।
अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रे तस्य हेतवे ॥४८॥

परे ब्रह्मादयः, **अवरे**ऽस्मदादयः, तेषां सर्वेषामेव **गतिं** व्यवस्थां जानातीति, शास्त्रेण ह्युत्पाद्यते यद् ज्ञानं तदेतादृशं भवतीति. एवं बहिर्ज्ञानमुक्त्वान्तर्ज्ञानमाह **सर्वाध्यक्षाये**ति, सर्वेषामध्यक्षः साक्षी. अतस्तं प्रत्यक्षेण नमन्ति **ते नम** इति. तेषां प्रतिपाद्यरूपं सङ्ग्रहेणा**हाविश्वाये**ति. विश्वव्यतिरिक्तो विश्वरूपश्च, विश्वरूप एव सन् विश्वव्यतिरिक्तश्च, यथा वृक्षः काष्ठादिरूप एव सन् फलरूपोपि. **च**कारादुभयमुभयत्र. अनेन केचन विश्वरूपं प्रतिपादयन्ति केचन तद्व्यतिरिक्तं, केचनोभयं, केचित् पुनरेकदेशि(शे!)न इति. किञ्च **तद्द्रष्ट्रे** तस्य रूपस्य द्रष्टा त्वमेव. अने**नाविश्व**पक्षे प्रमाणमुक्तम्. **विश्व**पक्षेपि प्रमाणमाह **तस्य हेतव** इति, तस्य विश्वस्य कारणरूपोपि. कारणात्मकतैव कार्यस्येति प्रमाणता. एवं निरोधमुक्त्याश्रयाः क्रमादेतैरेवोक्ताः ॥४८॥

प्रकाशः

परावरेत्यत्र **तेषामि**ति शास्त्राणाम्. ननु भवत्वेवं, गुणप्रकाशत्वादिना गुणार्थत्वमव्याकृतविहारतादिना चावतारकृत्त्वं परावरगतिज्ञत्वादिना चान्तर्यामित्वं, तथापि निरोधमुक्त्याश्रयाणामत्रास्फुटत्वाल्लीलाभिर्दशविधत्वं कथमित्यत आहु**रेवं निरोधे**त्यादि. **नमो गुणे**त्यत्र सगुणोपकारकतया निरोधः, **अव्याकृते**त्यत्र तादृशविहारतया स्वरूपावस्थानतया मुक्तिः, **परावरे**त्य**त्राविश्वाये**त्यर्धश्लोकोक्तरीत्या ज्ञानाधारत्वेन क्रियाधारत्वेन चाश्रय –इत्येवंक्रमादेतैरेव श्लोकैरेता उक्ता इति

लेखः

परावरेत्यस्याभासे **शास्त्रार्थरूप** इति शास्त्रप्रतिपाद्यं रूपं यस्य. पूर्वमज्ञेयं रूपमुक्तं, शास्त्रज्ञेयमप्येकं रूपमस्ति तदत्रोच्यत इत्यर्थः, अक्षरस्य रूपद्वयमज्ञेयं ज्ञेयं चेति. एकदेशिमतमिदं, "न भेदादिति चेत् न प्रत्येकमतद्वचनादि"ति. व्याख्याने **शास्त्रेण हीति**. **हि** यतः **शास्त्रेण यस्य** रूपस्य **ज्ञानमुत्पाद्यते त**द्रूपं परावरगतिज्ञं सर्वप्रेरकं च **भवति,** शास्त्रं परावरगतिज्ञत्वप्रकारेणान्तर्यामित्वप्रकारेण च ज्ञानमुत्पादयतीत्यर्थः. **एवमि**ति. बहिःस्थितस्य भगवद्ज्ञानं परावरमर्यादास्थापकत्वेन "मद्भयाद् वाति वातोयमि"त्यादिवाक्येभ्यः, अन्तःस्थितज्ञानं सर्वप्रेरकत्वेन भवतीत्यर्थः. **अत** इति बहिरन्तर्ज्ञानविषयो यत इत्यर्थः. **तेषामि**ति शास्त्राणामित्यर्थः. **प्रमाणते**ति हेतुत्वस्येति शेषः ॥४८॥

एवं सर्वरूपेण नत्वा विज्ञापनार्थं प्रथमतोस्यापराधः तथा नास्तीति वक्तुं त्वमेव सर्वस्वभावानां बोधक इत्युपपत्तिमाहु**स्त्वं ह्यस्ये**ति.

त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोकृत कालशक्तिधृक् ।
तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥

त्वमेव ह्यस्य जगतो **जन्मस्थितिसंयमान् गुणैरकृत** कृतवान्, स्वय**मनीह** एव चेष्टामकुर्वन्नेव. तादृशस्य करणे हेतुमाह **कालशक्तिधृगि**ति, कालशक्तिं बिभर्तीति. यदैव भगवता कालशक्तिरधिष्ठिता तदैव गुणक्षोभं करोति सिंहासनस्थितपुत्रिका वायुमिव. ततः सर्वाण्येव कार्याणि भवन्ति. गुणा उपादानं, कालो निमित्तं, स्वभावो नियामकः. तमाह **तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्नि**ति, तस्य तस्य वस्तुनः स्वभावास्तत्तत्कार्यनियामकास्तेषां प्रतिबोधश्च कालेनैव क्रियते, स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेण वा. एवं कुर्वन् **सतः समीक्षयेहसे** लीलां करोषि. तव कार्यद्वयम्– अनवतीर्णेनाक्षरे समारूढे कालशक्तिर्गुणाः स्वभावश्चोद्गता भवन्ति. ततः सर्वमेव जगद् भवति परमनेकविधम्. तस्मिन्नपि च जगति **सतः** सर्वस्यैव सन्मार्गस्य सतां च **समीक्षया** परिपालनपूर्वकं सम्यगवेक्षया लीलां च करोषि. तेन च तेषां सर्व एव पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्ति जगच्च रक्षितं भवति. न च पुनःपुनः कर्तव्यं पतति. तत्र हेतुमा**हामोघविहार** इति, न मोघो व्यर्थो विहारो यस्य. अनेनोभयत्रापि हेतुरुक्तः ॥४९॥

अस्य दुष्टस्वभावत्वे भगवतश्च शिक्षकत्वे हेतुमुक्त्वा कार्यमाह **तस्यैव तेमू**रिति.

तस्यैव तेमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।
शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुः सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥५०॥

यदा भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति तदा सर्वाण्येव शरीराणि भगवल्लीलौपयिकत्वाद् भगवत्तनवो भवन्ति. ते च त्रिविधाः– **शान्ताः** सात्त्विका **अशान्ता**

प्रकाशः

सुखेनैव दशलीलाभिरपि तथात्वं सिध्यतीत्यर्थः ॥४८॥

त्वं ह्यस्येत्यत्र **स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेणे**ति स्वभावाधिदैविकेन भगवद्रूपेण. **सत** इति द्वितीयाबहुवचनान्तम्. लीलाकरणमेव व्याकुर्वन्ति **तवे**त्यादि ॥४९॥

तस्यैव तेमूरित्यत्र. ननु मूढानां भगवद्विरोधित्वात् कथं तनुत्वमित्याश-

लेखः

त्वं ह्यस्येत्यत्र **हेतुमाहे**ति ईहाभावात् कारणमन्यमाहेत्यर्थः ॥४९॥

तस्यैवेत्यस्याभासे **कार्यमाहे**ति शिक्षाकार्यमित्यर्थः. व्याख्याने **द्वितीयसर्गे**ति,

राजसा विक्षिप्ता **मूढयोनय**स्तामसास्तवैव **तनवः**. द्वितीयसर्गप्रकारोऽत्रोपयुज्यते, दैत्यांशानां तत्रैवोपकार इति. मूढयोनिषु तथात्वमनुचितमित्याशङ्क्य **उत** इत्युक्तम्. तथा सति कथं भगवदवतारलीला? तत्राह **शान्ताः प्रियास्त** इति. **अधुनावितुः** पालकस्य **धर्मपरीप्सया** धर्मरक्षेच्छया **स्यातुः** स्थानेच्छोः. **शान्ता** एव सात्त्विका एव **प्रिया** न त्वतिरिक्ता उभयविधाः. ते हि नाशका उत्पादकाश्च. उत्पादका अप्यनभिमताः, अधिकभारजनकत्वात्. नाशकास्तु विरोधिन एव. अनेनोभयमपि कार्यमुक्तम् ॥५०॥

तथाप्यस्यापराधः सोढव्य इत्याहु**रपराध** इति.

अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।
क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥५१॥

यद्यपि साम्प्रतमन्याभिनिवेशस्तथाप्यस्मदादीनामपि भवानेव पतिरतोऽनवसरे कार्यकरणाद**पराधः** सोपि **सोढव्यः, स्वस्यैव प्रजाभिः** पालनीयाभिः **कृत** इति. अन्यथा पालकत्वं न स्यात्. कार्यनिर्वाहार्थं च **सकृदेव सोढव्यो** ज्ञापनार्थः स्वस्य प्रजाभिः कृतः. पुनरपराधे ज्ञात्वा करणात् मारणमेवोचितं, विरोधित्वात्. अत एव **क्षन्तुमर्हसि.** क्षमायामुपायान्तरमप्याह **शान्तात्मन्नि**ति, शान्त आत्मा यस्य.

सत्त्वनिधानत्वात् क्षोभाभावाद् दण्डेन कार्यस्य सिद्धत्वादग्रे प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च सोढव्यः. नन्वज्ञानात् कृतमिति कथमवगन्तव्यम्? ज्ञातकरणपक्षे तु सकृदपि न सोढव्य इत्याशङ्क्याहु**र्मूढस्ये**ति. स्वभावादेवायं सर्पयोनिस्तामसः, अतो मौढ्यात् **त्वां** न जानाति. अज्ञानात् कृतमकृतप्रायम् ॥५१॥

क्षमायां यत् कर्तव्यं तदाहु**रनुगृह्णीष्वे**ति.

अनुगृह्णीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।
स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥५२॥

अनुग्रहः कर्तव्यः. नन्वनुग्रहे को हेतुः? तत्राह **भगवन्नि**ति, तवैव गुणो हेतुभूतो न त्वस्य. तर्हि सर्वत्रैव प्रसादो भवेदित्याशङ्क्य निमित्तमाहुः **प्राणांस्त्यजती**ति. कृपावसरोयं, यथा कृपायां भक्त्यादिर्हेतुः एवं समयोपि, अत एव ग्रहणादिकाले सेवारहितायापि यथा दीयते तथा कृपा विधेयेत्यर्थः. **पन्नग** इति जीवमात्रमित्यल्पता दयायां हेतुः. नन्वल्पत्वादेव किमनेन जीवितेनेत्याशङ्क्याहुः **स्त्रीणामि**ति, **स्त्रीणाम**स्माकं **पति**रूपोयं; **प्राणः प्र**कर्षेण **दीयतां,** स्त्रीणां प्राणरक्षा सर्वथा कर्तव्येति. ननु स्त्रियोपि दुष्टाः, "शालावृकाणां हृदयान्येता" इतिश्रुतेरित्याशङ्क्याहुः **साधुशोच्याना**मिति. सत्यं दुष्टाः स्त्रियः परं स योनिदोष एव न तु जीवदोषः. अतः साधवस्तं जीवं शोचन्ति– कथमयं स्त्रीशरीरे पतित इति यत्र सर्वदा भयं पराधीनता मुक्त्यभावश्च. भवांश्च साधूनां परिपालकः, अतस्तेषां शोकाभावायास्मत्प्राणा रक्षणीया इति भावः ॥५२॥

ननु मुक्तिः सर्वेषामपेक्षितातः प्राणरक्षापेक्षया मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहु**र्विधेहि ते किङ्करीणामि**ति.

विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।
यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतो भयात् ॥५३॥

वयं ह्यात्मनिवेदनेनैव तव दास्या जाताः. तासां च स्वधर्मस्तवाज्ञापरिपालनं, यत**स्ते किङ्करीभिस्तवाज्ञयैवानुष्ठेयम्.** ततः किमत आह **यत्** तवोक्तं **श्रद्धयानुतिष्ठन् सर्वत** एव **भयान्मुच्यते.** मुक्तिस्तु तवाज्ञाकरणेनापि भविष्यति. एवमेव मुक्तौ

टिप्पणी

अपराधः सकृद् भर्त्रेत्यत्र, **यद्यपी**त्यादि. पालकत्वेन **साम्प्रतं** सात्त्विकेष्वेव कृपा, न राजसतामसयोरतस्तयोः स्वकार्यकरणे**ऽनवसर** इति तत्करण**मपराधस्तथापि** तयोरपि **भवानेव पति**रिति सोढव्य इत्यर्थः ॥५१॥

प्रकाशः

ङ्क्योतपदतात्पर्यमाहु**र्द्वितीयसर्गे**त्यादि. आसुरसर्गो द्वितीयसर्गो, "द्वौ भूतसर्गावि"त्यादिवाक्यात्. **तत्प्रकारो** ये तेष्वज्ञास्तेषु तेषु यः प्रकारो दुष्टस्वभावत्याजनरूपो**ऽत्र** मूढयोनिषु **युज्यते.** तत्र हेतु**र्दैत्ये**त्यादि, तथा च साम्प्रतं तत्समयाभावादयमेवोपयुज्यत इत्यर्थः. **उतेत्युक्तमि**ति विकल्पबोधकपदमुक्तम्. **अवतारलीले**ति दुष्टनिग्रहलक्षणा. **उभयमि**ति दुष्टनिग्रहः शिष्टपालनं च ॥५०॥

अपराध इत्यत्र **यद्यपी**त्यादेरर्थं टिप्पण्यामाहुः **पालकत्वेने**त्यादि. **ज्ञापनार्थ** इति स्वस्वभावज्ञापनार्थः ॥५१॥

लेखः

क्रीडार्थं जगत्करणप्रकार इत्यर्थः. उपसंहारे **उभयमपी**ति सद्रक्षा धर्मपरीप्सा चेत्यर्थः ॥५०॥

लेखः

अपराध इत्यत्र **अत एवे**ति, यतो भर्त्रा सोढव्यो भवति अत एव त्वं **क्षन्तुं** सोढु**मर्हसी**त्यर्थः. **उपायान्तरमि**ति, प्रजात्वं स्वनिष्ठं कारणमुक्तं, शान्तिरपि भवन्निष्ठा कारणान्तरमस्तीत्यर्थः. **कार्यस्ये**ति निग्रहस्येत्यर्थः ॥५१॥

विधेहि त इत्यत्र **आत्मनिवेदनेने**ति, आत्मनो निवेदनं दुःखितत्वज्ञापनं तेनेत्यर्थः ॥५३॥

दास्यमात्मनिवेदनं व्यर्थं स्याद् भक्तिरसश्चाननुभूतः स्यात्. अतोऽयं देय इति प्रार्थना ॥५३॥

ततो यत् कृतवांस्तदाह**इत्थमि**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ।
मूर्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥५४॥

एवम्प्रकारेण **सम्यगभिष्टुतो** **मूर्छित**मन्तःखिन्नं **भग्नशिरसं** बहिःखिन्न**मङ्घ्रिकुट्टनै**रेव **विससर्ज** स्वयं जले जलक्रीडामेव कुर्वन् पादप्रहारेणैव तं स्त्रीणां स्थाने प्रक्षिप्तवानित्यर्थः ॥५४॥

ततो यद् जातं तदाह **प्रतिलब्धे**ति.

प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालीयः शनकैर्हरिम् ।
कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् देवः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥५५॥

प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि **प्राणाश्च** येन. **प्राण**ग्रहणं बलार्थम्. मूर्छित''स्यार्धसम्पत्त्या'' इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनम्, अतः प्रतिलम्भः. **कालीय** इति प्रसिद्धः सद्बुद्धिहेतुः. **शनकै**रिति शीघ्रता सूचिता. **हरिमि**ति निर्भयत्वं स्वस्य जीवनाशा च. अतो वाक्यनिःसारणार्थं **कृच्छ्रात्** कष्टेन **सम्यगुच्छ्वसन्** यथाशास्त्रं **देव**रूपं गृहीत्वा **कृताञ्जलिः** सन्नाह ॥५५॥

॥ कालिय उवाच ॥

वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।
[१]स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥५६॥

स्वापराधं निवेदयति कृपार्थम्. **वयं** स्वभावत एव **खलाः** परोपद्रवकारिणो

प्रकाशः

प्रतिलब्धेत्यत्र **मूर्च्छितस्यार्धसम्पत्त्ये**ति, ''मुग्धेर्धसम्पत्तिः परिशेषादि''तितार्तीयीकसूत्रात् (ब्र. सू. ३/२/१०) तथेत्यर्थः. **शीघ्रता सूचिते**ति, यद्यपि **शनकैः**पदार्थो मन्थरता तथापि घटिकानन्तरं स्तुतिकृतौ बलाधिक्यस्य जातत्वाच्छनकैः स्तुतिकरणं न स्यात्. तथा चायं शनकैः करोतीतीन्द्रियप्राणप्रतिलम्भाव्यवहितोत्तरकालीनत्वं स्तुतौ प्राप्यत इति **शनकैः**पदेनैव स्तुतिकरणे शीघ्रता सूचितेत्यर्थः. **यथाशास्त्र**मित्यादि तु **कृताञ्जलि**पदतात्पर्यमुक्तम् ॥५५॥

---

[१] इदमर्धं श्रीसुबोधिन्यां नोपलभ्यते.

दुष्टस्वभावाः. तदु**त्पत्त्यैव सह**; उत्पत्तिशिष्टोऽयं दोषो न त्वागन्तुकः, अतः शिक्षा व्यर्था, अनिवर्त्यदोषत्वात्. सर्वथा मारणपक्ष उत्पादनमेव व्यर्थं स्यात्. तथापि शिक्षया कश्चन गुणो भविष्यतीत्याशङ्क्याह **तामसा** इति. तामसास्तु ज्ञानरहिताः. अनुसन्धाने विद्यमाने हि शिक्षणमुपकाराय भवति; तामसानां तु नानुसन्धानम्. किञ्च प्रत्युतापकार एव भवति यतो वयं **दीर्घमन्यवः.** अनेनैवं ज्ञापितं– मन्मारणेपि मदीयोन्योऽपकरिष्यति त्वत्सेवकेभ्यः पश्चाद्वा, तस्मादप्रतीकार्यदुष्टा वयमिति ॥५६॥

अस्माकमेवंरूपत्वे भवानेव हेतुरित्याह **त्वया सृष्टमि**ति.

त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।
नानास्वभाववीर्यौजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥

समुदायजननात् न दोषः. ब्रह्मणा सृष्टमित्याशङ्क्याह **धात**रिति, त्वमेव विधाता. ननु भगवत्कार्यं कथमेतादृशं? तत्राह **गुणानां विशेषेण सर्जनं** यत्र. तत्त्रैविध्यं सर्वत्रैव सम्बध्यत इति भेदान् गणयति– **नाना**विधाः **स्वभाव**दयो यस्मिन्निति. **स्वभावः** प्रकृतिधर्मो जीवगतः, **वीर्य**मिन्द्रियधर्मः, **ओजः** प्राणधर्मः, **योनि**र्मातृधर्मः, **बीजं** पितृधर्मः, **आशयो**न्तःकरणस्य –एते सर्व एव **नाना**विधाः प्रत्येकसमुदायाभ्यामनेकविधा भवन्ति. अत एव नानात्वं वैचित्र्यं च ॥५७॥

अस्माकं तु सर्वमेव तामसमित्याह **वयमि**ति.

वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युरुमन्यवः ।
कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥५८॥

चस्त्वर्थे, भौतिकाग्न्यादीनामपि सङ्ग्रहार्थं च. **तत्र** सृष्टौ. **भगवन्नि**ति सम्बोधनं ज्ञानार्थम्. **सर्पा जात्यैव उरुमन्यवः**. जातिस्वभावौ दुष्टौ निरूपितौ– गुणातीतावस्थया सात्त्विकावस्थया वा मायापरित्यागो भवति, सर्पाणां क्रोधवशानां च न तत् सम्भवति. अतः **कथं त्वन्मायां त्यजामः!** ननु दोषपरिज्ञाने कथं न त्यागः?

प्रकाशः

वयं खला इत्यत्र **तदि**ति दुष्टस्वभावत्वम्. **त्वत्सेवकेभ्य** इति चतुर्थी ॥५६॥

त्वया सृष्टमित्यत्र. नन्वेवं कृतौ वैषम्यदोषापत्तिरिति तत्परिहारमाहुः **समुदायजननात् न दोष** इति. सदसतोः समुदायस्यैकदैव जननात् तद्विभागाभावेनादोष इत्यर्थः. पूर्वमेकविधं सृष्ट्वा पश्चात् तत्रान्यथाकरणे हि तत् स्यादिति भावः ॥५७॥

लेखः

वयं खला इत्यत्र **तदि**ति खलत्वमित्यर्थः ॥५६॥

तत्राह **दुस्त्यजामिति**, त्वदीया मायास्मत्कृतैरुपायैः सर्वथा दुस्त्यजा. तर्हि त्यागार्थं भगवानेव किं न प्रार्थ्यते? तत्राह **मोहिताः स्वयमिति**, स्वयमेव मोहिताः, आत्मैव विमोहितः, अतः स्वहितापरिज्ञानात् त्यागार्थमपि न प्रयत्न इत्यर्थः ॥५८॥

तर्ह्यवश्यं भवद्भ्यो दोषोत्पत्तिसम्भवात् मारणीया एव भवन्त इति चेत्, तत्राह **भवान् हि कारणमिति**.

भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥५९॥

अस्माकमेवम्भावे **भवानेव कारणं**, "बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह" इत्यादिवाक्यान्यत्र प्रमाणमिति **हि**शब्द आह. एवं सति **तत्रानुग्रहं निग्रहं वा** यदुचितं **तन्नो**ऽस्मभ्यं **विधेहि.** अपराधः कृत इति निग्रहः कर्तव्यस्त्वया कारित इत्यनुग्रहः कर्तव्यः. ननु विरोधे शास्त्रार्थः को वा भवेत्? यद्यनेन दण्डः कृतः स्यात् त्वयानुग्रहः कर्तव्य इति तूचितम्, अथ भवानेव सर्वरूपस्तदा निग्रहस्य कृतत्वादनुग्रहः कर्तव्यः. अथ निग्रहोऽनुग्रहश्च कृतावाहोस्विन्न कृतावेतदुभयं **सर्वज्ञ**त्वाद् भवानेव जानाति, अतो यत् **मन्यसे तद् विधेहि.** शक्त्यभावस्तु तव नास्तीत्याह **जगदीश्वर** इति ॥५९॥

एवं श्रुत्वा यत् कृतं भगवता तदाह**इत्याकर्ण्ये**ति.

॥ श्रीशुक उवाच ॥

इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ।
नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।
स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥६०॥

वच एव श्रुतमर्थस्तु पूर्वमेव परिज्ञातः. यद्यपि प्रसादः कर्तव्यः, स्वकृतत्वात् पूर्वभावस्य स्तुतत्वाच्च, तथापि समयानुरोधेन प्रसादोऽन्यथा कर्तव्य इतिज्ञापनार्थ-

---

प्रकाशः

आकर्ण्येत्यत्र **प्रसादः कर्तव्य** इति, **प्रसादः** स्वधर्माविष्करणपूर्वकं स्थापनम्. **अन्यथा कर्तव्य** इत्यन्यथाकृतिस्तथा कृत्वान्यत्र स्थापनम्. ननु भगवत्स्थापितत्वाद्

लेखः

इत्याकर्ण्येत्यस्याभासे **यत्कृतमि**ति प्रकारान्तरेण प्रसादः कृत इति सार्धचतुष्टयश्लोकवाक्यार्थ उक्तः. एतद्वाक्यार्थस्त्वाज्ञात्रयकथनमुपसंहारे वक्ष्यते. व्याख्याने. **वच एवे**ति, अर्थस्य पूर्वमेव ज्ञातत्वात् न वाक्यत्वमिति भावः. **स्वकृतत्वादि**ति, तदपराधं विना तत्सदनाभिभवस्य स्वत एव कृतत्वादित्यर्थः. **पूर्व-**

माह **कार्यमानुष** इति. यत्र कार्यार्थमयुक्तं मानुषभावमपि प्रदर्शयति तत्रास्य भक्तस्यापि प्रसादान्यथाकरणं किं वक्तव्यं? न च तस्य बाधकशङ्कयान्यथा करोतीति शङ्कनीयं, यतो भगवानाज्ञापयति. हे **सर्प** गमनसमर्थ, **अत्र त्वया न स्थेयं, समुद्रं** गच्छ, **चिरं मा** –आज्ञात्रयम्. गमने प्रकारमाह **स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्य** इति, ज्ञातयो ज्ञातीया अपत्यानि दाराश्च तैराढ्य इति. यत्र क्वापि तव स्थितौ न कोपि प्रयास इति सूचितम्. इतो गमने हेतुमाह **गोनृभिर्भुज्यतां नदी**ति. अनेन त्वया नदी दूषितेति तस्याधिको दोषो निरूपितः ॥६०॥

"सर्पजात्युरुमन्यव" इतिवाक्यात् कदाचिद् वैष्णवान् पीडयिष्यतीति भगवानाज्ञान्तरमाह **य एतत् संस्मरेदि**ति.

य एतत् संस्मरेत् मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।
कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥६१॥

वैष्णवः सर्पेण न भक्षणीयएव **यः** पुनरेतावन्मात्रमपि **स्मरेत्** सोपि न **युष्मत्तो भयमाप्नुयात्.** एतत् तव निग्रहलक्षणं चरित्रमित्याह **तुभ्यं मदनुशासनमिति**– तुभ्यं त्वदर्थं मदीयं यदनुशासनमाज्ञा, एतावन्मात्रं वा सम्यक् स्मरणं ध्यान-

---

प्रकाशः

गरुडोऽत्र समायास्यतीत्यस्य बाधकशङ्कयायमन्यत्र प्रेषितो, न तु कार्यमानुषत्वादित्याशङ्कायामाहु**र्न चे**त्यादि. यस्मा**दाज्ञापयत्य**तः कार्यार्थमेव निस्सारणं, न तु गा(ग!)रुडशङ्काभावार्थं तन्निवृत्तिः, प्रकारान्तरेणापि निवृत्तत्वात् ॥६०॥

य एतदित्यत्र **यः पुनरि**त्यवैष्णवोपीत्यर्थः ॥६१॥

लेखः

भावस्येति सृष्टिभावस्येत्यर्थः. **अन्यथे**ति, अत्र स्थापनप्रकारादन्येन प्रकारेण समुद्रे स्थापयित्वा गरुडभयाभावसम्पादनेनेत्यर्थः ॥६०॥

य एतदित्यत्र. ननु **दीर्घमन्यु**पदतात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडाया उक्तत्वात् तत्समाधानार्थमत्र वैष्णवपीडाभाव एव वक्तव्यो न तु स्मरणमात्रेण सर्वेषां तद्भयाभाव इत्याशङ्क्याहुः **वैष्णव** इति. तत्र हेतुः **यः पुनरि**ति. तथा च कैमुतिकन्यायेन वैष्णवपीडाभाव एव समर्थितः. **दीर्घमन्यु**पदे तात्पर्यार्थत्वेन वैष्णवपीडोक्तेत्यत्रापि वाक्यतात्पर्यार्थत्वेन तदभाव उक्त इति भावः. परीक्षितस्तु न सर्पाद् भयं किन्तु ब्राह्मणात् जातमिति भावः. प्रथमपक्षे **मदनुशासनमित्यत्रानुशासनं** निग्रह इत्यर्थः. आज्ञयैव पीडाभावो भविष्यतीति तावत्कथनमनतिप्रयोजनमित्याशयेन पक्षान्तरमाहु**स्तुभ्यं त्वदर्थमि**ति ॥६१॥